जैन तत्त्व समीक्षा का समाधान

लेखक :
सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापू नगर, जयपुर-३०२०१५

प्रथम संस्करण :
११००

मूल्य :
बीस रुपये

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड, न्यू कॉलोनी, जयपुर में मुद्रित

प्रकाशकीय

आज हमें यह 'जैन तत्त्व समीक्षा का समाधान' ऐतिहासिक अनुपम भेंट पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री आज जैन समाज के पुरानी पीढ़ी के उच्चतम मूर्धन्य विद्वानों मे सर्वाधिक वयोवृद्ध विद्वान हैं। वृद्धावस्था में अस्वस्थ रहते हुए भी उन्होंने यह कृति अत्यन्त श्रम पूर्वक तैयार की है, यह स्वय ही उनकी बौद्धिक क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज से लगभग २० वर्ष पूर्व सन् १९६३ में जयपुर मे ही खानिया में पूज्य श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज के समक्ष ऐतिहासिक महत्वपूर्ण आगमिक विषयों पर एक लिखित चर्चा हुई थी, जो "जयपुर (खानिया) चर्चा" के नाम से इसी ट्रस्ट द्वारा सन् १९६७ मे प्रकाशित भी हो चुकी है। उक्त प्रकाशन के प्रकाशकीय के निम्न अश द्वारा उक्त चर्चा की तत्कालीन परिस्थिति का ज्ञान होगा, अत उद्धृत करता हूँ—

"जब इस काल में अध्यात्म को लेकर विद्वानो मे मतभेद बढ़ने लगा और इसकी जानकारी पूज्य श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके सघ को हुई, (उनके निकटवर्ती साधर्मी भाइयो से ज्ञात हुआ है) तब पूज्य श्री आचार्य महाराज ने अपने सघ मे यह भावना व्यक्त की कि यदि दोनो ओर के सभी प्रमुख विद्वान एक स्थान पर बैठकर तत्वचर्चा द्वारा आपसी मतभेद को दूर करलें तो सर्वोत्तम हो। उनके सघ मे श्री ब्र० से० हीरालाल जी पाटनी, निवाई और श्री ब्र० लाडमल जी, जयपुर शान्त परिणामी और सेवाभावी महानुभाव हैं। इन्होंने पूज्य श्री महाराज की सद्भावना को जानकर दोनो ओर के विद्वानों का एक सम्मेलन बुलाने का सकल्प किया। साथ ही इस सम्मेलन के करने मे जो अर्थ व्यय होगा, उसका उत्तरदायित्व श्री ब्र० से० हीरालाल जी, निवाई ने लिया। यह सम्मेलन २०-९-६३ से उक्त दोनो ब्रह्मचारियो के आमत्रण पर बुलाया गया था, जिसकी सानन्द समाप्ति १-१०-६३ के दिन हुई थी। प्रसन्नता है कि इसे सभी विद्वानों ने साभार स्वीकार कर लिया और यथासम्भव अधिकतर प्रमुख विद्वान प्रसन्नता पूर्वक सम्मेलन मे उपस्थित भी हुए। यद्यपि यह सम्मेलन २० ता. से प्रारम्भ होना था, परन्तु प्रथम दिन होने के कारण उसका प्रारम्भ २१ ता से हो सका, जो १-१०-१९६३ तक निर्बाध गति से चलता रहा। सम्मेलन की पूरी कार्यवाही लिखित रूप में होती थी, इससे किसी को किसी प्रकार की शिकायत करने का अवसर ही नहीं आया। इस सम्मेलन की समस्त कार्यवाही पूज्य श्री १०८ शिवसागर जी महाराज और उनके सघ के सानिध्य में होने के कारण बड़ी शान्ति बनी रही। इसका विशेष स्पष्टीकरण सम्पादकीय वक्तव्य मे पढ़ने को मिलेगा।

जैसा सम्मेलन के नियम से ज्ञात होगा, यह निश्चय हुआ था कि शका-समाधान पद्धति से लिखित रूप में पूरी चर्चा के तीन दौर रखे जायें। तदनुसार दो दौर तो श्री १०८ आचार्य महाराज के सानिध्य मे ही सम्पन्न हो गए थे। दोनों ओर से तीसरा दौर वहा सम्पन्न न हो सका। अतएव उसकी व्यवस्था परोक्ष रूप में करने की योजना स्वीकार की गई। प्रसन्नता है कि पिछले वर्ष के जून माह मे तीसरा दौर भी सम्पन्न हो गया है।

शका-समाधान पद्धति से लिखित रूप मे इस तत्त्वचर्चा का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। वस्तुत. देखा जाए तो यह तत्त्वचर्चा स्वय अपने मे एक जीवित इतिहास बन गया है।

वर्तमान विद्वानो मे आपस में मतभेद का मूल कारण क्या है इस तथ्य को समझने के लिए भी यह तत्त्वचर्चा बडी उपयोगी है। शका-समाधान के प्रसग से यत्र-तत्र बीच-बीच मे दोनो ओर से जो विचार व्यक्त किये गए हैं, उनसे आपसी मतभेद के मूल कारण पर सम्यक् प्रकाश पडता है। मैंने स्वय तत्त्वचर्चा मे सक्रिय भाग लिया है, इसलिए मैं इस विषय मे तत्काल इससे और अधिक लिखना वाछनीय नही मानता। अस्तु।"

उपरोक्त खानिया चर्चा के आयोजन का मूल कारण तो एक मात्र पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा यथार्थ मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, जो एक लम्बे काल से लुप्त प्राय सी हो रही थी उसको दृढता के साथ प्रतिपादित करने से अपनी पूर्व मान्यताओं को ही सच्चा मोक्षमार्ग मान लेने के मिथ्या हठ से उत्पन्न अनेक भ्रान्तियाँ थीं, जिनका दिग्दर्शन श्री पण्डित जी साहब ने उपरोक्त पुस्तक के सम्पादकीय मे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"ऐसी अध्यात्म विद्या प्रवण वीतराग वाणी परमागम का प्रधान अग अनादिकाल से बनी चली आ रही है। हमारा परम सौभाग्य है कि वह वाणी इस काल में पुन मुखरित हुई है। सोनगढ के अध्यात्म सत कानजी स्वामी तो उसके मुखरित होने मे निमित्त मात्र हैं। वह उनकी वाणी नहीं है, वीतराग वाणी है, शुद्धात्मा की अपनी पुकार है। कुछ भाइयों का कहना है कि कानजी स्वामी एकान्त की परूपणा करते हैं, वे व्यवहार को उठाते हैं, जबकि वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। निश्चय धर्म आत्मधर्म है, क्योंकि वह परमात्म स्वरूप है। ऐसी प्ररूपणा करते समय यदि यह कहा जाय कि यदि ऐसे आत्मधर्म को व्यवहार धर्म स्पर्श नहीं करता है, वह उससे सर्वथा भिन्न है तो ऐसी कथनी को व्यवहार धर्म का उठाना कैसे मान लिया जाय अर्थात् नहीं माना जा सकता है। हा यदि वे यह कहने लगें कि व्यवहार से देव-गुरु-शास्त्र की पूजा-भक्ति करना, स्वाध्याय करना, जिनवाणी का सुनना-सुनाना, अणुव्रत-महाव्रत का पालना इन सब क्रियाओं के करने की कोई आवश्यकता नहीं है, मोक्षमार्गी के ये होती भी नहीं है, तब तो माना जाय कि वे व्यवहार को उठाते हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट से प्रकाशित प्रतिक्रमण पाठ को हमने देखा है। उसमे यह भी निर्देश किया गया है कि जिसने जीवन पर्यन्त के लिये मद्य-मांस आदि का त्याग नहीं किया है, वह नाममात्र भी जैनी नहीं है। क्या यह व्यवहार की प्ररूपणा नहीं है। क्या इससे हम यह नहीं समझ सकते कि वे व्यवहार को उठाना नहीं चाहते, बल्कि उसे प्राणवान बनाने में ही लगे हुए हैं। प्राणवान व्यवहार ही मोक्षमार्ग का सच्चा व्यवहार है, ऐसी परमागम की आज्ञा है। उनकी पूरी कथनी और करनी पर बारीकी से ध्यान दिया जाय तो उससे यही सिद्ध होता है।

उन्होंने अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को छोडकर दिगम्बर परम्परा स्वीकार की और इस परम्परा में आने के वाद अपने को अव्रती श्रावक घोषित किया। एकमात्र उनकी यह घोषणा ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे मोक्षमार्ग के अनुरूप सम्यक् व्यवहार को जीवन मे भीतर से स्वीकार करते हैं। यदि वे एकान्त के पक्षपाती होते तो कह सकते थे कि मैं पर्यायदृष्टि से भी न गृहस्थ हूँ न मुनि हूँ, मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप आत्मा हूँ। वे जिस स्थिति में हैं उसे भीतर से स्वीकार तो करते ही हैं और यह जीव अन्तरात्मा बनकर परमात्मा कैसे वनता है, इस मार्ग का भी दर्शन कराते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो जो भी ज्ञानी मोक्षमार्ग का उपदेश देता है, वह दूसरे के लिये नही देता है। उसके अन्तरात्मा की पुकार क्या है उसे ही वह अपने को सुनाता है। दूसरे भव्य प्राणी उसे सुनकर अपना आत्महित का कार्य साध लें यह दूसरी बात है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वे अनेकान्त के आशय को समझते हैं और जीवन मे उसे स्वीकार करते हैं।

उनके विषय मे एक आक्षेप यह भी है कि वे पुण्य का निषेध करते हैं, पर हमें उन पर किया गया यह आक्षेप भी उपहासास्पद प्रतीत होता है। वस्तुत वे पुण्य का निषेध नही करते, किन्तु मुझे पुण्य का अर्जन करना है इस भाव का निषेध अवश्य करते हैं। उनका कहना है कि इस ससारी प्राणी को अर्जन करने योग्य यदि कोई वस्तु है तो वह आत्मनिधि ही है। किन्तु जव उसके अर्जन के उपायो का विचार करते हैं, उसकी कथा करते हैं, उसके अनुकूल क्रिया करते हैं तो पुण्य का अर्जन स्वयमेव हो जाता है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति पूजा का तथा अणुव्रत-महाव्रत के धारण का उपदेश शास्त्रों में पुण्य के अर्जन की दृष्टि से नही दिया गया है, किन्तु ये सब क्रियाएँ निश्चय मोक्षमार्ग के परिकर्मस्वरूप है, मात्र इसलिए इनका शास्त्रो में उपदेश दिया गया है। वे अपनी आगमानुकूल वाणी द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हैं।

एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि वे कार्य-कारण परम्परा मे वाह्य निमित्त को नहीं स्वीकार करते, किन्तु इसके स्थान मे स्थिति यह है कि वे भेदविज्ञान को जीवन का प्रधान अग वनाने की दृष्टि से कार्य-कारण परम्परा के निश्चय कार्य-कारण परम्परा और व्यवहार (उपचरित) कार्य-कारण ऐसे दो भेद करके निश्चय कार्य-कारण परम्परा ही यथार्थ कार्य-कारण परम्परा है, ऐसी घोषणा अवश्य करते हैं। साथ ही वे व्यवहार कार्य-कारण परम्परा का निषेध तो नही करते, परन्तु उसे विकल्पमूलक वतलाकर मोक्षमार्ग मे यह आश्रय करने योग्य नही है यह भी कहते हैं। वे अपने प्रवचनो में यह सर्वदा कहते रहते हैं कि प्रत्येक कार्य पाच के समवाय मे होता है। उनके इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रत्येक कार्य के प्रति अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर वाह्य सामग्री में निमित्तता (व्यवहारहेतुता) को स्वीकार अवश्य करते हैं, किन्तु यह व्यवहारहेतुता परमार्थस्वरूप नही है ऐसा यदि वे कहते हैं और इसे कोई उनके द्वारा वाह्य निमित्त की अस्वीकृति मानता है तो उसका इलाज नही। इतना अवश्य है कि जीवन में मोक्षमार्ग की सम्प्राप्ति स्वाश्रित उपयोग के वल से ही होती है, इसलिए वे सर्वप्रकार के पराश्रितपने का निषेध कर स्वाश्रितपने का ज्ञान अवश्य कराते रहते हैं।"

उपरोक्त शकाओ के निवारणार्थ ही उक्त खानिया चर्चा का आयोजन हुआ था और उक्त चर्चा में भाग लेने के लिए समाज के लगभग सभी मूर्धन्य उच्चकोटि के विद्वान उपस्थित थे और

आगम का अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार गहराई से अध्ययन करके अपने-अपने विषय को स्पष्ट करते थे। फलत: उक्त चर्चा का प्रकाशन अध्यात्मी एवं आत्मार्थी जीवों के लिए एक वरदान स्वरूप ऐतिहासिक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है। यह नितान्त सत्य है कि बिना उपरोक्त आयोजन के इतनी गंभीरता से आगम का अध्ययन होना कभी सम्भव नहीं था। इस चर्चा की विशेष बात यह थी कि उपरोक्त मूर्धन्य विद्वानों की मण्डली में पण्डित फूलचन्द जी के पक्ष को प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में मेरे अतिरिक्त एकमात्र पण्डित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री, कटनी ही और थे अर्थात् मात्र हम तीन व्यक्ति ही थे।

उपरोक्त चर्चा के तीनों दौर जो कि सन् १९६६ में ही समाप्त हो गए थे और जिस पूरी चर्चा का प्रकाशन बारीक टाइप में छपे हुए २० X ३०/८ की साइज में दो भागों में १२२४ पृष्ठों में हुआ था। इस समस्त चर्चा पर पर्दा डालने के लिए श्रीमान् पण्डित वंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना द्वारा १५ वर्ष के बाद "जयपुर तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" नामक पुस्तक लिखकर उसका प्रकाशन अपने ही द्वारा सन् १९८१ में करा दिया, जबकि उक्त खानिया चर्चा के तीसरे दौर में लिखने वाले भी स्वयं पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ही थे।

जब यह 'जयपुर तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' पुस्तक पं० फूलचन्दजी साहब के हाथ में आई तो उनको लगा कि सारी खानिया चर्चा के अमूल्य विषय के सम्बन्ध में भ्रम खड़े करने का यह दुष्प्रयास है, अत: इसका निराकरण होना ही चाहिए। उन्होंने अपने उपरोक्त विचार जब मुझ से कहे तो मैंने उनसे आग्रहपूर्वक निवेदन किया कि यह कार्य तो आप ही के द्वारा सम्भव हो सकता है। उनकी वृद्धावस्था के साथ शारीरिक अस्वस्थता होने पर भी यह भागीरथ कार्य करने की इस शर्त से मात्र स्वीकृति प्रदान की कि यह पुस्तक तैयार हो जाने पर इसको प्रकाशित करने का कोई आश्वासन देवे तो ही मैं यह कार्य प्रारम्भ करूँगा। फलत: मैंने अपने ट्रस्ट के तत्कालीन [illegible] स्व० श्री बापूभाई [illegible] मेहता से परामर्श किया। उन्होंने प्रकाशन के लिए उत्साहपूर्वक स्वीकृति प्रदान की। फलत: पण्डितजी साहब के द्वारा यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका।

इसके प्रकाशन में भी अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हुई। पण्डितजी द्वारा हस्तलिखित प्रति से प्रेस कापी तैयार कराने की तथा प्रेस कापी को पढ़ने की कठिनता ने बहुत समय ले लिया। इसके साथ ही पण्डितजी साहब की अस्वस्थता के कारण तथा प्रेस की गड़बड़ी के कारण भी बहुत समय लग गया। हमें सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि किसी भी प्रकार से यह पुस्तक पण्डितजी साहब की उपस्थिति में ही प्रकाशित हो जावे, क्योंकि पण्डितजी की शारीरिक स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती ही जा रही है। हमें प्रसन्नता है कि हमारा यह प्रयास सफल हुआ और यह प्रकाशन मात्र पण्डितजी साहब की उपस्थिति में ही प्रकाशित होकर आत्मार्थी बन्धुओं के हाथ में पहुँच रहा है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के संयोजक श्री [illegible], जो [illegible] के साथ ही [illegible] ने बहुत परिश्रम किया है, अत: दोनों बधाई के पात्र हैं। [illegible]

[illegible], .. अक्टूबर, १९..

नेमीचन्द पाटनी

मन्त्री, [illegible]

विषय सूची

प्रस्तावना

यद्यपि आगम को ध्यान मे रखते हुए (जो कि जैनधर्म का प्राण है, ऐसे अनेकान्त के अनुसार) निश्चय के साथ असद्भूत व्यवहार की सीमा को सुस्पष्ट करने के अभिप्राय से विद्वानो के मध्य शका-समाधान सदा से होता आया है। सोनगढ मे निश्चय की मुख्यता से प्ररूपणा की जाती है, इसलिए कतिपय विद्वान उससे सहमत न होने के कारण ई. सन् 1963-64 मे विद्वानो के मध्य नियमानुसार लिखित चर्चा हुई थी।

उस समय ये सोनगढ सिद्धान्तवादी विद्वान हैं, ये पुराण सिद्धान्तवादी विद्वान हैं – ऐसा कोई भेद उत्पन्न नही किया गया था। जो विद्वान निश्चयनय की प्ररूपणा परमार्थ है ऐसा मानकर सोनगढ का समर्थन करते थे उनमे हम मुख्य थे। किन्तु जो विद्वान असद्भूत व्यवहार की प्ररूपणा को भी भूतार्थ मानते थे उनमे आदरणीय स्व प मक्खनलालजी मुख्य थे। शेष विद्वान कोई इस ओर थे और कोई उस ओर थे। इतना अवश्य है कि असद्भूत व्यवहार की प्ररूपणा को भूतार्थ मानने वाले विद्वान अधिक थे।

हमारे जीवन मे आदरणीय स्व प मक्खन लाल जी के साथ ऐसे दो चार प्रसग उपस्थित हुए थे जिससे हम उनकी नीति के विषय मे पूरी तरह से परिचित होने के कारण इस अवसर पर (खानिया-तत्त्व चर्चा के समय) हमे सावधान रहना पडा।

(1) प्रथम प्रसग तो तब उपस्थित हुआ था जब षट्खण्डागम-जीवस्थान प्रथम पुस्तक के ९३ वें सूत्र मे लिपिकार की असावधानीवश "सजद" पद छूट गया था। अतएव मुद्रण के समय हमारी विशेष राय होने के कारण इस सूत्र के टिप्पणी में "सजद" पद और होना चाहिए यह स्पष्ट कर दिया गया था। साथ ही प्रूफ मैं ही देखता था, इसलिये मूल मे तो "सजद" पद नही जोड सके पर उसके अनुवाद मे "सजद" पद हमने जोड दिया था और वह मुद्रित भी हो गया। प्रथम सस्करण को उस रूप मे आज भी देखा जा सकता है। इस अवसर पर आदरणीय स्व प मक्खन लालजी शास्त्री और स्व श्री प रामप्रसाद जी शास्त्री कहते रहे कि इस सूत्र मे "सजद" पद नही होना चाहिये, क्योकि यह सूत्र द्रव्य मार्गणा का निरूपण करने वाला है। किन्तु हमारा यह स्पष्ट विचार था कि सर्वत्र आगम मे मार्गणाओ की प्ररूपणा भावनिक्षेप की अपेक्षा से की गई है, इसलिये इस सूत्र मे "सजद" पद अवश्य होना चाहिये। लेश्याओ की प्ररूपणा जैसे टीकाओ मे ही दिखाई देती है, मूल आगम मे नही, (चरणानुयोग को छोडकर करणानुयोग और द्रव्यानुयोग मे) वही स्थिति द्रव्य वेदो की भी है। इसका अर्थ यह नही कि इन दोनो अनुयोगो की अपेक्षा छठे आदि गुण-स्थानो को लेकर मोक्षमार्ग मे तीनो द्रव्यवेद ग्राह्य हैं। क्योकि जैसे पडक (द्रव्यवेद की अपेक्षा नपुसक) को छठे आदि गुणस्थानो मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय ग्राह्य नही मानते, वैसे ही द्रव्य स्त्री के भी पाचवें से आगे के गुणस्थान नही हो सकते, क्योकि एक तो उनके अन्तिम तीन सहनन ही होते हैं

यह श्वेताम्बर परम्परा भी स्वीकार करती है ।दूसरे वे वस्त्र का त्याग कर पुरुषो के समान निर्द्वन्द्व नही हो सकती । उनके चित मे पुरुषार्थहीनता बनी ही रहनी है । फिर भी उक्त विवाद इतना चला कि स्वर्गीय आचार्य शान्तिसागरजी महाराज भी इस विवाद मे घसीट लिये गये और जिन विद्वानो का यह कहना था कि ९३ सूत्र मे "सजद" पद नही चाहिये, उन्होने महाराज से भी यह घोषणा करा दी कि इस सूत्र मे "सजद" पद नही होना चाहिये ।

इसी प्रसग मे बम्बई की दिगम्बर जैन समाज ने दोनो ओर के विद्वानो को इसका निर्णय करने के लिए आमन्त्रित किया था । उनमे दूसरी ओर के विद्वानो मे स्व श्री प मक्खनलालजी शास्त्री, स्व श्री क्षुल्लक सूरसिंह जी तथा स्व श्री प रामप्रसादजी शास्त्री मुख्य थे । तथा 93 वें सूत्र मे सजद पद चाहिये इस पक्ष मे हम तो थे ही, साथ ही स्व मेरे गुरूजी प बशीधर जी न्याया-चार्य और श्री प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री मुख्य थे । शका-समाधान के रूप मे तीन दिन तक यह चर्चा चली । उस ओर स्व श्री प मक्खनलालजी शास्त्री लिखते थे व इस ओर से मैं लिखता था । जिस कापी मे उस ओर के विद्वान लिखते थे, उसी मे हम लोग भी लिखते थे । तीन दिन तक इसी प्रकार यह चर्चा चलो । अन्त मे समाज ने यह चर्चा यह कहकर कि हमने तीन दिन के लिए ही आम-न्त्रित किया था यह चर्चा बन्द कर दी । जिस कापी का हम दोनो उपयोग करते थे उसे गायब कर दिया गया । किसने उस कापी को रख लिया यह हम नही जानते । इतना हम अवश्य जानते हैं कि उस समय बम्बई की समाज उस ओर के विद्वानो के पक्ष मे थी । इस समय भी अधिकतर जैन समाज की वही स्थिति बनी हुई है । ऐसा क्यो है ? उसका कारण है, क्योकि वह अध्यात्मविषयक प्ररूपणा को एकान्त कहकर टाल देती है । वह असद्भूत व्यवहार क्रिया को ही परमार्थ मानती है ।

(2) दूसरा प्रसग तब प्रस्तुत हुआ था जब आ प श्री मक्खनलालजी शास्त्री ने अपने "जैन दर्शन" नामक पत्र द्वारा शास्त्रार्थ का हमे चेलेंज दिया था । उस चेलेंज मे मै तो था ही श्री प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और सम्भवत श्री प पन्नालालजी साहित्याचार्य भी थे । श्री प कैलाश चन्द्रजी शास्त्री ने अपने "जैन सन्देश" पत्र द्वारा उत्तर दिया या नही यह हमे मालुम नही । श्री प पन्नालालजी सा चुप रहे आये ऐसा लगता है । हमारे सामने यह प्रश्न अवश्य था कि उस चेलेंज को मैं स्वीकार करू या न करु, क्योकि उस समय हम आँख मीचकर अविवेक से सोनगढ़ के समर्थक माने जाते थे । अन्त मे मैने विचार किया था कि दोनो ओर के विद्वान हम सब एक ही धर्म मे आस्था रखते हैं और उसी आगम को स्वीकार करते हैं जिस आगम को माध्यम बनाकर इस चेलेंज को हमे स्वीकार करना है । हमारे सामने समस्या बहुत बडी थी । इस समस्या का समाधान सोचते समय हमे यह ख्याल आया कि हम मान्य प श्री मक्खनलालजी को यह क्यो न लिखें कि आप "जैनदर्शन" नाम का एक अखबार निकालते ही हैं । इस समस्या को उसी के माध्यम से चलने दिया जाय । आप भी अपने पक्ष को उपस्थित करें, और हम भी उस विषय मे आगम से जो समझते हैं वह लिखें । किन्तु उक्त पण्डित जी इस बातके लिए तैयार नही हुये। उन्होने हमें यह साफ लिख दिया कि हम अपने पत्र को आपके विचारो के प्रचार के माध्यम नही बनने देंगे । इसमे सन्देह नही कि समाज की गति-विधि को देखकर वे अपने विचार बनाते थे । आगम उनके लिए केवल असद्भूत व्यवहारनय के अनु-सार विचारो का प्रचार करने मे ही मुख्य था । उसी को वे सब कुछ मानते थे । निश्चयनय की

विवक्षा मे भूतार्थरूप मे आगम क्या कहता है इसकी ओर देखने की उन्हे चिन्ता कम थी । बहुजन समाज हमारे साथ रहे इस ओर उनका ध्यान विशेष था ।

(3) यह तीसरा प्रसग है जब मैं विवक्षित समाज के मतानुसार चलने वाले ब्र लाडमल जी के आमन्त्रण पर जयपुर खानिया तत्वचर्चा मे सम्मिलित हुआ था। यह चर्चा लिखित रूप मे ई सन 1963-64 मे सम्पन्न होकर सन् 1967 के फरवरी माह मे मुद्रित हुई थी । इस चर्चा मे हार-जीत की दृष्टि से यह चर्चा नही हुई थी । मात्र दोनो ओर के विद्वानो के लेखो का वह सकलनमात्र था । हमने यह कभी नही माना कि हमने जो लिखा उससे हमारी जीत हुई और दूसरा पक्ष हार गया, ये हल्के हैं । यह कोई हार-जीत की शर्त या चर्चा नही की गई थी । यह हमारी कोशिश अवश्य रही कि व्यवहारनय के विषय को नहीं छोडते हुए हम निश्चयनय के विषय की प्रतिष्ठा करे। उसी प्रकार दूसरे पक्ष का भी यह कर्तव्य था कि वह निश्चयनय के विषय को नही छोडते हुए व्यवहारनय के विषय की उपयोगिता बतलावे । इसमे कौन कितना सफल हुआ यह बात अलग है । पर हार-जीत के मुद्दे पर यह चर्चा नही हुई थी इतना स्पष्ट है । हार-जीत के मुद्दे पर मैं चर्चा करने के लिए तैयार भी नही होता । हार-जीत के मुद्दे पर चर्चा तो अन्य धर्म वालो से की जाती है, आपस मे नही ।

जो परस्पर की सम्मति से सामान्य नियम बनाये गये थे उनका उस ओर के विद्वानो ने अन्त मे अक्षरश पालन नही किया – यह शिकायत हमारी अवश्य बनी रही है । इससे हम यह नही समझ पाये कि यह लिखना उस ओर के सब विद्वानो के अभिप्राय हैं या केवल एक विद्वान का अभिप्राय है । यह सदा ही खटकने वाली बात है । हमने जो अपनी ओर से लेखो को माध्यम बनाकर लिखा है उसमे नियमो का अवश्य ध्यान रखा है । इस बात पर उस ओर विद्वानो को जो इस समय हैं उन्हे अवश्य विचार करना चाहिये । सार्वजनिक नियम भी इसी लिए बनाये जाते हैं कि उनका पालन उन नियमो से सम्बन्ध रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति करे ।

एक आक्षेप इस ओर के विद्वानों पर और खासकर हम पर यह किया जाता है कि हम सोनगढ के प्रतिनिधि प श्री नेमीचन्द जी पाटनी के दुराग्रह के सामने झुककर अपने उक्त प्रस्ताव को रचनात्मक रूप देने के लिए तैयार नही हुए । इसका परिणाम यह हुआ कि जो सभी प्रश्न व्याकरणाचार्य जी के अभिप्राय से उभयपक्ष सम्मत होकर दोनो पक्षो को समानरूप से विचारणीय थे वे पूर्व-पक्ष के बनकर ही रह गये ।" (समीक्षा पृ 6)

यह समीक्षा मे श्री प बशीधर जी व्याकरणाचार्य का लिखना है। वस्तु स्थिति क्या है इस पर हम सागोपाग विचार कर लेना चाहते हैं । हम उस बात के खण्डन-मण्डन मे नहीं जायेंगे जिसे इसके पहले व्याकरणाचार्य ने लिखा है । वे जिस दिन सामान्य नियम बनाये गये थे उस दिन आये भी नही थे । उसके दूसरे दिन वे चर्चा के समय ही हमे मिले थे । इसलिये यह सवाल ही नही उठता कि हम दोनो के मध्य शकाओ के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की चर्चा हुई थी । इस चर्चा का आयोजन भी व्याकरणाचार्य की ओर से नही किया गया था । चर्चा के लिए आमन्त्रण देने वाले विद्वान् ब्र लाड-मल जी और दूसरे ब्रह्मचारी थे । प्रबन्ध भी उन्होने ही किया था। यदि कभी पहले हम दोनो के मध्य ऐसी चर्चा हुई भी थी तो दूसरे दिन उन्होंने आकर विद्वानो के समक्ष यह प्रस्ताव रखना था

श्रौर उसके स्वीकार हो जाने पर दोनो श्रोर के विद्वानो को मिलकर प्रश्न तैयार करने थे।

किन्तु मध्यस्थ का चुनाव होने के वाद श्रा स्व श्री प मक्खनलाल जी ने छह प्रश्न रखे। वे हमे दिये भी गये। पर किसके ये प्रश्न हैं ऐसा हमारी श्रोर से पूछने पर हमें यह वतलाया गया कि अभी हमारी श्रोर के विद्वानो का चुनाव हो जाने पर हस्ताक्षर होते रहेंगे। तव हमारी श्रोर से यह कहा गया कि यदि श्रापकी श्रोर के विद्वानो मे प्रतिनिधि नहीं चुने गये हैं तो एक के हस्ताक्षर कराकर मध्यस्थ के द्वारा हम लोगो को दीजिये। तव दूसरी श्रोर के विद्वानो ने श्री स्व प मक्खनलाल जी के हस्ताक्षर करा दिये। जिस समय यह सव काम हो रहा था उस समय भी व्याकरणाचार्य वहाँ उपस्थित थे, पर वे चुप रहे श्राये, यह सव होने दिया। श्रव हमारे विषय मे कुछ भी लिखने श्रौर उसको पुस्तक मे छापने से क्या फायदा यह वही जानें। हम तो समझते हैं कि हमारे विषय मे मनगढत लिखकर व्याकरणाचार्यजी श्रपनी कमजोरी को ही प्रदर्शित कर रहे हैं या श्रपनी कमजोरी को ही प्रदर्शित करने के समान है। वस्तुत देखा जाय तो इस चर्चा मे व्याकरणाचार्यजी मुख्य नही थे। उसी श्रोर के दूसरे विद्वानो ने खानिया चर्चा के वाद ही श्रपना पिण्ड छुडा लिया श्रौर व्याकरणाचार्य तीसरे दौर से मुखिया वन गये। तीसरे दौर का वाचन भी दिल्ली मे उन्होंने कराया था। उस पर किसी दूसरे विद्वान के भी हस्ताक्षर हम देखते तो मान लेते कि इस लिखान मे दूसरे विद्वान (प्रतिनिधि विद्वान) भी सहमत हैं। हमारी श्रोर के विद्वानो पर तो यही छाप पडी है कि यह लिखान केवल व्याकरणाचार्य का ही है। वे ही श्रव समीक्षा के लेखक वन गये हैं।

फिर भी कोई कह सकता है कि यदि श्राप लोग ऐसा समझते थे तो उनके तीसरे दौर के कथन पर श्रापने लेखनी क्यो चलाई ? इस पर हमारा यह कहना है कि लेखनी हमारी श्रोर से इसलिए चलाई गई कि श्रसतप्रचार न होने पाये। हम समीक्षा का समाधान भी इसी श्रभिप्राय से लिख रहे हैं। यहाँ भी हार-जीत का सवाल नही है। सवाल श्रसतप्रचार को रोकने का है। वह रुके या न रुके, वह परमार्थ से हमारे हाथ मे नही है। जिनागम को यथावत्रूप से प्रस्तुत करना हमारा काम है।

इसी प्रसग से तीसरे या चौथे दिन की घटना को (नियम वनने के दिन से चौथा दिन, श्रौर चर्चा प्रारम्भ होने के दिन से तीसरा दिन) हम यहाँ व्याकरणाचार्य जी के समक्ष प्रस्तुत कर देना उचित समझते हैं। उस समय भी व्याकरणाचार्य जी वैठक मे उपस्थित थे। हुश्रा यह कि पहले दिन की शकाश्रो को जनरल वताकर उन शकाश्रो के श्राधार से लिखे गये लेखो को पूर्वपक्ष वताकर तीसरे दिन श्रपने (उस श्रोर के विद्वानो) द्वारा लिखे गये लेखो को प्रत्युत्तर लिखन का प्रयत्न नही करते। साथ ही उन्हें पढकर यह घोषणा भी की कि इस प्रकार हमारे द्वारा लिखे गये लेखो के श्राधार पर प्रथम दौर समाप्त हुश्रा। इसका श्रर्थ यह हुश्रा कि उस श्रोर के विद्वानो मे हार-जीत का ख्याल प्रारम्भ से ही था श्रौर उनकी यह इच्छा रही कि हम लोग किसी प्रकार दूसरी श्रोर के विद्वानो को पूर्वपक्ष वनाकर हम समाधानकर्ता वन जायें यह स्थिति हमारी श्रोर के विद्वानो ने उसी समय भाप ली थी। इसलिये विवश होकर हम लोगो का यह निर्णय लेना पडा कि हम इस चर्चा को पूर्वपक्ष कभी नही वनने देंगे। दूसरी श्रोर के विद्वानो के मन मे पूर्वपक्ष श्रौर उत्तरपक्ष समाया हुश्रा था, श्रतएव निर्णय लिया कि इन्हे पूर्वपक्ष वनाकर ही इस चर्चा को पूरी करेंगे। यही कारण है कि हमारी श्रोर से तीसरे या चौथे दिन के वाद

शकाएँ रखने का परिणाम ही नही हुआ। उनकी ओर से पूछा भी गया तो यह उत्तर दे दिया गया कि आगे विचार करेंगे। इससे ऐसा लगता है कि उस समय व्याकरणाचार्य जी सो रहे थे, क्योकि उन्होने यह सब होने दिया, अपने आदमियो को रोका नही। इसलिये जड मे वे ही थे ऐसा लगता है। आद-भाई नेमीचदजी पाटनी को दोष देने से क्या लाभ ? अपनी ओर देखना चाहिये। दूसरी ओर के विद्वानो की तरफ से विवश होकर हम यह सब लिख रहे हैं। वैसे भीतर की इस घटनाओ को कभी नही लिखते, पहले लिखा भी नही था, क्योकि सभी अपने हैं यह भाव हमे सदा बनाये रखना है। ऐसा किये बिना मोक्षमार्ग बनता ही नही। पक्ष-विपक्ष देखना समझदार आदमी का खासकर मोक्षमार्गी का काम नहीं इसे व्याकरणाचार्य जी भी समझते हो तो अच्छी बात होगी।

अन्तिम दौर की सामग्री व्याकरणाचार्य जी ने स्वय लिखकर हमारे पास भेजी थी, मध्यस्थ के मार्फत भी नही भेजी थी। हम समझते थे कि तीसरे दौर की सामग्री पढकर तथा उसे देखकर सशोधन करके साथ ही दूसरे विद्वानो के हस्ताक्षर कराकर हमारे पास भिजायेंगे, परन्तु दूसरे विद्वानो ने तो नियम का लाभ उठाकर इस चर्चा से पिण्ड छुडा लिया, मात्र व्याकरणाचार्य जी मुख्य बन गये। जबकि यह चर्चा सब विद्वानो के मध्य हुई थी, इसलिये समारोप भी उसी तरह होना चाहिये था। परन्तु ऐसा नही हुआ इसका सभी को आश्चर्य होना चाहिये।

(1) श्री व्याकरणाचार्य जी का यह कहना है कि "उपादान हमेशा (नित्य) द्रव्य ही हुआ करता है, वह पर्याय विशिष्ट होता है यह दूसरी बात है, लेकिन पर्याय तो कार्य मे ही अन्तर्भूत होती है, वह उपादान कभी नही होती। यह विधान उन्होने "जैनतत्व मीमासा की मीमासा" नामक पुस्तक के पृष्ठ 369 मे किया है।

"खानिया तत्वचर्चा और उसकी समीक्षा" नामक इस पुस्तक मे भी उन्होने इसी मत का समर्थन करते हुए इस समीक्षा को लिखा है। उदाहरणस्वरूप उनके द्वारा लिखे गये वाक्य हम यहा दे रहे हैं।

(2) जो परिणमन को स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमे परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान काय का आश्रय ठहरता है। निमित्त का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं–' जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणति मे जो मित्र के समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है (खा पृ 21)

(3) इसी पृष्ठ मे इसके फलितार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "इसप्रकार आगम मे जहाँ भी निमित्त-नैमित्तिक भाव को लेकर उपचारहेतु या उपचारकर्ता, व्यवहार हेतु या व्यवहार-कर्ता, बाह्यहेतु या बाह्यकर्ता गौणहेतु या गौणकर्ता आदि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं उन सबका अर्थ निमित्त कारण (सहकारीकारण) या निमित्तकर्ता (सहकारीकर्ता) ही करना चाहिये। उनका आरोपित हेतु (काल्पनिक हेतु) या आरोपकर्ता (काल्पनिककर्ता) अर्थ करना असगत ही जानना चाहिये।" (खा पृ 21)

(4) जो निमित्तो की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बलपर ही उत्पन्न हुआ करते है और जिन्हे वहा स्वप्रत्यय नाम दिया गया है। (खा पृ 25)

(5) "इस विषय मे हमारा कहना यह है कि जीव की मोक्षपर्याय स्वप्रत्यय पर्याय न होकर स्व परप्रत्यय पर्याय ही है । कारण कि मोक्ष का स्वरूप आगमग्रन्थों में द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म के क्षपण के आधार पर ही निश्चित किया जाता है ।" (समीक्षा पृ 26)

"आचार्य समन्तभद्र ने कालनय-अकालनय तथा नियतनय-अनियतनय इन नयो की अपेक्षा कार्य की सिद्धि बतलाई है, इसलिए सभी कार्यों का सर्वथा कोई काल नियत नही है । आदि (स पृ 45)

(6) "इस तरह कार्योत्पत्ति मे उपादान, प्रेरकनिमित्त और उदासीननिमित्त तीनो का अपना-अपना महत्व हैं । इनमे से उपादान का महत्व कार्यरूप परिणत होने मे है, प्रेरक निमित्तो का महत्व उपादान को कार्योत्पत्ति के प्रति तैयार करने मे है और उदासीन निमित्तो का महत्व कार्योत्पत्ति उद्यत उपादान को अपना सहयोग प्रदान करने मे है । यह भी ध्यातव्य है कि उपादान उसे कहते हैं जिसमे कार्यरूप परिणत होने की स्वभावत योग्यता विद्यामान हो । इसलिये ऐसा यहा समझना चाहिये कि प्रेरक निमित्त उपादान की उस योग्यता को कार्य रूप से विकसित होने के लिये प्रेरणामात्र करता है। (स पृ 14)

(7) "पूर्वपक्ष के मान्य दोनो निमित्तों के लक्षण सम्यक् हैं । इसका एक कारण यह है कि दोनो निमित्तो की उपादान की कार्य रूप परिणति मे अपने-अपने ढग से सहायक होनेरूप से यदि कार्यकारी मान लिया जाता है तो इससे कार्योत्पत्ति के अवसर पर उनकी निमित्तरूप से उपस्थिति युक्तियुक्त हो जाती है । (स पृ 15)

(8) कार्यकारणभाव एक तो उपादानोपादेयरूप होता है जो उपादान कारण और उपादेय कार्य मे पाया जाता है । इस उपादानोपादेयरूप कार्यकारण भाव की नियामक उपादान-कारण और उपादेय कार्य मे विद्यमान अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियां होती हैं । जो इस प्रकार हैं—

जिस वस्तु मे जिस कार्य की उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता) विद्यमान रहती है उस वस्तु की ही उस कार्यरूप परिणति हो सकती है और जिस वस्तु मे जिस कार्य की उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता) का अभाव रहता है उस वस्तु की उस कार्यरूप परिणति त्रिकाल में कभी नहीं हो सकती ।" (स पृ 15-16)

(9) दूसरा कार्य-कारणभाव निमित्त-नैमित्तिक भावरूप होता है जो निमित्तकारण और नैमित्तिक कार्य में पाया जाता है । इस निमित्त-नैमित्तिक भाव रूप कार्य-कारणभाव की नियामक भी निमित्त और नैमित्तिक कार्य मे विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां होती हैं ।" (स पृ 16)

(10) "परीक्षामुख सूत्र 3-63 की प्रमेयरत्नमाला टीका का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसमे जो "कुलालस्यैव कलश प्रति" के रूप मे दृष्टान्तपरक कथन है, उससे अवगत होता है कि उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारण भाव के समान निमित्त-नैमित्तिकभाव रूप कार्यकारणभाव भी होता है जिनकी उपयोगिता कार्योत्पत्ति मे हुआ करती है ।

इतना अवश्य है कि आगम मे निमित्तकारण दो प्रकार के बतलाये गये हैं। एक प्रेरक निमित्तकारण और दूसरा-अप्रेरक निमित्त कारण। इन दोनो निमित्त कारणो की कार्य के प्रति अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ भी आगम मे पृथक्-पृथक रूप मे निश्चित की गई है। (स पृ. 16)

(11) तात्पर्य यह कि जैनागम मे कार्योत्पत्ति की व्यवस्था इसप्रकार स्वीकृत की गई है कि उपादान (कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट पदार्थ) तो कार्यरूप परिणत होता है, परन्तु वह तभी कार्यरूप परिणत होता है जब उसे प्रेरक और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तो का सहयोग प्राप्त होता है। उसको प्रेरक निमित्तो का सहयोग प्रेरकता के रूप मे और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तो का सहयोग अप्रेरकता (उदासीनता) के रूप मे मिला करता है। इस तरह उपादान कारण प्रेरक निमित्त कारण और अप्रेरक (उदासीन) निमित्त कारण इन तीनो के रूप मे कारण सामग्री के मिलने पर ही कार्योत्पत्ति (उपादान की कार्यरूप परिणति) होती है। (स पृ 16)

(12) फिर भले ही यह मानता रहे कि उक्त अवसर पर कुम्भकार रूप प्रेरक निमित्त की उपस्थिति रहते हुए भी मिट्टी स्वय (अपने आप) अर्थात् कुम्भकार की प्रेरणा प्राप्त किये बिना ही अपने मे घट की उत्पत्ति कर लेती है और कुम्भकार वहा सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है। परन्तु उसकी यह मान्यता प्रमाणसम्मत नही है। (स पृ 19)

(13) उक्त पद्य (35) का अर्थ करते हुये उत्तरपक्ष ने लिखा है कि अन्य द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय के द्वारा इस प्रकार निमित्त है जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गति का निमित्त है। (त च - पृ 7) इसमे अपनी विवक्षित पर्याय के द्वारा इस अश का बोधक कोई पद पद्य मे नही है। यह पद्यार्थ से अतिरिक्त है जो अनावश्यक है। (स पृ 23)

(14) इस तरह 'नन्वेव इत्यादिक कथन से और उसमे पठित योग्यताया पद का साक्षात् पद विशेषण होने से निमित्तो की कार्यकारिता ही सिद्ध होती है जिसका निषेध उत्तर पक्ष करना चाहता है क्योंकि योग्यताया पद का साक्षात् तभी सार्थक हो सकता है जब निमित्तो को कार्य के प्रति कार्यकारी माना जाय। मालूम पडता है कि इसलिए नन्वेव इत्यादि कथन का अर्थ उत्तर पक्ष ने अपने वक्तव्य मे नही किया है। (स पृ 24)

(15) अब यदि उत्तरपक्ष की मान्यतानुसार जीव मे होने वाले क्रोध आदि परिणमनो की उत्पत्ति कार्यकाल की योग्यता के अनुसार मानी जावे और क्रोध आदि कर्मों के उदय को वहा पर सर्वथा अकिंचित्कर ही मान लिया जावे तो जिस जीव को वर्तमान समय मे क्रोधरूप परिणति हो रही है उसके पूर्व समय मे कारणरूप से क्रोधरूप परिणति हो उस जीवको स्वीकार करना अनिवार्य हो जायगा। इस तरह से अनादिकाल से अनन्त काल तक उस जीव की सतत क्रोधरूप परिणति होती रहनी चाहिए। अर्थात् उसमे न तो कभी मान, माया या लोभरूप परिणति होगी और न क्रोधरूप परिणति का सर्वथा अभाव होकर उसकी शुद्ध स्वभाव रूप परिणति ही कभी हो सकेगी। और यह स्वाभाविक योग्यता नित्य उपादान शक्ति के रूप मे पर्याय शक्ति जिसे कार्य काल की योग्यता कहा जाता है नही हो सकती है, क्योंकि पर्यायरूप होने के कारण उसे स्वाभाविक नही माना जा सकता है। इस विवेचन से प्रकट है कि नित्य उपादान शक्तिरूप द्रव्यशक्ति के रूप मे

कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यता का सद्भाव व उक्त अवसर पर अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तो का सद्भाव तथा बाधक निमित्तो का अभाव ये सभी वस्तु मे कार्योत्पत्ति मे साधक होते हैं। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के पूर्वोक्त कथन के अनुसार अनित्य उपादान शक्तिरूप पर्यायशक्ति विशिष्ट नित्य उपादान शक्तिरूप द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्ति मे साधक होने से अनित्य उपादान शक्तिरूप पर्यायशक्ति को भी कार्यकाल की योग्यता के रूप मे कार्योत्पत्ति की साधक माननी चाहिये।" (स पृ 28)

(16) यद्यपि इस विषय में दोनो पक्षों के मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहारनय के विषय को सर्वथा अभूतार्थ मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथचित अभूतार्थ और कथचित भूतार्थ मानता है, परन्तु यह प्रकृत प्रश्न के विषय से भिन्न होने के कारण उस पर स्वतन्त्र रूप से ही विचार करना सगत होगा। (स पृ 4)

(17) "जहाँ उत्तरपक्ष उस उपचार को सर्वथा अभूतार्थ मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथचित भूतार्थ और कथचित अभूतार्थ मानता है। इस पर भी यथावसर आगे विचार किया जायेगा।"
(स पृ 4)

(18) "दोनो पक्षो का कहना है कि उक्त कार्य के प्रति उपादान कारणभूत ससारी आत्मा मे स्वीकृत उपादान कारणता, यथार्थ कारणता और मुख्य कर्तृत्व निश्चयनय के विषय हैं और निमित्त कारणभूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म में स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनय के विषय हैं।" (स पृ 4)

(19) "परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्य के प्रति निमित्तकारण रूप से स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म को उस कार्य रूप परिणत होने और उपादान कारणभूत ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक भी न होने के आधार पर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर कार्यकारी मानता है।"
(स पृ 4-5)

(20) "पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने के साथ उपादान कारणभूत ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर अयथार्थ कारण उपचरितकर्ता मानता है।" (स पृ 5)

(21) "पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अभूतार्थ और ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानता है।"
(स पृ 5)

(22) "दोनों पक्षो के मध्य विवाद केवल उक्त कार्य के प्रति उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म की उत्तरपक्ष को मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्वपक्ष की मान्य कथचित अकिंचित्करता व कथचित् कार्यकारिता तथा कथचित् अभूतार्थ व कथचित् भूतार्थता के विषय मे है।" (स पृ 5)

(23) "उपर्युक्त दोनो बातो मे से प्रथम बात के सम्बन्ध मे विचार करने के उद्देश्य से ही खानिया तत्वचर्चा के अवसर पर दोनो पक्षो की सहमतिपूर्वक उपर्युक्त प्रथम प्रश्न उपस्थित किया गया था। इतना ही नही, खानिया तत्वचर्चा के सभी १७ प्रश्न उभयपक्ष की सहमतिपूर्वक ही चर्चा के लिए प्रस्तुत किये गये थे।" (स पृ 6)

(24) "पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रश्न को प्रस्तुत करने मे पूर्वपक्ष का आशय इस बात को निर्णीत करने का था कि द्रव्यकर्म का उदय ससारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गति-भ्रमण मे निमित्तरूप से अर्थात् सहायक होने रूप से कार्यकारी होता है या वह वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है व ससारी आत्मा द्रव्यकर्म के उदय का सहयोग प्राप्त किये बिना ही विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमण करता रहता है। उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष के इस आशय को समझता भी था, अन्यथा वह अपने तृतीय दौर के अनुच्छेद मे पूर्वपक्ष के प्रति यह नही लिखता कि "एक ओर तो वह द्रव्यकर्म के उदय को निमित्तरूप से स्वीकार करता है" परन्तु जानते हुए भी उसने प्रथम दौर मे प्रश्न का उत्तर न देकर उससे भिन्न नयविषयता और कर्त्ताकर्म सम्बन्ध की अप्रासगिक और अनावश्यक चर्चा को प्रारम्भ कर दिया।" (स पृ 7)

(25) "क्योकि पूर्वपक्ष जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है, विकार की कारणभूत बाह्य सामग्री को उत्तरपक्ष के समान अयथार्थ कारण ही मानता है।" (स पृ 7)

(26) "आगम वाक्य का यह अभिप्राय नही है कि दो द्रव्यो की मिलकर एक विभावपरिणति होती है, अपितु उसका अभिप्राय यही है कि एक वस्तु की विकारी परिणति दूसरी अनुकूल वस्तु का सहयोग मिलने पर ही होती है।" (स पृ 8)

(27) 'पूर्वपक्ष को मान्य निमित्त की कार्यकारिता ही सिद्ध होती है।" (स पृ 10)

(28) "उसमे उनका उद्देश्य उपादानकर्तृत्व और निमित्तकर्तृत्व का प्रकृत मे भेद दिखलाते हुए यह प्रकट करने का था कि द्रव्यकर्मोदय ससारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिपरि-भ्रमण मे उपादान कारणभूत ससारी आत्मा को सहायता मात्र करता है, संसारी आत्मा की तरह वह उस कार्यरूप परिणत नही होता।" (स पृ 12)

(29) "प्रेरक निमित्त वे हैं जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्य के कार्य मे निमित्त होते हैं और उदासीन निमित्त वे हैं जो चाहे क्रियावान द्रव्य हो और चाहे अक्रियावान द्रव्य हो, परन्तु जो क्रिया के माध्यम से निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्यो के समान अन्य द्रव्यो के कार्य मे निमित्त होते हैं।" (स पृ 12)

(30) "अनुकूल निमित्तो का सहयोग मिलने पर उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जब तक अनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त न हो तब तक उसकी (उपादान की) विवक्षित कार्यरूप परिणति न हो सकना यह निमित्तो के साथ कार्यों की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। तथा उपादान की कार्यरूप परिणति के अवसर पर निमित्तो का उपादान को अपना सहयोग प्रदान करना और उपादान जब तक अपनी कार्यरूप परिणित होने की प्रक्रिया प्रारम्भ नही करता तब तक उनका (निमित्तो का) अपनी तटस्थ स्थिति मे बना रहना यह निमित्तो की कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं।" (स पृ 13)

ये कतिपय वक्तव्य हैं जिन्हे व्याकरणाचार्य जी ने अपनी समीक्षा मे प्रस्तुत किये हैं। इनसे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं — एक तो उपादान-उपादेय के सम्बन्ध मे और दूसरी निमित्त-नैमित्तिक के सम्बन्ध। ये दो ही विवाद के मुद्दे पूर्व पक्ष ने बना दिये थे, क्योकि उनकी ओर से रखी गयी शकाएँ प्राय इसी दायरे की थी।

यहाँ सबसे पहले उपादान-उपादेयभाव के सम्बन्ध मे अनेकान्तस्वरूप जैन दर्शन की स्याद्वाद पद्धति को ध्यान मे रखकर उक्त वचनो का समुच्चय रूप मे समाधान करेंगे।

जैन दर्शन मे प्रमाण और नयदृष्टि मुख्य है। प्रमाण तो ज्ञानमात्र है, अनेकान्तस्वरूप जैसी वस्तु है उसे वह उसी प्रकार से जानता है। वह अपेक्षा को ध्यान मे रखकर विवेचन नही करता। इसलिये अपेक्षा से विवेचन करना नयदृष्टि का काम है। नयचक्र मे कहा भी है—

ज णाणीण वियप्प वत्थुअशसगहण।
त इह नय पउच्चइ णाणी पुण तेणणाणेहि॥

वस्तु के एक अश को ग्रहण करने वाला जो ज्ञानी का विकल्प होता है वह नय कहलाता है। उस ज्ञान से यह ज्ञानी है।

इसलिये नयविशेष का उल्लेख न कर जो प्रश्न नयदृष्टि से किया जायगा उसका उत्तर नयदृष्टि से ही दिया जायगा। भले ही पूर्वपक्ष ने नयविशेष का उल्लेख न कर मन मे नयदृष्टि को ध्यान मे रखे विना या नय विशेष का उल्लेख किये विना प्रश्न किया गया हो अतएव पूर्वपक्ष के प्रथम प्रश्न के उत्तर मे हमारी ओर से जो नयदृष्टि से उत्तर दिया गया था वह यथार्थ था। वहाँ नयविषयता का उल्लेख करना अनावश्यक कैसे हो गया ? ऐसा मालूम पडता है कि पूर्वपक्ष नयदृष्टि से दिये गये उत्तर को अपने प्रश्न का उत्तर न माने, तो उससे प्रश्न का उत्तर अनावश्यक नही हो जाता। यहा देखना यह चाहिए कि प्रश्न के उत्तर मे जो लिखा गया वह समीचीन है या नहीं, क्योकि जैनदर्शन में अधिकतर विवेचन नयदृष्टि को ध्यान मे रखकर ही किया गया है। भले ही पद-पद पर नयविशेष का उल्लेख न किया गया हो। हमारे पक्ष को तो आश्चर्य इसी बात का है कि यदि आपस के मतभेद को मिटाने के सम्बन्ध मे चर्चा करनी थी तो निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय मे चर्चा होनी चाहिए थी, क्योकि मूलरूप मे ये ही आपस में विवाद के विषय बने हुए थे। उनका निर्णय होने पर कर्म के उदय को चतुर्गतिभ्रमण का कारण किस दृष्टि से कहा गया है यह अपने आप फलित हो जाता है। पर निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय मे चर्चा न कर ऐसे प्रश्न सामने लाये गये जो सहज ही स्पष्ट हो जाते। इसका अर्थ है कि पूर्वपक्ष स्वय ही भूल मे रहा और समाधान पक्ष को भी ऐसी बातो मे उलझा दिया जिससे कभी भी विवाद समाप्त न हो सके। हमारा पक्ष भी उलझा रहा और आप का पक्ष भी उलझा रहा। हम जानते हैं कि पूर्वपक्ष का जो नेता था वह बहुत चतुर था। उसकी मनसा ही नही थी कि यह विवाद कभी समाप्त हो। विवाद समाप्त हो सकता था। यदि मूलमुद्दे को सामने रखकर विचार कर लिया जाता और विवाद को समाप्त करने की इच्छा होती। अस्तु

व्याकरणाचार्यने उपादान के दो लक्षण स्वीकार किये हैं जैसा कि उनके उक्त उद्धरणो से ज्ञात

होता है। एक तो वे नित्यपने की अपेक्षा मात्र द्रव्य को उपादान मानते हैं। (देखो उद्धरण न 14) दूसरे वे पर्याययुक्त द्रव्य को उपादान मानते हैं। (देखो उद्धरण 14) साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिये जब जैसे निमित्त मिलते हैं, उपादान से वह कार्य होता है, अतएव कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है। उनके लिखान मे हमे ये तीन मत दिखाई देते हैं।

यहा उनके प्रथम मत के विषय मे विचार करने पर प्रतीत होता है कि नित्यपने की दृष्टि से द्रव्य अन्य तीनो कालो मे एकरूप ही रहता है उसको उपादान स्वीकार करने पर वह कार्यरूप परिणत कैसे हो जाता है ? इसका इन्हें ही विचार करना चाहिए, क्योकि वे साथ ही यह भी लिखते जाते हैं कि उपादान ही उपादेयरूप होता जाता है।

द्रव्य का लक्षण है — **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् सद्द्रव्यलक्षणम्।** (त सू अ 5)

सत् का अर्थ है जिसमे उत्पादव्यय और ध्रौव्य ये तीनो पाये जायें और उसी को द्रव्य कहते हैं, इसका अर्थ है कि उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है और ध्रौव्य भी सत् है। ये तीनो "सत्" पने से अभिन्न हैं। उनमे विवक्षा भेद मे अद ध्रौव्य अन्वययरूप है, इसलिये तीनो कालो मे वह एकरूप रहता है, इस दृष्टि से वह नित्य है। उत्पाद और व्यय मे पर्यायि हैं। ये दोनो बदलते रहते हैं, अतएव अनित्य हैं। पर्याय को व्यतिरेकरूप इन्ही की दृष्टि से स्वीकार किया गया है। निष्कर्ष यह है कि सत् तीनो रूप हैं। अन्वय और व्यतिरेक रूप उन्हे ही द्रव्य कहा जाता है।

इस प्रकार यदि सत् की दृष्टि से विचार किया जाता है तो वह अन्वय और व्यतिरेकरूप होने से सत् अर्थात् पर्याययुक्त द्रव्य उपादान होता है। उपादान न केवल अन्वय (द्रव्यरूप) होता है और न केवल व्यतिरेक (पर्यायरूप) होता है। उपादान से अनन्तर समय मे जो उपादेय होता है वह भी न केवल अन्वयरूप होता है और न केवल व्यतिरेकरूप ही। अर्थात् जो उपादान होता है वह भी द्रव्य-पर्यायरूप होता है और जो अगले समय मे उपादेय होता है वह भी द्रव्य-पर्यायरूप होता है। इसका विचार अष्टसहस्री मे 10वी कारिका की व्याख्या करते हुए विशेष रूप से किया गया है। वह कारिका इस प्रकार है—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निन्हवे।
प्रध्वसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्तता व्रजेत्॥

प्रागभाव का अपलाप करने पर कार्यद्रव्य अनादि हो जाता है और प्रध्वसाभाव धर्म के प्रच्यव होने पर कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।

कार्य का आत्मलाभ के पहले नही होना प्रागभाव है। जो जैन कार्य से अव्यवहितपूर्व परिणाम को ही प्रागभाव मानते हैं उनके मत मे उस अव्यवहित पूर्व परिणाम के पहले अनादि पूर्व सन्तति मे कार्यद्रव्य का प्रसग प्राप्त होता है। वहाँ इतरेतर अभाव को स्वीकार करने पर यह कोई दोष नही आता। सो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि उसके अनन्तर परिणाम मे भी उसी से कार्य के अभाव की सिद्धि हो जाने से प्रागभाव की कल्पना किसलिये की जाती है। कार्य प्रागभाव

के अभाव स्वभाव है इसलिये प्रागभाव को माना जाता है, यदि ऐसा है तो इसप्रकार कार्य से अव्यवहित पूर्व पर्याय से रहित पूर्वोत्तर सम्पूर्ण पर्यायो मे कार्यस्वभावता कैसे नहीं प्राप्त होती ? इस लिए प्रागभाव अभाव स्वभाव की अपेक्षा अविशेष है। ऐसा होने पर भी कोई एक पर्याय ही कार्यरूप से इष्ट है, इतर परिणाम नही ऐसा मानना भी अभिनिवेषमात्र है।

सम्भवत तुम्हारा (जैनो का) यह कहना हो कि कार्य से पहले अव्यवहित पूर्वपर्याय कार्य का प्रागभाव है और उसी कार्य का प्रध्वस ही घटादि कार्य है। परन्तु इतरेतराभाव कार्य नही है जिससे कि तत्पूर्वोत्तर सकल पर्यायो मे घटपना प्राप्त होवें और पूर्वोत्तर सकल पर्यायो मे प्रागभाव और प्रध्वसरूपता है, क्योकि उन पूर्वोत्तर पर्यायों मे इतरेतराभाव स्वीकार किया जाता ह सो यह भी सुगत मत के अनुसार स्याद्वादियो की मान्यता प्राप्त होती है, क्योंकि इससे स्वमत का विरोध होता है। प्रागभाव अनादि है यह सुगत मत है, किन्तु ऐसा मानना पूर्व अनन्तर पर्याय मात्र घट का प्रागभाव है इस वात के विरुद्ध पडता है।

द्रव्यार्थिकनय से प्रागभाव अनादि है तो क्या इस समय मिट्टी आदि द्रव्य प्रागभाव है ? यदि ऐसा माना जाय तो प्रागभाव की अभावरूपता घट की कैसी बनेगी, क्योकि द्रव्य का अभाव होना असम्भव है। इसलिए कभी भी घट की उत्पत्ति नही हो सकेगी। यदि पुन पूर्व पर्याय की सभी अनादि सन्ततियाँ घट का प्रागभाव अनादि हैं ऐसा मत हो तो उस समय भी पूर्व अनन्तर पर्याय की निवृत्ति के समान उससे पूर्व की पर्याय की निवृत्ति होने पर घट की उत्पत्ति का प्रसग प्राप्त होता है। और ऐसा होने पर घट का अनादिपना प्राप्त होता है, क्योकि पूर्वपर्याय की निवृत्तिरूप सन्तान भी अनादि है।

यदि कहा जाय कि घट के अव्यवहित पूर्व सम्बन्धी पर्याय घट का प्रागभाव नहीं है, न मिट्टी आदि द्रव्यमात्र प्रागभाव है और न घट से पूर्व की समस्त पर्याय सन्तति ही घट का प्रागभाव है। तो क्या प्रागभाव है ? यह पूछे जाने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु प्रागभाव है। और वह कथचित् अनादि है तथा कथचित् सादि है यह स्याद्वाद दर्शन है। इसीलिए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में उपादान और उपादेय का यह लक्षण उपलब्ध होता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुद त चिय कज्ज हवे णियमा ।।

अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान है और अव्यवहित उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य नियम से कार्य है।

कारण-कार्य के विषय मे यह वस्तुस्थिति है। इसलिए समीक्षक महानुभाव व्याकरणाचाय ने नित्यपने की अपेक्षा नित्य द्रव्य को उपादान कहा है और उस आधार पर जो द्रव्य को अनेक योग्यता वाला मानकर निमित्तों के बल से आगे-पीछे जव जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार कार्य होने का विधान किया है, वह आगम न होकर मात्र उनकी मान्यता ही कही जा सकती है। वे अनेक स्थानो पर लिखते हैं कि आगम, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव से इसका समथन होता है। सो आगम तो

हम यहीं प्रस्तुत कर आये हैं। रही इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव की वात सो संशयज्ञान, विपर्यय ज्ञान और अनध्यवसायिज्ञान भी तो ज्ञान ही हैं। जैसे मृगमरीचिका मे मृग को पानी का अभाव होने से वह दौडता फिरता है, उसे पानी के दर्शन नही होते, वैसे ही इस ज्ञान को मृगमरीचिका के समान मानकर आगम प्रमाण को ही प्रमाण मानना चाहिये।

ऐसा हम क्यो लिखते हैं? क्या इससे यह आभास नही होता कि आप अपने को तत्वज्ञ मानते हो तो इस सम्बन्ध मे हमारा यही कहना है कि हमे अपनी अपेक्षा व्याकरणाचार्य को तत्वज्ञ मानने मे कोई आपत्ति नही, पर उन्हे नित्य द्रव्य को सम्यक् उपादान स्वीकार करने मे आगम प्रमाण उपस्थित कर इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि ज्ञान को प्रमाण मानना चाहिये था। आगम प्रमाण तो दिया नही और उसे न देकर मात्र उसका वहाना कर इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि को प्रमाण मानना कैसे सगत कहा जा सकता है? एक प्रमाण तो उन्होने प्रमेयकमलमार्तण्ड का देकर स्वय उसके आधार पर अनेकान्तस्वरूप द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को उपादान मान लिया है। किन्तु पूरी समीक्षा उन्होने नित्य-द्रव्य को उपादान मानकर लिखी है। इससे उन पर यदि हम ऐसा आरोप करें कि वे ऐसा लिखकर नैयायिक दर्शन के अनुसार ईश्वरवाद का समर्थन कर रहे हैं तो कोई अत्युक्ति नही होगी। यह वस्तुस्थिति है फिर भी हमारा काम है कि उनके सामने विचार के लिये विविध आगमो के अनेक प्रमाण उपस्थित करे। सम्भव है कि इससे उनका विचार बदल जाये और वे उन आगम प्रमाणो के प्रकाश मे जैनदर्शन के अनुसार ही लिखने लगें। वे अच्छे लेखक हैं, विचारक भी हैं, व्याकरणशास्त्र का उन्होंने पूरी तरह से अभ्यास भी किया है। जब वे जैनदर्शन को अपने लेखन का विषय बनाकर निश्चयनय-व्यवहारनय और उनके भेद-प्रभेदो को ध्यान मे रखकर लिखेंगे तो हम उनका और उनके द्वारा लिखे गये लिखान का स्वागत ही करेंगे। अब यहाँ उनके सामने हम उपादान के विषय मे और भी प्रमाण उपस्थित कर देना चाहते हैं।

दो प्रमाण तो हम पहले ही उपस्थित कर आये हैं। सम्यक् उपादान के विषय मे अन्य प्रमाण उपस्थित करते हुये स्वामी समन्तभद्राचार्य अपनी आप्तमीमासा मे लिखते हैं—

> कार्योत्पाद क्षमोहेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।
> न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षा खपुष्पवत् ॥

हेतु का नियम होने से क्षय (व्यय) कार्य का उत्पाद है। किन्तु वे दोनो लक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। जाति आदि के अवस्थान से वे दोनो आकाशफूल के समान सर्वथा अनपेक्ष नही हैं। इसकी अष्टसहस्री टीका मे इसे स्पष्ट करते हुए वतलाया है—

उपादान का पूर्वाकार से (पूर्व पर्याय से) क्षय (व्यय) होना कार्य का उत्पाद ही है, क्योकि उसमें हेतु का (एक हेतु का) नियम है। परन्तु जो उससे भिन्न है अर्थात् उत्पाद के लक्षण से अन्य है उसमें हेतु का नियम नहीं देखा जाता। जैसे अनुपादान के क्षय और अनुपादान के उत्पाद में से हेतु का नियम नहीं देखा जाता। इसलिये उपादान का क्षय ही उपादेय का उत्पाद है। और यह हेतु असिद्ध नही है, क्योकि कार्य के जन्म और कारण के विनाश मे एक हेतुपने का नियम अच्छी तरह से प्रतीत होता है। जो बौद्ध यह मानते हैं कि उत्पाद सहेतुक होता है और विनाश निर्हेतुक होता है, उनके उस मत का इससे निरास हो जाता है।

यदि कोई ऐसा माने कि उत्पाद और व्यय में सर्वथा अभेद ही है सो उसका ऐसा मानना समीचीन नही है, क्योकि उन दोनो को लक्षण की अपेक्षा देखा जाय तो वे दोनों कथंचित् भिन्न हैं। यथा कार्य और कारण का क्रम मे उत्पाद और विनाश कथचित् भिन्न हैं, क्योकि वे कथचित् भिन्न लक्षणो से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे सुख और दु ख भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होन से कथचित् भिन्न हैं, उसी प्रकार उत्पाद और व्यय भी कथचित् भिन्न हैं। यह हेतु अनेकात अथवा विरुद्ध दोष से दूषित नही है, क्योकि क्वचित् एक द्रव्य मे भी कथचित् भेदो के बिना भिन्न लक्षण से सबध रखने वाला होना असम्भव है। उन दोनो भेद को ग्रहण करने वाला प्रमाण पाया जाने से सर्वथा भेद नही है। यथा उत्पाद और विनाश कथचित् अभिन्न हैं, क्योकि उसमे अभेदरूप से स्थित पुरुष के समान जाति और सख्या पाई जाती है। पर्याय की अपेक्षा व्यय और उत्पाद भिन्न लक्षण वाले है, ध्रौव्यपने की अपेक्षा नहीं। पृथ्वी आदि सत् द्रव्य जातिरूप होने से, एकत्वसख्यारूप होने से, शक्तिविशेष रूप होने से और अन्वयरूप होने से वे एक हैं, क्योकि प्रत्यभिज्ञान से वैसा ही प्रतीत होता है। वही मिट्टी द्रव्य साधारण घट के आकार से नष्ट हुई। और कपाल रूप से उत्पन्न हुई ऐसा प्रतीत होता है, इससे कोई बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता। जो मैं सुखी था वही मैं दु:खी हू यह एक पुरुष मे जैसे प्रतीत होता है वैसे यहा भी समझना चाहिये।

इस कथन से भी हम जानते हैं कि उपादान का लक्षण केवल नित्य द्रव्यमात्र नही है, क्योकि जो पूर्व और उत्तर पर्याय में साधारण होता है उसी को सामान्यरूप द्रव्यात्मा कहते हैं। उस रूप से सभी वस्तुएँ उत्पन्न नहीं होती और न विनाश को प्राप्त होती हैं, क्योकि सामान्य स्वरूप का द्रव्य मे स्पष्ट रूप से अन्वय देखा जाता है। इसलिये उपादान का लक्षण सामान्य नित्य द्रव्य न होकर पर्याययुक्त द्रव्य ही हो सकता है। व्याकरणाचार्यजी ने खा त च पृ 369 मे जो यह लिखा है कि "पर्याय तो कार्य मे ही अन्तर्भूत होती है, वह उपादान कभी नही होती," यह यथार्थ नही है, क्योकि आगमप्रमाण से यह हम स्पष्ट कर आये हैं कि पर्याययुक्त द्रव्य ही उपादान होता है।

परीक्षामुख अध्याय तीन के सूत्र 16, 17 और 18 से भी यह तथ्य फलित होता है। सूत्र 16 मे अविनाभाव को दो प्रकार का बतलाया है सहभावनियम और क्रमभावनियम। जो सहचारी होते हैं, जैसे रूप और रस तथा व्याप्य और व्यापक, जैसे वृक्ष और सीसोन, इनमें सहभाव नियम अविनाभाव होता है यह 17सख्यक सूत्र मे बतलाया है साथ ही 18 सख्यक सूत्र मे यह बतलाया है कि पूर्वचारी और उत्तरचारी होते हैं, तथा जो कार्य और कारण होते हैं, उनमे क्रमभाव नियम अविनाभाव होता है।

कार्यकारणभाव का उदाहरण देते हुए उसकी टीका मे अग्नि और धूम्र को उदाहरणरूप मे प्रस्तुत किया है। इससे हम जानते हैं कि यहा गीली लकडी को ग्रहण न कर अग्निविशेष को ग्रहण किया है, अग्निविशेष से ही धूम्र को जन्म मिलता है, अग्निसामान्य मे नहीं। इसी बात का समर्थन प्रमेयकमलमार्तण्ड के इन सूत्रो के ऊपर लिखित टीका से भी होता है।

यह क्रमभाव नियम अविनाभाव कार्य-कारणभाव मे तभी बन सकता है, जब उपादान को भी पर्याययुक्त द्रव्य स्वीकार कर लिया जाय और उपादेय को भी पर्याययुक्त द्रव्य स्वीकार

कर लिया जाय । आगम के अनेक वचनो से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है । यदि नित्य द्रव्य को उपादान स्वीकार किया जाता है वह नित्य होने से सदा ही एकान्त से अपरिणामी बना रहेगा, वह स्वय कार्यरूप कैसे परिणमेगा और व्याकरणाचार्य जी के मत से उपादान तो नित्य हो और उससे होने वाली पर्याय अनित्य हो यह कैसे बन सकता है ? शायद अपने इस मत के समर्थन मे ही उन्होने उपादान को मुख्यता से आश्रय रूप कारण माना है । जबकि उपादान भी षट्कारक-रूप होता है — जो ग्रहण करे, जिसको ग्रहण करे, जिसके लिए ग्रहण करे अन्य विवक्षित पर्याय से भिन्न को ग्रहण करे, जिसमे ग्रहण करे । यह विवक्षा की बात है कि हम किस कारक की मुख्यता से कथन कर रहे हैं, परन्तु उसे सर्वथा मान लेने का ही निषेध है । इसके लिए प्रवचनसार की 16वी गाथा की टीका पर दृष्टिपात कर सकते हैं ।

यहाँ क्रमभावी नियम अविनाभाव उपादान और उपादेय भाव मे ही बन सकता है, निमित्त-नैमित्तिकभाव मे नही, क्योकि परीक्षामुखसूत्र मे उपादान-उपादेय भाव का कथन ही विवक्षित है । यह बात सही है कि जिसप्रकार विवक्षित उपादान से विवक्षित उपादेय की ही प्राप्ति होती है, उसीप्रकार विवक्षित उपादान के कार्य का विवक्षित ही निमित्त रहता है । परीक्षामुख अ 3 सूत्र 63 मे जो "कुलालस्येव कलश प्रति" उदाहरण दिया है वह भी इसी बात को सूचित करता है । मात्र उपादान-उपादेय भावरूप कार्य-कारणभाव मे निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव मे एक विशेषता है । वह यह कि उपादान अव्यवहित पूर्वसमय मे होता है और उपादेय अव्यवहित उत्तर समय मे होता है । जबकि निमित्त-नैमित्तिक भाव के सम्बन्ध मे यह भेद नही है । उनमे से जिस समय निमित्त है उसी समय नैमित्तिक (उपादेयरूप कार्य) है । आगम मे भी इन दोनो मे समयभेद स्वीकार नही किया है । यथा—

कारण-कार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम् ॥

यहाँ निमित्त-नैमित्तिकभाव के उदाहरण मे सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान को लिया है । सम्यक्त्व को निमित्तरूप में स्वीकार किया है और सम्यग्ज्ञान को नैमित्तिक रूप मे स्वीकार किया है । इसी बात का समर्थन समयसार गाथा 84 की टीका से भी होता है । जिस समय कुम्भकार अपने कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करता है, उसी समय मिट्टी स्वयं कलश रूप परिणाम जाती है । कुम्भकार-ने जो कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार किया है वह स्वय किया है, मिट्टी मे नही किया है । मिट्टी से अलग रहकर ही अपने मे किया है और मिट्टी ने भी कुम्भकार से अलग रहकर अपना कलशरूप व्यापार किया है । फिर भी बाह्य लोगो का अनादि से अज्ञानी का' व्यवहार चला आ रहा है कि कुम्भकार ने कलश बनाया । जिस समय क्रोध कषाय का उदय होता है उसी समय क्रोध पर्याय होती है । इन उदाहरणो मे भी इसी बात का समर्थन होता है कि जिस समय मे निमित्त है उसी समय मे उसका नैमित्तिक होता है । उक्त श्लोक मे, जो दीप और प्रकाश का उदाहरण लिया है वह भी निमित्त-नैमित्तिक भाव के अर्थ मे ही लिया है, क्योकि उपादान भी निमित्त ही है । अन्तर इतना ही है कि यहा जो विवक्षित परिणाम के सन्मुख होता है उसे उपादान कहा गया है । यदि परिणाम करता हुआ अर्थ उपादान का किया जाय तो उपादान कर्ता कहलायेगा और उसी समय मे उपादेय कर्म कहलायेगा, किन्तु यह कथन भी सद्भूत व्यवहारनय से ही किया जा सकता है असद्भत व्यवहारनय मे नही । इसी बात को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमासा मे कहा भी है —

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न हि स्वरूप स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञायकाङ्गवत् ॥

धर्म और धर्मी मे अविनाभाव सम्बन्ध है यह बात परस्पर (एक दूसरे) के अच्छी तरह देखने से ज्ञात होती है, किन्तु उनका स्वरूप नही, वह नियम से स्वय ही कारकाग कर्ता-कर्म के समान और ज्ञापकाग ज्ञेय-ज्ञायक के समान है ।

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए उसकी टीका अष्टसहस्री मे जो कहा है वह इस प्रकार है–(यहा प्रयोजन के अनुसार विवक्षित टीका का ही हिन्दी अनुवाद लिया है ।)

धर्म और धर्मी मे अविनाभाव सम्बन्ध है यह परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है, किन्तु उनका स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता, क्योकि वह विवक्षा के पहले ही स्वत सिद्ध है । इन दोनो का स्वरूप सामान्य और विशेष के समान स्वतः सिद्ध स्वरूप वाला है क्योकि भेद की अपेक्षा रखने वाले अन्वयरूप ज्ञान से वह जाना जाता है तथा जैसे विशेष स्वत सिद्ध स्वरूप वाला है क्योकि, सामान्य की अपेक्षा रखने वाले व्यतिरेकरूप ज्ञान से वह जाना जाता है । उसी प्रकार गुण और गुणी आदि रूप धर्म और धर्मी को भी कर्ता-कर्म के समान तथा बोध्य-बोधक के समान जानना चाहिये । कारकाग कर्ता-कर्म हैं और ज्ञापकाग बोध्य-बोधक हैं ।

यहाँ जैसे कर्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा से नही है तथा कर्म का स्वरूप कर्ता की अपेक्षा से नहीं है, क्योकि ऐसा स्वीकार करने पर दोनो का अभाव प्राप्त होता है, परन्तु यह इस कार्य का कर्ता है और यह इस (कर्ता) का कार्य है ऐसा व्यवहार परस्पर की अपेक्षा के विना नही होता । इससे बोध्य-बोधक का अर्थात् प्रमाणप्रमेय का स्वरूप स्वत सिद्ध है । परन्तु इनका व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है । इसलिए उनके समान इन धर्मी और धर्मरूप समस्त पदार्थों की कथचित् आपेक्षिकी सिद्ध है, क्योंकि वैसा व्यवहार होता है, कथचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है, क्योकि वे विवक्षा के पहले ही सिद्ध हैं ।

यहा प्रयोजन के अनुसार ये दो ही भग कहे हैं । प्रकृत मे हमे इस आधार पर इतना ही जानना है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी इसी न्याय से जानने योग्य है । यथा यह इस कार्य का असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त है । इसका अर्थ है कि जैसे उपादान स्वरूप से निमित्त है वैसे यह स्वरूप से निमित्त नहीं है । प्रयोजन (त्रिकाल बाह्यव्याप्ति) के अनुसार उसे निमित्त कहा जाता है । अतएव बाह्यनिमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश यह कहा जाता है कि उनके विषय मे (1) कथचित् आपेक्षिकी सिद्धि है, क्योकि इस प्रकार का उनमे असद्भूत व्यवहार होता है, (2) कथञ्चित् बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये विना सिद्ध है, क्योकि कार्य की बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये जाने से पूर्व ही कार्य की सिद्धि है । तात्पर्य यह है कि बाह्य निमित्त की विवक्षा के पूर्व ही कार्य स्वरूप से सिद्ध है, इस लिए बाह्य निमित्त उपचार से ही उसका कारण कहा जाता है । यहा सर्वत्र उपचार का अर्थ ही यह है कि "जो जिसका न हो उसको उसका कहना या इस प्रकार का विकल्प करना" स्पष्ट है कि बाह्य निमित्त कार्यरूप धर्मी का वास्तविक धर्म तो नहीं है, फिर भी बाह्य व्याप्ति वश उससे कार्य की सिद्धि होती है, इसलिये जिनागम मे उसे स्थान मिला हुआ है । बाह्य निमित्त को व्याकरणाचार्य स्वय

अयथार्थ कारण मानते हैं। (स पृ 4) फिर भी उसकी सहायता को भूतार्थ कहते हैं (स पृ 5) यही आश्चर्य है। यदि वह अयथार्थ कारण है तो उसकी सहायता कार्यकारी – भूतार्थ कैसे हो सकती है, अयथार्थ ही रहेगी। वैसे देखा जाय तो प्रयोजन के अनुसार उसे अन्य के कार्य का निमित्त स्वीकार किया है, इसीलिए उसे उपचरित कारण कहेगे, अयथार्थ कारण नही। इसी प्रकार उसकी सहायता उपचरित ही कहेगे भूतार्थ नही।

यहाँ हमारी दृष्टि से एक आश्चर्य तो यह है कि व्याकरणाचार्य जी जहा बाह्य निमित्त को अयथार्थ कारण कहकर उसकी सहायता को कार्यकारी – भूतार्थ मानते हैं। वहाँ हम बाह्य निमित्त को उपचार से कारण और उसकी सहायता को उपचार से सहायक मानते हैं, क्योकि उपचार का व्यवहार ऐसी जगह नही होता जिसे किसी अपेक्षा से विवक्षित वस्तु की या काय की सिद्धि मे निमित्त न माना हो। निमित्त कहो या सहायक या उपकारक कहो, इन तीनो का अर्थ प्रकृत मे एक ही है। हमने कही भी बाह्य निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नही लिखा है। उपचरित हेतु का उपचार से कारण या सहायक या उपचरितकर्ता अवश्य लिखा होगा। इसका अर्थ है कि जिसमे उपचार किया जाता है,उसे प्रयोजन के अनुसार स्वीकार अवश्य किया जाता है, पर वह मुख्य स्थान ग्रहण करने मे सर्वथा असमर्थ रहता है।

व्याकरणाचार्यजी किसी कार्य का निमित्त होकर वह कार्य के होने मे सहायता करता है और सहायता करने को भूतार्थ मानते हैं, इसे वे ही जानें कि निमित्त की सहायता क्या है ? वह बाह्य निमित्तगत है या कार्यगत ?

समीक्षा पृ 14 में व्याकरणाचार्यजी प्रेरक बाह्य निमित्तो की कार्यकारिता को बतलाते हुये लिखते हैं कि "यह भी ध्यातव्य है कि उपादान उसे कहते हैं जिसमे कार्यरूप परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता विद्यमान हो। इसलिये ऐसा नही समझना चाहिए कि प्रेरक निमित्त उपादान की उस योग्यता को उत्पन्न करता है, प्रेरक निमित्तो का कार्य ही उस योग्याता को कार्यरूप से विकसित होने के लिए प्रेरणा मात्र करना है।"

यहा पहले तो यह देखना है कि व्याकरणाचायजी जिस उपादान को "स्वभावत योग्यता" कहते हैं, वह द्रव्यरूप होती है कि पर्यायरूप। यदि उसे द्रव्यरूप माना जाता है तो द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य तो अनादि-अनन्त, अपरिणामी होता है। उसे विकसित करने के लिए उपादान को प्रेरणा देने का प्रश्न ही नही उठता। यदि वह पर्यायरूप है तो वह अव्यवहित पूर्व पर्याय ही हो सकती है, अत वह अगले समय मे कार्यरूप ही परिणमन करेगी, क्योंकि कार्य का उत्पाद ही पूर्व पर्याय का क्षय है। जैसा कि कहा भी है – "कार्योत्पाद क्षय" ऐसी अवस्था मे प्रेरक निमित्तो का क्या उपयोग रहा यह सिद्धान्ताचार्य व्याकरणाचार्य जी ही जाने।

वस्तुत देखा जाय तो सम्यक् उपादान बाह्य निमित्तो की सहायता के बिना ही अपना कार्य करता है। इसलिये व्याकरणाचार्य जी ने प्रेरक निमित्त को उपादान की उस योग्यता को कार्यरूप से विकसित होने के लिये प्रेरणा मात्र करता है यह जो कहा है, सो उनके उस कथन से एक तो जैनदर्शन मे पर्यायान्तर से ईश्वरवाद के प्रवेश कराने के समान है। दूसरे उनके द्वारा माने गये प्रेरक निमित्तो की उक्त कथन से अयथार्थता ही सिद्ध होती है। यदि बाह्य निमित्त निमित्तपने की अपेक्षा वास्तविक हो तो उसकी सहायता भी वास्तविक मानी जाय। जबकि निमित्त वास्तविक तो नही है, बाह्य उपचार व्याप्तिवश से निमित्त है, इसलिये उसकी सहायता को भी उपचरित ही जानना चाहिये। इसका अर्थ है कि बाह्य निमित्त मे सहायता का आरोप किया गया है, बाह्य निमित्त सहायता करता नहीं।

दूसरे, आजकल " डिग्री टू डिग्री" के अनुसार जो यह मान्यता चली है कि वाह्य निमित्तो मे जितनी योग्यता या शक्ति होती है उतना ही कार्य होता है। सो यह मान्यता भी समीचीन नही है, क्योकि एक तो पर्याययुक्त द्रव्य ही उपादान होता है। कही पर जो पर्याय को उपादान कहा गया है वह ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा ही कहा गया है, नैगमनय की अपेक्षा नहीं, क्योकि नैगमनय द्रव्य-पर्याय दोनो को स्वीकार करता है। अब यहाँ प्रकृत मे आगमवचन को देना इष्ट मानते हैं, जिससे प्रेरक निमित्तो का निरसन तो हो ही जाता है पर "डिग्री टू डिग्री" सिद्धान्त का भी निरसन हो जाता है। आगम का यह वचन इसप्रकार है—

केवलकसायपरिणामो चेवअणुभागघादस्स कारण, किन्तु पयडिगय सत्ति सव्ववेक्खो परिणामो अणुभागघादस्स कारण तत्थ वि पहाणमतरग कारण तम्हि उक्कस्से सते वहिरगकारणे थोवे वि बहुअणुभागघादाणुवलभादो। अतरगकारणे थोवे वहिरगकारणे बहुए सते वि बहुअणुभागघादाणुवलभादो। तदोणमाणुभागघाद अतरग कारणदो वेदणीयाणुभागघाद अतरगकारणानन्तगुणहीणमिदि णामजहण्णाणुभागादो वेदणीय जहण्णभागस्स अणतगुणत जुज्जदे। धवलल पु 12, पृ 33)

केवल कषाय परिणाम ही अनुभागघात का कारण नही है किन्तु कर्मप्रकृति मे रहनेवाली शक्ति की अपेक्षा सहित परिणाम अनुभागघात का कारण है। उसमे भी अतरग (उपादान) कारण प्रधान है। उसके उत्कृष्ट होनेपर बहिरग (निमित्त) कारण के स्तोक रहने पर भी बहुत अनुभाग का घात देखा जाता है और अतरग कारण के स्तोक रहने पर वहिरग कारण के वहुत रहने पर अनुभाग का घात नही उपलब्ध होता। अत नामकर्मसम्बन्धी अनुभाग के घात के अतरग कारण की अपेक्षा वेदनीय सम्बन्धी अनुभाग के घात का अतरग कारण अनन्तगुणा हीन है, अत नामकर्म के जघन्य अनुभाग की अपेक्षा वेदनीय का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है, यह वन जाता है।

नामकर्म का अनुभाग हत समुत्पत्ति कर्मवाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का लिया गया है और उसी समय चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे स्थित अयोगकेवली का लिया गया है। इसलिये यहा प्रश्न है कि सूक्ष्म निगोदिया जीव के नामकर्म के जघन्य अनुभाग से अयोगकेवली के अन्तिम समय मे वेदनीय कर्म के एक निषेक में स्थित जघन्य अनुन्तगुण कैसे होता है ? सो इसका समाधान आचार्यदेव ने उक्त प्रकार किया है। विशेष समझने के लिये उक्त प्रकरण पर दृष्टिपात करना चाहिये। इससे हम जान लेते हैं कि "वाह्य प्रेरक निमित्त उपादान को विकसित करने के लिये प्रेरणा मात्र प्रदान करता है" यह मान्यता स्वघर की मान्यता ही है और जो भाई उपादान और वाह्य निमित्त मे डिग्री टू डिग्री का सिद्धान्त मानते हैं उसका भी निरसन हो जाता है। साथ ही व्याकरणाचाय जी की इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है कि उपादान द्रव्य ही होता है, पर्याय नही, क्योकि नामकर्म और वेदनीय कर्म के अनुभाग को विवक्षित जीव के विवक्षित समय का कहना तभी वन सकता है जव उन दोनो कर्मों के अनुभागो को पर्याययुक्त द्रव्य स्वीकार किया जाय।

इसप्रकार पर्यायनिरपेक्ष मात्र द्रव्यरूप उपादान तो वनता ही नही। साथ ही उस उपादान को अनेक योग्यतावाला कहना भी इसीलिये नही बनता कि ऐसा उपादान एकान्त से नित्य द्रव्य ही हो सकता है यह मात्र व्याकरणाचार्य जी की मान्यता ही कही जायगी।

समीक्षा पृ 28 मे व्याकरणाचार्य जी यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि—"अनित्य उपादान-शक्तिरूप पर्याय शक्ति विशिष्ट नित्य उपादान शक्तिरूप द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्ति मे साधक होने से अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्याय शक्ति का भी कार्यकाल की योग्यता के रूप मे कार्योत्पत्ति की साधक माननी चाहिये ।"

उनके इस कथन से ऐसा लगता है कि व्याकरणाचार्य जी अपने विचारो पर स्थिर नही हैं। उन्होंने जो अकेली नित्य द्रव्यशक्ति को उपादान कहा है वह तो आगम मे कही दृष्टिगोचर होता ही नही, क्योकि उपादान उपादेयरूप तभी बन सकता है जब उमे अनित्य द्रव्यशक्ति का (पर्याय) स्वीकार किया जाय और ऐसा स्वीकार करने पर नित्य द्रव्यशक्ति का उपादेय मे अन्वय भी बन जाता है और पर्यायशक्तिरूप उपदान का उपादेयरूप परिणमना भी बन जाता है। साथ ही व्याकरणाचार्य जी की इस मान्यता का भी निरसन हो जाता है कि कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है ।

अब एक बात विचार के लिये यह रह गई कि कुछ काय व्याकरणाचार्य जी ऐसे भी मानते हैं जो निमित्तो की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हे वहा स्वप्रत्यय नाम दिया गया है ।

सम्भवत उन्होने ये विचार सर्वार्थसिद्धि अ ५ सू ७ के वचन के आधार पर ही बनाया है। ऐसा विचार बनाते समग उन्हे आचार्य समन्तभद्र का यह वचन भी ख्याल में नही रहा कि "कार्यों मे बाह्य और आभ्यतर उपाधि की समग्रता होती है ऐसा द्रव्यगत् स्वभाव है" यथा—'बाह्येतरोपाधि समग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभाव ।' साथ ही उन्होंने सर्वार्थसिद्धि के पूरे वचन को दृष्टिपथ मे न लेकर यह मत बनाया है। इसलिये यहा हम सर्वार्थसिद्धि के उक्त वचन को उद्धत कर देना चाहते हैं—

स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानाषट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च । परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे-क्षणे तेषा भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परद्रव्यापेक्षउत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियेत ।"

"स्वनिमित्तक यथा—प्रत्येक द्रव्य मे आगम प्रमाण से अनन्त अगुरुलघुत्व गुण (अविभाग-प्रतिच्छेद) स्वीकार किये गये हैं जिनका छह स्थान पतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है, अत इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से (परनिरपेक्षरूप से) होता है। इसीप्रकार परप्रत्ययरूप भी उत्पाद और व्यय कहा जाता है । यथा — ये धर्मादिक द्रव्य क्रम से अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन मे निमित्त हैं। चूंकि इन गति आदि मे क्षण-क्षण में अन्तर पडता है, इसीलिये इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिये, इसप्रकार इन धर्मादिक द्रव्यो पर परप्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है । "

इस कथन से हम जानते हैं कि लोक मे ऐसा कोई कार्य नही है जिसमे उभय निमित्तो को न स्वीकार किया गया हो ।

यहा एक प्रश्न अवश्य ही विचारणीय रह जाता है कि यदि ऐसा है तो मोक्षपर्याय को भी उभयनिमित्तक स्वीकार करना चाहिये। जैसा कि व्याकरणाचार्य जी का मत है। देखो (स पृ 26) सो इसका समाधान यह है कि निमित्त दो प्रकार के होते हैं — सामान्य निमित्त और विशेष निमित्त। जिस पर्याय का विशेष निमित्त हो उसे स्वपर प्रत्यय पर्याय कहते हैं। जैसे—जीव की कर्मों के उदय और उदीरणा को निमित्त कर होनेवाली पर्याय। और जिस पर्याय के होने मे विशेष निमित्त या निमित्तो का अभाव हो उसे स्वप्रत्यय पर्याय कहते हैं। जैसा कि नियमसार गा 14 और उसकी टीका मे स्पष्ट है। जितने भी कर्मों के क्षय आदि से जीव के भाव होते हैं उन्हें आगम मे स्वप्रत्यय इसीलिये स्वीकार किया गया है। इतना ही नही, वे सब भाव पर की अपेक्षा किये बिना बुद्धि मे ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा को दृष्टिपथ मे लेने मे ही होते हैं। इसीलिये ऐसी पर्यायो को स्वभावपर्याय भी कहते हैं। विशेष विचार आगम से जानकर कर लेना चाहिये। आगम साधुओ के लिये जब चक्षु है तो हमे तो है ही।

इसप्रकार उपादान उपादेय के सम्बन्ध मे विचार किया। विशेष विचार समीक्षा के समाधान में किया ही है। यहा विशेषरूप से बाह्य निमित्तो के विषय मे विचार प्रस्तुत है। व्याकरणाचार्य जी दो प्रकार के निमित्त मानते हैं -- प्रथम प्रेरक निमित्त और दूसरे उदासीन निमित्त। इनके वे वे दो प्रकार के लक्षण भी करते हैं। देखो (स पृ 14)

अब आगम देखे, आगम मे बाह्य निमित्त और कार्य मे समव्याप्ति मानी गई है। जैसा कि छहढाला के "सम्यक्कारण जान ज्ञान कारज है सोई" इस वचन से ज्ञात होता है। साथ ही उन दोनो को उसी छन्द मे युगपत् स्वीकार किया है। आगम मे दो प्रकार के बाह्य निमित्तो का उल्लेख आता है। जिनको आगम मे विस्रसानिमित्त कहा गया है वे सब उदासीन निमित्त हैं, क्योकि जड पदार्थ बुद्धि द्वारा किसी काय मे निमित्त नही होते, हवा को निमित्त कर ध्वजा का फहकना विस्रसानिमित्त ही है। उनमे दोनो के लिये उनका क्रिया स्वभाव मुख्य है। जो कार्य बुद्धिपूर्वक किय जाते हैं वे प्रायोगिक कार्य कहे जाते हैं। जैसा कि आप्तमीमासा के इस वचन से स्पष्ट है—

बुद्धिपूर्वापेक्षायाम् इष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ।
अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवत ॥

बुद्धिपूर्वक इष्ट और अनिष्ट जो कार्य होते हैं उनमे पौरुष से हुए — ऐसा स्वीकार किया जाता है। इन्हे ही आगम मे प्रायोगिक कार्य माना गया है। तथा जो इष्ट और अनिष्ट कार्य बुद्धिपूर्वक नहीं होते वे ही आगम मे दैव से हुए ऐसा स्वीकार किया जाता है। यहा दैव का अर्थ पुराकृतकर्म और योग्यता किया गया है। इससे हम जानते हैं कि व्याकरणार्यजी आगम के शब्द प्रयोगो को देखकर बाह्य निमित्तो का प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त यह अर्थ भले ही करते हो, जबकि कार्य-कारण भाव के प्रसग से निमित्तो का विचार प्रायोगिक निमित्त और विस्रसा निमित्तरूप से ही किया गया है। आगम का एक प्रमाण तो हम पहले आप्तमीमासा का दे ही आये हैं। दूसरा प्रमाण हम सर्वार्थसिद्धि का यहा दे रहे हैं—

"बन्धो द्विविध वैस्रसिक: प्रायोगिकश्च । पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिक , तद्यथा—स्निग्ध—रूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषय । पुरुषप्रयोगनिमित्त प्रायोगिक अजीव-विषय जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिन्न । तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षण । जीवाजीवविषय कर्मनोकर्मबन्ध (स० सि० अ० 5 सू० 24)

बन्ध दो प्रकार का है—वैस्रसिक और प्रायोगिक । जिस बन्ध मे पुरुष के प्रयोग की अपेक्षा नही पडती वह वैस्रसिक बन्ध है । जैसे—स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है और जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है, इसके दो भेद हैं — अजीव सम्बन्धी बन्ध और जीवाजीव सम्बन्धी बन्ध । लाख और लकडी आदि का अजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है तथा कर्म और नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है वह जीवाजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है ।

यह बन्ध विषयक उद्धरण मात्र है । इसी न्याय से लोक मे जितने भी कार्य होते हैं उनके विषय मे भी समझ लेना चाहिये ।

प्रायोगिक विवक्षित कार्योंके विषय मे समय सार की इस गाथा का अपना महत्व हैं । यथा—

जीवो ण करेदि घट णेव पट णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवजोगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।१०० ।।

इस गाथा का भावार्थ लिखते हुए प जयचन्द जी कहते हैं—

भावार्थ—योग अर्थात् आत्म प्रदेशो का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायो के साथ उपयुक्त होना जुडना । वह योग और उपयोग घटादि और क्रोधादि के निमित्त हैं, इस लिए उन्हें घटादि और क्रोधादि का निमित्तकर्ता कहा जावे, परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नही कहा जा सकता । आत्मा को ससार अवस्था मे अज्ञान से मात्र योगउपयोग का कर्ता कहा जा सकता है ।

इससे भी हम जानते हैं कि ससार के सब कार्यो के निमित्त विस्रसा और प्रयोग के भेद से दो ही प्रकार के होते हैं । जिन्हे व्याकरणाचार्य जी उदासीन और प्रेरक निमित्त कहते हैं उनका इन दोनो निमित्तो मे अन्तर्भाव हो जाता है । इतना आवश्यक है कि जीव के योग और उपयोग को निमित्त कर जो कार्य होते हैं उन्हें ही प्रायोगिक कार्य कहते हैं। यदि व्याकरणाचार्यजी उन्हे प्रेरक-निमित्त कहना चाहें तो भले कहें । शेष सब विस्रसा निमित्त कहे जायेंगे । चाहे वह ध्वजा का फडकना ही क्यो न हो । बादल गरजते हैं यह भी विस्रसा-निमित्तो की अपेक्षा कहा जायगा । आगम मे उदासीन निमित्तो का प्रयोग मात्र धर्मादि द्रव्यो की निमित्तता के अर्थ मे ही दृष्टिगोचर होता है । इसलिए आगम मे जो दो प्रकार के निमित्त बतलाये हैं–विश्रसा निमित्त और प्रयोग निमित्त वे ही समीचीन हैं । किन्तु समीक्षक महानुभाव ने समीक्षा पृ. 15 मे जो यह लिखा है कि—पूर्वपक्ष मान्य दोनो निमित्तो के लक्षण सम्यक् हैं । सो उनका ऐसा लिखना समीचीन नही है, क्योकि जिन्हे प्रेरक निमित्त कहते हैं वे यदि जीवाजीव सम्बन्धी हैं, तो वे अवश्य ही प्रायोगिक निमित्त मे अन्तर्भूत हो जाते हैं, शेष सब वैस्रसिक निमित्त हैं ।

खानिया तत्वचर्चा पृ ४५ में व्याकरणाचार्यजी ने जो मोक्ष पर्याय को स्वपर सापेक्ष लिखा है सो उसका इसी न्याय से निरसन हो जाता है, क्योकि जीव की मोक्ष पर्याय के होने में न तो योग निमित्त है और न धर्मादि द्रव्य ही निमित्त हैं। वह विवक्षित काल मे हुई इतना ही कहा जा सकता है। पर वह हुई कैसे ऐसा कोई पूछे तो यही कहा जायेगा कि वह स्वभावभूत रत्नत्रय परिणाम से परिणत आत्मा ने काल की अपेक्षा किये विना की। इस विषय की चर्चा हम पहले ही कर आये हैं, पर उसमें विशेषता को दिखाने के अभिप्राय से पुन की।

अब निमित्तनैमित्तिक भाव को स्पष्ट करते हुए जहाँ भी इस विषय को स्पष्ट किया गया है, वहा असद्भूत व्यवहार के कथन को ध्यान मे रखकर ही खुलासा किया गया है, इसी लिये बुद्धि मे यह स्वीकार किया जाता है और तदनुसार कहा भी जाता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना परिणाम स्वय करता है और ऐसा करता हुआ वह बाह्य निमित्त निरपेक्ष होकर स्वय ही करता है। इसी लिये बाह्यनिमित्त की स्वीकृति असद्भूत व्यवहारनय से ही मानी जाती है, कार्यद्रव्य मे बाह्य निमित्त का सहायता नाम का गुण नही पाया जाता और न वह उपादान की इस उयोग्यता (कार्यरूप परिणत होने की योग्यता) को कार्यरूप से विकसित होने के लिए प्रेरणा ही करता है, क्योकि एक तो नित्य द्रव्य उपादान नही होता। जो कार्य का उपादान होता है वह कार्य द्रव्य का अव्यवहित पूर्व-पर्याय रूप द्रव्य ही होता है। उस उपादान मे अनेक योग्यताए इसलिए सभव नही हैं, क्योकि वह उपादान विवक्षित योग्यता से युक्त द्रव्य-पर्याय रूप ही होता है। कार्यद्रव्य मे द्रव्य का अन्वय रहता है और पूर्व पर्याय का व्यय होकर नये उत्पाद का सद्भाव बनता है, इसी लिये आगम में व्यय को ही उत्पाद कहा गया है। तथा उनके लक्षण भिन्न-भिन्न होने से वे दो माने गये हैं।

यहाँ बाह्य निमित्त का उपादान के उपादेय रूप होने पर उसमे सहायता नाम का अश भी नही होता, इसी लिये तो उसे कार्य मे असद्भूत कहा गया है और फिर भी लोक मे ऐसा व्यवहार चालू है कि "इससे यह हुआ" अर्थात् इस बाह्य निमित्त से यह कार्य हुआ, इसी लिए लोक मे ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध होने से उसे असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ही स्वीकार किया गया है।

अब रही आगम की बात तो समयसार मे ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं जिनसे हम यह जानते हैं कि कार्य द्रव्य मे बाह्य निमित्त का अश भी नहीं होता। जिसे विवक्षित कार्य का बाह्य निमित्त कहते हैं वह स्वय उपादान होकर अपना कार्य करता है और जिसे हम उपादान कहते हैं वह बाह्य निमित्त की अपेक्षा के विना स्वय अपना कार्य करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए समयसार मे यह वचन मिलता है—

एक्कस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४० ॥

जब एक ही पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप से परिणाम होता है तो जीव के रागादिभावो को हेतु किये विना ही पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम होता है (ऐसा मानना चाहिये)

यहाँ उक्त गाथा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि —

(1) एक तो निश्चयनय से देखा जाय तो प्रत्येक द्रव्य पर निरपेक्ष होकर स्वय ही अपना कार्य करता है।

(2) दूसरेफिर भी बाह्य व्याप्तिवश या काल प्रत्यासत्तिवश कार्य से बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता प्रत्येक समय मे रहती ही है। ऐसा एक क्षण भी नही होता जिस समय कार्य में इन दोनो की समग्रता न हो, इसलिये "इससे यह कार्य हुआ" ऐसा व्यवहार प्रत्येक समय मे बन जाता है। इसी लिये बाह्य निमित्त की सहायता को कार्यद्रव्य मे असद्भूत स्वीकार किया जाता है, क्योकि ससारी जीव के तथा स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्य के प्रत्येक कार्य मे "यह इससे हुआ" ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार असद्भूत व्यवहारनय से बाह्य निमित्त को कार्य का साधक कहा जाता है। इसी आधार पर यह निश्चित होता है कि बाह्य निमित्त की सहायता को जो व्याकरणाचार्य जी भूतार्थ मानते हैं वह यथार्थ नही है, क्योकि वह आरोपित या काल्पनिक ही है, वास्तविक नही। बाह्य व्याप्तिवश ऐसा विकल्प होना या कहना अन्य बात है, पर ऐसा विकल्प हुआ या कहा, मात्र इसीलिये वह (बाह्य निमित्त की सहायता) भूतार्थ नही हो जाता।

इस प्रकार व्याकरणाचार्यजी ने (ख त च) या (स) मे जिन 30 बातो के आधार पर अपने मत की पुष्टि की है उनका वह मत आगम सम्मत कैसे नही है इसका स्पष्टीकरण करके अब उनके अन्य दो ग्रन्थो मे वर्णित विषय कैसे समाचीन नही है इस पर सक्षेप मे विचार करेंगे। यहा सर्वप्रथम "जैन शासन मे निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थ विचारणीय है। इसे दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद से पुरस्कार भी मिला है। इससे मालुम पडता है कि इस पर विद्वत परिषद ने बिना विचारे मुहर लगा दी है। ऐसी जगह मात्र उपसमिति का यह काम नही होता। उस ग्रन्थ की एक-एक प्रति सब सदस्यो के पास जानी चाहिये थी और मिलकर विचार होना चाहिये था। ऐसी अवस्था मे विद्वत् परिषद से स्वीकार करना इसे उपसमिति का कार्य मानना चाहिए।

इस ग्रन्थ का नाम है "जैन शासन मे निश्चय और व्यवहार"। इस लियेइस ग्रन्थ मे निश्चय और व्यवहार किस अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं इसपर ही अपने विचार उन्होने रखे हैं। उसमे आगम के जो उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं उनका अपने मत की पुष्टि के अर्थ मे ही उपयोग किया गया है। जैसे सोनगढ मे यह कहा जाता रहा है कि निश्चय मोक्षमार्ग ही सच्चा मोक्षमार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग तो निश्चय मोक्षमार्ग की सिद्धि का निमित्त मात्र है, इसी लिये वह मोक्ष मार्ग नाम पाता है। वही बात प्रवचनसार के इस वचन से भी हम जानते है—

"ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते।"

इसी लिये निर्वाण का अन्य मार्ग नही है यह निश्चित होता है।

मालूम पडता है कि उन्होने यह पुस्तक सोनगढ के विरुद्ध अपने मत का प्रचार करने के अभिप्राय से ही लिखी है। तभी तो वे कहते हैं कि—

"इससे सोनगढ की यह मान्यता निरस्त हो जाती है कि सच्चा मोक्ष मार्ग होने से ही निश्चय मोक्षमार्ग को आगम मे यथार्थ, मुख्य, परमार्थ और भूतार्थ आदि नामो से पुकारा गया है तथा

मिथ्या, कल्पित, कथनमात्र मोक्षमार्ग होने से ही व्यवहार मोक्षमार्ग को यहा पर अयथार्थ, असत्यार्थ, गौण, उपचरित, और अभूतार्थ आदि नामो से पुकारा गया है। उक्त कथन से सोनगढ की इस मान्यता के निरस्त होने मे हेतु यह है कि निश्चय और व्यवहार दोनो ही मोक्षमाग उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सच्चे सिद्ध होते हैं। इस बात को न समझने के कारण यहाँ सोनगढ यद्यपि यह आपत्ति प्रस्तुत करता है कि — "निश्चय मोक्षमाग के साथ व्यवहार मोक्षमाग को भी सच्चा मोक्षमार्ग मान लेने पर दोनो मोक्षमार्गों मे स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् मोक्षमार्ग की प्रसक्ति हो जाने से निश्चय मोक्ष-मार्ग के बिना केवल व्यवहार मोक्षमार्ग से ही भव्य जीवो को मोक्ष प्राप्ति का प्रसग उपस्थित हो हो जायेगा। ( ) ऐसे चिन्ह तो विवक्षित कथन मे लगाये हैं, पर सोनगढ के किस ग्रन्थ के उद्धरण हैं यह पता नही लगता इससे यदि कोई अनुमान करे कि व्याकरणाचार्य जी ने स्वय लिखकर उन्हे सोनगढ का बतलाया है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। परन्तु इसके विपरीत उपर्युक्त विवेचन से यही निर्णीत होता है कि मुमुक्षु भव्य जीव को मोक्ष की प्राप्ति निश्चय मोक्षमार्ग होने पर और उस निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति और उसकी पूर्णता व्यवहार मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होने पर ही होती है, अन्यथा नही। (पृ 220-221)

इस कथन के पहले व्याकरणाचार्यजी ने एक बात और लिखी है वह यह कि "आगम में निश्चय मोक्षमार्ग को जो यथार्थ, सत्यार्थ, मुख्य, परमार्थ और भूताथ आदि नामो से पुकारा गया है उसका कारण उसमे विद्यमान मोक्षकारणता की साक्षाद्रूपता ही है तथा वहाँ पर व्यवहार मोक्षमाग का जो अयथाथ, असत्यार्थ गौण, उपचरित और अभूतार्थ आदि नामो से पुकारा गया है उसका कारण उसमे विद्यमान मोक्षकारण की परम्परारूपता ही है।" (पृ 220)

ये व्याकरणाचार्य जी के दो वक्तव्य हैं। अब इस विषय मे आगम क्या है इस पर दृष्टिपात् करने के बाद ही व्याकरणाचार्य जी के वक्तव्य पर विचार करेंगे।

इन उद्धरणो मे व्याकरणाचायजी ने निश्चय मोक्षमाग के समान व्यवहार मोक्षमार्ग को भी सच्चा सिद्ध किया है, क्योकि निश्चय मोक्षमार्ग मे साक्षात्कारणता विद्यमान है और व्यवहार मोक्ष-माग मे परम्परा कारणता विद्यमान है यह व्याकरणाचाय जी के उक्त कथन का निचोडरूप अभिप्राय है। अब उनके इस कथन पर विचार किया जाता है।

सम्यग्दशन क्या है, स्वभावभाव तत्त्वरुचि यथार्थ सम्यग्दर्शन नही है ? शुभभाव, अशुभभाव और स्वभावभाव इन तीनो बातो का सक्षेप मे खुलासा करने के बाद ही प्रकृत विषय का समीक्षा-पूर्वक समाधान करेंगे।

(1) सम्यग्दर्शन क्या है इसे स्पष्ट करते हुये प प्रवर आशाधरजी अनगार धर्मामृत (2 46-47) की स्वोपज्ञ टीका मे लिखते हैं —

तद्दर्शन मोहरहितमात्मास्वरुपम्।

वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोह से रहित आत्मा का स्वरूप है।

इस पर कोई भव्य जीव पूछता है कि यदि सामान्य से सम्यग्दर्शन का यह लक्षण है तो वह सम्यग्दर्शन के दोनो (व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन) भेदो मे उपलब्ध होना चाहिये। इस पर प प्रवर आशाधर जी कहते हैं कि हमने जो तत्त्वरुचि को पहले सम्यग्दर्शन कहा है, वह उपचार से ही कहा है, क्योकि उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानो में मोह का अभाव रहता है। वहा यह उपचार लागू नही होता, इसलिये आगम मे व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार से सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है। इस विषय का पोषक उद्धरण इस प्रकार है :—

न पुनः रुचि, तस्या. क्षीणमोहेष्वभावात्। (वही)

इसे और भी स्पष्ट करते हुए प प्रवर आशाधर जी अ 2 श्लोक 13 की स्वोपज्ञ टीका में लिखते हैं :—

तत्त्वरुचि तत्त्वं जीवादिवस्तुयाथात्म्यं तस्य रुचि श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मस्वरूपं नत्विच्छालक्षणम्, तस्योपशान्तकषायादिषु मुक्तात्मसुवासंभावत्।

तत्त्व अर्थात् परापर वस्तु की यथार्थता की रुचि श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है जो विपरीत अभिनिवेश से रहित आत्मा का स्वरूप है। यहा रुचि का अर्थ इच्छा नहीं करना, क्योंकि इच्छा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानो मे और मुक्तात्माओ मे नही पाई जाती।

(3) अव शुभभाव तथा अशुभाव आस्रव है इसे प प्र. आशाधर जी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

भावास्रवो मिथ्यादर्शनादिः सुदर्शनादिः सम्यग्दर्शज्ञानसंयमादि गुप्त्यादि.।

(अ. ध अ 2 श्लोक 39 स्वोपज्ञ टीका)

मिथ्यादर्शन आदि तथा सम्यग्दर्शन आदि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सयम आदि साथ ही गुप्ति आदि भावास्रव हैं। इनमे मिथ्यादर्शन आदि अशुभ भावास्रव हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सयम आदि तथा गुप्ति आदि शुभभावास्रव हैं। यद्यपि मूल मे इनके ये भेद नहीं वतलाये हैं पर ये स्वय फलित हो जाते हैं। यहा आस्रव के भेद मे व्यवहार सम्यग्यर्शनादि को शुभास्रव ही स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है निश्चय सम्यग्यर्शनादि ही सच्चा मोक्षमार्ग है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग तो नही हैं। फिर उसका निमित्त और सहचर होने से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है यह ऐसा नहीं है। फिर उसका अन्वय जहा तक शुभभावरूप कषाय है, वहीं तक बनता है। आगे निश्चय मोक्षमार्ग ही अकेला रहता है।

इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन आदि आत्मा की स्वभावपरिणति है और व्यवहार सम्यग्दशन आदि आत्मा की स्वभावपरिणति तो नहीं है, मात्र वाह्य व्याप्तिवश या काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहारनय की अपेक्षा सहचर सम्बन्ध होने से ससार दशा में वाह्य-निमित्तपने की अपेक्षा व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा में निश्चय सम्यग्दर्शनादि प्रकट होते हैं स्वभावतः उसके जीवादि पदार्थों मे श्रद्धा और उनका ज्ञान होता

ही है, इसी लिये उनमे व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि का व्यवहार किया जाता है। इसी बात को पंचास्तिकाय गाथा 62 मे स्पष्ट किया गया है। इसी पचास्तिकाय में व्यवहार मोक्षमार्ग क्या है और निश्चय मोक्षमार्ग क्या है इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥

धर्मादि द्रव्यो और पदार्थों की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अगपूर्व सम्बन्धी ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और बारह प्रकार के तपरूप आचरण करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप परिणत जो आत्मा है वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग है। ऐसा आत्मा न तो कुछ करता है और न कुछ छोडत है।

प्रकृत मे इन दोनो में साधन और साध्यभाव सिद्ध किया गया है। यहाँ साधन का अर्थ निमित्त है और साध्य का अर्थ कार्य है। इससे "बाह्येतरोपाधि समग्रतेय" इस सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है। इनमे कालप्रत्यासत्ति और बाह्य व्याप्ति होती है यह भी सिद्ध हो जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग को यथार्थ और व्यवहार मोक्षमार्ग को उपचरित जो आगम मे कहा गया है वह इसी अभिप्राय से कहा गया है। तथा निमित्तपने की दृष्टि से ही व्यवहार मोक्षमार्ग को परम्परा की अपेक्षा मोक्षमार्ग कहा गया है। इसका अर्थ है कि उसमे यथार्थ मोक्षमार्गपना तो नही है पर उसका निमित्तपना उसमे असद्भूत व्यवहारनय से है, इसीलिये पचास्तिकाय की टीका मे उसे साधन और निश्चय मार्ग को साध्य कहा गया है।

यह तो एक बात हुई। विचार कर देखा जाय तो यह ग्रन्थ असद्भूत व्यवहारनय के विषय का भूतार्थ सिद्ध करने के लिये ही लिखा गया है। इसलिये इस विषय पर हम और कितना लिखें। उसका पद-पद विचारणीय है। उसे व्याकरणाचार्य जी ने अपनी मानी हुई दृष्टि को स्पष्ट करने के लिये लिखा है। आगम मे निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय के जो लक्षण दिये हैं, उनसे उन्हें कोई प्रयोजन नही है। खीचतान करके अपने अभिप्राय को पुष्ट करना ही उनका प्रयोजन है।

उनकी (व्याकरणाचार्य जी की) एक पुस्तक क्रमवद्धपर्याय के खण्डन मे भी निकली है। यह पुस्तक उन्होने—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥

(१) उन्होंने इस आगम कथित उपादान उपादेय के लक्षण को न मानने के आधार पर ही लिखी है ऐसा उसे पढने से ज्ञात होता है।

(२) समयप्राभृत में सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के जो प्रारम्भ की तीन गाथाऐं आई हैं उनकी टीका के एक अंश "जीवोहि तावात् क्रमनियमिनात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव." इत्यादि वचन का अर्थ अपने पक्ष मे करने में भी वे नही चूके हैं। साथ ही उन्होंने 'क्रमनियमितात्मपरिणामै' इसका अर्थ ही छोड दिया है।

(३) मैंने कहीं पर उपादानोपादेय के अर्थ मे कार्यकारणभाव को ध्यान में लेनेपर क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि हो जाती है यह लिखा था, उसे उन्होने अपने मन से माने हुए कार्य-कारणभाव के समर्थन मे उसका उपयोग कर लिया है। जब कि क्रमनियमित पर्याय को स्वीकार करने पर अनन्त पुरुषार्थ की सिद्धि होती है उसका भी विपर्यास करके इससे पुरुषार्थ हानि का आरोप करने में वे या इसीप्रकार के दूसरे भाई नहीं चूके हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि यह पुस्तक भी उन्होंने आगम का अपलाप करने के अभिप्राय से ही लिखी हैं। आगम मे तो आचार्य अमृतचन्द्र देव ने लटकती हुई मोतियों की माला का उदहरण देकर क्रमनियमित पर्याय का ही समर्थन किया है, पर व्याकरणाचार्य जी को आगम की चिन्ता नही। विशेष क्या लिखें ?

—फूलचन्द्र शास्त्री

प्रस्तुत प्रकाशनों की कीमत कम करने हेतु प्राप्त राशियाँ

१. श्री त्रिलोकचद वर्धीचद जैन, बम्बई	२५०—००
२ श्री जयन्ती भाई डी दोशी, दादर-बम्बई	१११—००
३ श्रीमती कुसुमलता सुनद बसल स्मृतिनिधि, अमलाई	१११—००
४ ब्र० हीराबेन विद्याबेन, सोनगढ	१०१—००
५. मै० नन्दराम सूरजमल, दिल्ली	१०१—००
६ श्री छगनलाल जैन, अजमेर	१०१—००
७ श्रीमती धूडीबाई खेमराज गिडिया, खैरागढ़	१०१—००
८ चौ० फूलचद जैन, बम्बई	१०१—००
९ फुटकर	५१—००
	१०२८—००

हमारे यहां प्राप्त प्रकाशन

समयसार/वृहज्जिनवाणी सग्रह	२०—००
प्रवचनसार	१६—००
मोक्षशास्त्र/आधुनिक जैन कवि	२०—००
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११—००
नियमसार/पचास्तिकायसग्रह/समयसार नाटक/भावदीपिका	१०—००
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	१०—००
प्रवचनरत्नाकर भाग १	१२—००
प्रवचनरत्नाकर भाग २, ३, ४, ५	१०—००
सिद्धचक्र विधान/मोक्षमार्ग प्रकाशक	१०—००
जिनेन्द्र अर्चना (पूजन सग्रह)/ज्ञानगोष्ठी	७—००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ (हि०,गु०,म०,क०,अ०)	६—००
सत्य की खोज (कथानक) (हि०,गु०,म०,त०)	६—००
अध्यातम सदेश	६—००
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय/अध्यात्म रत्नत्रय/जिनवरस्य नयचक्रम्	६—००
श्रावकधर्मप्रकाश	५—५०
क्रमवद्धपर्याय (हि०,गु०,म०,क०,त०,अं०)	५—००
धर्म के दशलक्षण (हि०,गु० म०,त०,अ०)	५—००
वारह भावना : एक अनुशीलन/चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान/छहढाला (सचित्र)/ बनारसी विलास/अर्द्धकथानक	५—००
बाबूभाई विशेषाक/बनारसीदास विशेषाक	५—००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५—००
भक्तामर प्रवचन	४—५०
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो	४—००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २ व ३ (सम्पूर्ण सैट)	३—५०
बनारसीदास व्यक्तित्व कर्तृत्व	३—००
बालबोध पाठमाला भाग १, २, व ३, (सम्पूर्ण सैट)	२—७०
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ और २	२—६५
चिद्विलास/चौंसठ ऋद्धि विधान	२—५०
युगपुरुष श्री कानजी स्वामी (हि०,गु०,म०,क०,त०)	२—००
परमार्थ वचनिका/विवेशो जैनधर्म उभरते पदचिन्ह	२—००
जिनपूजन रहस्य	१—५०
मैं कौन हू/अहिंसा महावीर की दृष्टि मे/भरत वहुवली नाटक	१—२५
अद्वितीय चक्षु/चैतन्य चमत्कार/णमोलोए सव्वसाहूणम्/वीर हिमालय तैं निकसी/ वारह भावना पद्य/लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/बनारसीदास जीवन और साहित्य/सार समयसार	१—००
जिनेन्द्र वन्दना	०—७५
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हू/महावीर वन्दना (कलैण्डर)	०—५०
तीर्थंकर भगवान महावीर (हि०,गु०,म०,क०,असम०ते०,अ०)	०—५०
गोम्मटेश्वर बाहुबली/अर्चना (पूजन सग्रह)	०—४०
वीतरागी व्यक्तित्व भगवान महावीर (हि०,गु०)	०—२५

जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान

मंगलम् भगवान् वीरो, मगलम् गौतमो गणी ।
मगलम् कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥
अथ नत्वा जिनवीर मोक्षमार्गप्रकाशकम् ।
जैनतत्वसमीक्षाया समाधान विधीयते ॥ ॥

दौर १, शंका १ समीक्षा का समाधान

द्रव्यकर्म के उदय से ससारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नही ?

१. सामान्य समीक्षा का समाधान

(१) समीक्षको द्वारा उपस्थित की गयी इस शका के नियमानुसार दोनो पक्षो के सब विद्वानो द्वारा शका-समाधान के रूप मे दो दौर पूर्ण हो जाने के बाद तीसरे दौर के प्रारम्भ मे शेष सब विद्वान् श्री प माणिकचन्दजी न्यायाचार्य, श्री प मक्खनलालजी न्यायालकार, श्री प जीवधरजी न्यायालकार और श्री प पन्नालालजी साहित्याचार्य के अलग हो जाने पर भी मात्र श्री प वशीधरजी व्याकरणाचार्य के द्वारा तीसरे दौर का पूर्वपक्ष के उपस्थित करने पर भी यह विचार कर कि हमारा पक्ष समाधान करने मे असमर्थ रहा, इसलिये उस पक्ष के एक विद्वान् द्वारा तीसरे दौर का पूर्वपक्ष उपस्थित करने पर भी हमारे पक्ष द्वारा उसका उसी समय समाधान किया गया ।

यद्यपि इस समय पूर्व पक्ष के प श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य और प वशीधरजी व्याकरणाचार्य ही मौजूद हैं और शेष तीन विद्वान् परलोकवासी हो गये हैं, परन्तु जिस समय यह तीसरा दौर सम्पन्न हुआ था उस समय उस पक्ष के सब विद्वान मौजूद थे । फिर भी उन विद्वानो ने तीसरे दौर को पढकर भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नही की, सब चुप रहे आये ।

यद्यपि एकमात्र श्री प वशीधरजी व्याकरणाचार्य ने अकेले तीसरे दौर का पूर्वपक्ष लिखा था और उस सम्बन्ध मे दिल्ली मे उपस्थित रहने वाले कुछ विद्वानो द्वारा हमे यह सूचना मिली थी कि यहा पर कई विद्वानो ने मिलकर उसका वाचन किया है । फिर भी वे विद्वान् उससे अलग रहे आये । श्री प वशीधरजी व्याकरणाचार्य को अपने हस्ताक्षर करके तीसरे दौर का पूर्वपक्ष हमारे पास भेजना पडा । नियमानुसार श्रद्धेय श्री प वशीधरजी न्यायालकार मध्यस्थ के द्वारा तीसरे दौर का पूर्वपक्ष हमारे पास आना चाहिये था, परन्तु श्री प वशीधरजी व्याकरणाचार्य ने इस नियम का पालन नही किया, फिर भी हमारे पक्ष द्वारा अनियमित रूप से भेजे गये इस दौर का भी हमने समाधान लिखा और हमारे पक्ष के सब विद्वानो के द्वारा वाचन होने के बाद ही हमने नियमित रूप से मध्यस्थ के मार्फत उनके पास भिजाया ।

मालूम पड़ता है कि अभी भी श्री प वशीधरजी व्याकरणाचार्य के चित्त मे उनके दूसरे सहयोगी अन्य चार विद्वानों के समान स्थिरता न आने का यह परिणाम है, जिस कारण उन्होंने तत्वचर्चा के प्रारम्भ मे दोनो पक्षो द्वारा स्वीकृत उन सब निर्णयो को ताक पर रखकर इस चर्चा को पुन उभारने का दुष्प्रयत्न किया है और यही कारण है कि हमें इसका पुन समाधान करने के लिये बाध्य होना पड रहा है।

जैसा कि हम पूर्व मे लिख आये है, उनके सहयोगी चारो विद्वान् तीसरे दौर मे इनसे अलग हो गये थे, अन्यथा इनके समान अन्य चारो विद्वानो के हस्ताक्षर उसमे पाये जाते। परन्तु शेष चारो विद्वानो के हस्ताक्षर न होने से यह दर्पण के समान बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि तीसरे दौर की जो भी सामग्री पूर्वपक्ष के रूप मे इन्होंने तैयार की थी, उससे ये चारो विद्वान् पूरी तरह सहमत नही थे। इतना सब होते हुये भी इन्होने समीक्षा लिखने के अधिकारी न होते हुये भी खानिया तत्वचर्चा के तीन शका-समाधानो की समीक्षा लिखने का दुस्साहस किया। अस्तु,

मार्ग दो हैं—एक ससार का मार्ग और दूसरा मोक्ष का मार्ग। जीवन मे ससार के मार्ग की प्रसिद्धि जहा परलक्षी परिणामो से होती हुई प्रतिक्षण अनुभव मे आती है वहा जीवन मे मोक्ष मार्ग की प्रसिद्धि परको गौण कर आत्मलक्षी परिणामो से होती हुई अनुभव मे आती है। यह मूल मन्तव्य है। इसको ध्यान मे रखकर जब विचार करते हैं तब आत्मलक्षी दृष्टि मे यही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि मैं अपने अपराध के कारण ही विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमण को प्राप्त हो रहा हूँ, जो यथार्थ है। इसके साक्षीरूप मे एक मर्मज्ञ कवि की उक्ति पर दृष्टिपात कीजिये :—

> "कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
> लोह सहे घनघात अग्नि की सगत पाई॥"

तथा परलक्षी दृष्टि से उस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्मा विकारभाव व चतुर्गति-भ्रमण को प्राप्त होता है, जो उपचरित होने से प्रयोजन के अनुसार बाह्य व्याप्ति को ध्यान मे रखकर कहा गया है, यह वस्तुस्थिति है जिन शास्त्रो मे इसकी विशदरूप से प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है।

यही कारण है कि प्रथम दौर मे हमने उक्त शका-का समाधान करते हुये बुद्धिपूर्वक यह समाधान किया था कि "द्रव्यकर्मों के उदय और ससारी आत्मा के विकारभाव व चतुर्गति भ्रमण में निमित्त-नैमित्तक सबध है, कर्ता-कर्म सबध नही है।

किन्तु दूसरा पक्ष विशेषत श्री प वशीधरजी व्याकरणाचार्य इसे अपनी शका का समाधान नही मानकर तीसरे और प्रकृत समीक्षा मे यही लिखे जा रहे हैं कि यह हमारी शका का समाधान नही है। "आपके द्वारा इस प्रश्न का उत्तर न तो प्रथम वक्तव्य मे दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्य मे दिया गया है।" हमारे उक्त उत्तर को अप्रासगिक मानते हुए प श्री वशीधरजी व्याकरणाचार्य यह भी लिखते हैं कि "आपने अपने दोनो वक्तव्यो मे निमित्त-कर्तृ-कर्म सबध की अप्रासगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्न के उत्तर को टालने का प्रयत्न किया।"

यहा यह देखना है कि उक्त शका का हमने जो समाधान उपस्थित किया है वह अप्रासगिक न होकर सटीक कैसे है ? बात यह है कि लोक मे जितने भी कार्य होते हैं, वे सब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता मे ही होते हैं, इसलिये यदि दूसरा पक्ष व्यवहारनयको ध्यान मे रखकर ऐसी शका उपस्थित करता कि "द्रव्यकर्म के उदय को निमित्त कर ससारी आत्मा विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमण को प्राप्त होता है या नही" तो अवश्य ही हम उनकी उस शका का उसी रूप मे समर्थन करते। किन्तु दूसरा पक्ष मात्र 'द्रव्यकर्म के उदय से ससारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण को स्वीकार कराना चाहता है' जो युक्ति युक्त नही है, मात्र इसलिये हमने यह उत्तर दिया था कि द्रव्यकर्म के उदय तथा ससारी आत्मा का विकारीभाव चतुर्गतिभ्रमण मे निमित्त-नैमित्तिक सबध है, कर्ता-कर्म सबध नही। द्रव्य कर्म के उदय ने कुछ ससारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण नही कराया है। किन्तु द्रव्यकर्म के उदय को निमित्त कर ससारी आत्मा ने स्वय ही विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्य किया है, इसलिये ससारी आत्मा आप कर्ता होकर विकारभाव को प्राप्त हुआ है और चतुर्गतिभ्रमण करता है। उसमे द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। द्रव्यकर्म का उदय स्वय कर्ता नही, और न ससारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उसका कर्म है। यदि द्रव्यकर्म के उदय का, ससारी आत्मा के विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण को कर्म कहा भी जाता है तो वह मात्र उपचार से ही कहा जायगा, परमार्थ से नही। यह हमारे पूरे समाधान का स्पष्टीकरण है, इसलिये उक्त शका से हमारे समाधान को समीक्षक द्वारा अप्रासगिक कहना कोरी कल्पना ही है।

हमने पूर्वोक्त इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए जो समयप्राभृत गाथा ८० से ८२ तक की गाथायें उद्धृत की थी सो वे गाथायें इसी आशय से उद्धृत की थी। किन्तु इसका हमे खेद है कि (शकाकार) ठीक आशय को न समझकर अपनी रट लगाये जा रहा है। अस्तु।

(२) आगे समीक्षक ने अपनी प्रथम शका के आशय को स्पष्ट करने के अभिप्राय से जो यह लिखा है—"इस प्रश्न का आशय यह था कि जीव मे जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुये प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, क्या वे द्रव्य कर्मोदय के बिना होते हैं या द्रव्य कर्मोदय के अनुरूप होते हैं। ससारी जीव का जन्म, मरण रूप चतुर्गतिभ्रमण दिखायी दे रहा है, क्या वह भी कर्मोदय के आधार से हो रहा है, या जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है ? समीक्षा १, पृ०-१

समीक्षक के इस वक्तव्य मे मुख्यत दो बातें विचारणीय हैं —

(अ) क्या वे (विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण) द्रव्य कर्मोदय के बिना होते हैं या द्रव्य कर्मोदय के अनुरूप होते हैं। (पृ०-१)

(ब) ससारी जीव का जो जन्म मरण रूप चतुर्गतिभ्रमण दिखायी दे रहा है, क्या वह भी कर्मोदय के अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है।

(अ) प्रथम बात के विचार के उत्तरस्वरूप यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कर्मोदय कर्म मे होता है और विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण जीव मे होता है, इसलिये परमार्थ से

यदि यह कहा जाता है कि विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण जीव मे कर्मोदय के विना होता है तो यह कहना आगम विरुद्ध नहीं है। इसी वात को स्पष्ट करते हुये समयसार मे कहा भी है —

"एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १३८ ॥"

पुद्गल द्रव्य एक का कर्मरूप परिणाम होता है, इसलिए जीव भावरूप निमित्त से भिन्न ही वह पुद्गल कर्म रूप परिणाम है।

वे (विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमण) कर्मोदय के अनुरूप होते हैं, यह कहना भी असद्भूत व्यवहार है परामर्थ नही, क्योकि विकार भाव व चतुर्गतिभ्रमण जीव का परिणाम है जिसे जीव ने स्वय किया है और कर्मोदय पुद्गल का परिणाम है जिसे पुद्गल ने स्वय किया है। इसलिए जीव के परिणाम को पुद्गल के द्वारा किया जाना कहना परमार्थ कैसे वन सकता है ? असद्भूत व्यवहार से ऐसा कहने मे हमे कोई आपत्ति नही है।

(व) दूसरी वात का जव विचार करते हैं तो यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि परमार्थ से कोई किसी के अधीन होकर वर्तता ही नही, इसलिए "ससारी जीव का विकारभाव व चतुर्गति भ्रमण कर्मोदय के अधीन हो रहा है", यह कहना भी असद्भूत व्यवहार ही है। वस्तुत ससारी जीव स्वय ही अपने अज्ञानभाव के कारण असद्भूत व्यवहार से कर्मोदय को निमित्त कर परिणमन करता हुआ अपने को कर्मोदय के अधीन मानता आ रहा है, इसलिए ससारी जीव का अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण यदि कहा जाय तो उसमे कोई वाधा नही दिखाई देती, क्योकि जीव के जितने भी कार्य होते हैं वे व्यवहार निश्चय से पाँचो के समवाय में ही होते हैं-यह आगम है, इसलिए विवक्षा भेद से अपनी उक्त योग्यतानुसार यह कार्य हो रहा है—यह कहना भी वन जाता है। इसमे आगम से कोई वाधा नही आती।

(३) समीक्षक ने आगे जो कुछ लिखा है—"यदि क्रोधादि विकार भावो को कर्मोदय विना मान लिया जावे तो उपयोग के समान वे भी जीव के स्वभाव भाव हो जावेगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावो का नाश न होने से मोक्ष के अभाव का प्रसग आ जावेगा। (समीक्षा पृ०२) सो समीक्षक का ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि क्रोधादि विकारी भावो को जीव स्वय करता है, इसलिए निश्चय नय से वे परनिरपेक्ष ही होते हैं, इसमे सन्देह नही। कारण कि एक द्रव्य के स्वचतुष्टय मे अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय का अत्यन्ताभाव है। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर श्री जय-धवला की पु० पृ११७ मे कहा है—

"........कारण निरवेक्खो वत्थु परिणामो"

अर्थ—प्रत्येक वस्तु का परिणाम वाह्य कारण निरपेक्ष होता है, किन्तु जिस समय जीव क्रोधादि भाव रूप से परिणमता है उस समय क्रोधादि द्रव्य कर्म के उदय की क्रोधादि भावो के साथ कालप्रत्यासत्ति होती है, इसलिए असद्भूत व्यवहार से क्रोधकषाय के उदय को निमित्तकर जीव ने क्रोधभाव किया, यह कहा जाता है। इसलिए उपयोग के समान क्रोधादि विकारी भाव जीव के स्वभाव नही ठहरते। अत सहज स्वभाव का अवलम्बन करने पर क्रोधकपाय के उदय के अभाव के

साथ ही इन क्रोधादि भावो का अभाव हो जाने से क्रम से मोक्ष की व्यवस्था भी बन जाती है, क्योकि ऐसा नियम है कि जिस समय यह जीव पूर्ण विज्ञान घनरूप से परिणमता है, उस समय सभी कर्मों का अभाव होकर मोक्ष की प्राप्ति नियम से होती हुई प्रतीति मे आती है।

(४) समीक्षक जिस बात का हम पहले समाधान कर आये हैं, उसका उल्लेख करते हुए पुन इसी बात को दोहराते हुए लिखता है—"यह तो सर्वसम्मत है कि जीव अनादिकाल से विकारी हो रहा है। विकार का कारण कर्मबन्ध है, क्योकि दो पदार्थों से परस्पर बन्ध बिना विकार नही होता। कहा भी है—"द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् ।" (समीक्षा पृ०-१)।

यद्यपि इस शका का हम पहले प्रतिशंका ३ का उत्तर लिखते समय समाधान कर आये है, फिर भी वह उसे पुन उपस्थित कर रहा है, इसलिए पूर्व मे किये गये समाधान को ध्यान मे रखकर यहाँ पुन इसका समाधान किया जाता है—

समीक्षक का कहना है कि 'अनादिकाल से जीव विकारी हो रहा है। विकार का कारण कर्मबन्ध है। इसके समाधान स्वरूप हमारा इतना ही कहना है कि विकार का कारण कर्मबन्ध है यह तो उपचार से ही कहा जाता है। यह कथन परमार्थ से देखा जावे तो स्वय जीव ही अपने अज्ञान के कारण विकार का कर्ता हो रहा है। समीक्षक ने जो पद्मनन्दि पचविशति का 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत' यह वचन उद्धृत किया है तो यह वचन भी असद्भूत व्यवहार और निश्चय दोनो को ध्यान मे रखकर ही लिखा गया। परमार्थ से देखा जावे तो आत्मा ही आप अज्ञानभाव के कारण विकार का कर्ता होता है, और असद्भूत व्यवहार से देखा जावे तो जो भी विकार उत्पन्न होता है असद्भूत व्यवहार नय से परको निमित्त कर ही होता है। यही उस वाक्य का अर्थ है।

(५) यहाँ तक हमने, समीक्षकने अपनी शकाओ को दुहराते हुये जो उद्धरण उपस्थित किये हैं, उनका पुन समाधान किया है। आगे उसने जो अपनी शका के आशय को स्पष्ट किया है, उसका आशय स्पष्ट किया जाता है ?

(६) समीक्षक अपनी शका को स्पष्ट करते हुए (समीक्षा पृ०३) जो यह लिखता है कि उत्तर पक्ष को अपना उत्तर या तो ऐसा देना चाहिये था कि द्रव्य कर्म का उदय ससारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण मे निमित्त होता है अथवा ऐसा होना चाहिए था कि वह उसमे निमित्त नही होता है—ससारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गति द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त हुए बिना अपने आप ही होता रहता है। (समीक्षा पृ०३)

इसके समाधान स्वरूप हमारा कहना यह है कि समीक्षक आदि ने अपनी पहली शका उपस्थित की थी, उससे यह स्पष्ट झलकता था कि जीव का विकार भाव कर्मोदय से ही होता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि जीव जब परलक्षी दृष्टि अपनाता है, तब कर्मोदय को निमित्त

---

[1] सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति तथा तथा-स्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यो निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति।

स० प्रा०, गा० ७३ आत्मख्याति टीका।

कर जीव स्वय नियम से विकार करता है और कर्मोदय तथा अन्य कोई पदार्थ उसमे निमित्त होता है। यही कारण है कि हमे विवश होकर उस एकांगी शका का उक्त समाधान करने के लिए उस रूप में वाध्य होना पडा था। यद्यपि हमने समयसार की ८० से ८२ तक की तीन गाथाये शकाकार पक्ष के सामने इसलिये उपस्थित की थी कि उनको ध्यान मे लेकर शकाकार हमारे समाधान के आशय को स्वीकार कर लेगा और इस शका को आगे नहीं वढ़ायेगा। अन्त मे समीक्षक से हमे इतना ही निवेदन करना है कि हमे दी गयी सलाह को वे अपने तक ही सीमित रहने दें।

(अ) समीक्षा ४ पृ० ४ मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहार-नय के विपय को सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथचित् भूतार्थ और कथचित् अभूतार्थ मानता है।" इतना लिखने के वाद वह यह भी लिखता है कि "परन्तु वह प्रकृत प्रश्न के विपयसे भिन्न होनेके कारण उस पर स्वतत्र रूपसे विचार करना मगत होगा अतएव इस पर यथा अवसर विचार किया जायेगा।" (समीक्षा ८ पृ० ४)

(आ) आगे पृष्ठ ५ मे समीक्षक ने यह भी लिखा है कि "परन्तु जहाँ उत्तरपक्षने उसी कायके प्रति निमित्त कारण अयथार्थ कारण और उपचरित कर्तारूप से स्वीकृत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति मे सहायक भी न होनेके आधार पर अभूतार्थ और ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक होनेके आधार पर भूतार्थ मानता है।"

(इ) आगे इसी पृष्ठ मे वह पुन लिखता है कि "परन्तु जहाँ उत्तर पक्ष उसी कायके प्रति निमित्त कारण, यथार्थकारण और उपचरितकर्तारूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उसे कार्यरूप परिणत न होने और ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति मे सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक होनेके आधार पर भूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विपय मानता है।"

(ई) आगे पुन वह इसी पृष्ठ मे लिखता है कि "दोनो पक्षोंके मध्य विवाद केवल उक्त कार्यके प्रति उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मकी उत्तरपक्ष को मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्व पक्षको मान्य कथचित् अकिंचित्करता व कथचित् कार्यकारिता तथा कथचित् अभूतार्थता व कथचित् भूतार्थताके विपय मे हैं।"

(उ) आगे वह पृष्ठ ४ मे ही पुन लिखता है कि "उपर्युक्त विवेचनके आधार पर दो वातें विचारणीय हो जाती हैं। एक तो यह कि ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमे दोनो पक्षो द्वारा निमित्तकारणरूप से स्वीकृत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारणभूत ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर कार्यकारी माना जाय या उत्तरपक्ष की मान्यताके अनुसार उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादान कारणभूत ससारी आत्मा की कार्यरूप परिणतिमे सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अकिंचित्कर माना जाय

और दूसरी यह कि उस उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म को पूर्वपक्षकी मान्यता के अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे कथचित् अकिचित्कर व कथचित् कार्यकारी मानकर उसरूप मे कथचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ माना जाय, व इस तरह भूतार्थ और अभूतार्थरूप से व्यवहारनय का विषय माना जाय या उत्तरपक्ष की मान्यता के अनुसार उसे वहाँ पर उपर्युक्त प्रकार सर्वथा अकिचित्कर मानकर उस रूपमे सर्वथा अभूतार्थ माना जाय व इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थरूप मे व्यवहारनय का विषय माना जाय ।"

(ऊ) पृष्ठ ४ मे वह पुन लिखता है कि "परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म को उसे कार्यरूप परिणत न होने और उपादान कारणभूत ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणति मे सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अकिचित्कर मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अकिचित्कर और उपादान कारणभूत ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक होनेके आधार पर कार्यकारी मानता है ।"

(ए) पुन पृष्ठ ४ मे वह उपचार को माध्यम बनाकर लिखता है कि "यद्यपि इस विषय मे भी दोनो पक्ष के मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उपचार को सर्वथा अभूतार्थ मानता है, वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ मानता है । इस पर भी यथावश्यक आगे विचार किया जावेगा ।"

समीक्षाके नाम पर समीक्षक के ये ७ वचन हैं । इन वचनोमे समुच्चयरूपसे जिन बातो को स्वीकार किया है, वे इसप्रकार हैं —

(क) समीक्षक यह तो स्वीकार करता है कि निमित्तकारण अन्य द्रव्यके कार्यरूप से परिणत नही होता है इस अपेक्षा से वह अभूतार्थ है ।

(ख) किन्तु वह (बाह्य निमित्त) अन्य के कार्य मे सहायक अवश्य होता है, इस अपेक्षा से वह भूतार्थ है ।

(ग) इसी आधार पर वह उपचार को कथचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ कहता है ।

(घ) उसकी दृष्टि मे व्यवहारनय का सही तात्पर्य है ।

अब इस विषय मे आगम क्या है, इस पर विचार किया जाता है । आगममे कर्ताकर्मभाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव ये दो सम्बन्ध स्वीकार किये हैं । कर्ताकर्म सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये आप्तमीमासा कारिका ७५ की अष्टसहस्री टीका मे (पृ २३३) कारकागके रूपमे कर्ताकर्मभावको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "कर्ता का स्वरूप कर्मकी अपेक्षा नही करता है और कर्मका स्वरूप कर्ताकी अपेक्षा नही करता है । यदि इन दोनो के स्वरूपको परस्पर सापेक्ष मान लिया जावे तो दोनोका अभाव हो जावेगा । फिर भी कर्तापनेका व्यवहार और कर्मपनेका व्यवहार परस्पर निरपेक्ष नही होते, क्योकि कर्तापना कर्मके निश्चयपूर्वक जाना जाता है और कर्मपना भी कर्ताके ज्ञानपूर्वक जाना जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक वस्तु मे कर्ताकर्म व्यवहार असद्भूत व्यवहारनय का विषय न

होकर आगम मे सद्भूत व्यवहारनयकी विवक्षामे स्वीकार किया गया है। अष्टसहस्री का वह वचन इसप्रकार है —

"न हि कर्तृस्वरूप कर्मापेक्ष कर्मस्वरूप वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्प्रसगात्। नापि कर्तृ-व्यवहार कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्ष, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसपद्यमानत्वात् कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्।"

परिक्षामुख में अविनाभावका निरूपण करते हुये लिखा है :—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव'। (प्रमेय रत्नमाला ३-१६)

अविनाभाव दो प्रकार का है—सहभावनियम अविनाभाव और क्रमभावनियम अविनाभाव।

वहीं सहभावनियम अविनाभावका स्पष्टीकरण करते हुये लिखा है —

सहचारिणो व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव (प्रमेय रत्नमाला ३-१७)

सहचारी जैसे रूप और रसमे सहभाव नियम अविनाभाव है तथा व्याप्य-व्यापक जैसे वृक्ष और सीसोन्मे व्याप्य-व्यापकनियम अविनाभाव है।

इसी आधार पर समयसारमे कर्ताकर्म अधिकारका निरूपण करते हुये कर्तकर्मभाव मे व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध सूचित किया गया है। वह व्याप्य-व्यापक नियम अविनाभाव के अन्तर्गत ही आता है। इससे स्पष्ट है कि कर्तृकर्मसम्बन्ध सद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है। यथा—

"व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति'। (कलश ४६)

उसका अर्थ—व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपवस्तुमे ही होती है, अतत्स्वरूप वस्तु मे नही ही होता अत व्याप्यव्यापकभावके सभवके विना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ता-कर्मकी स्थिति नही ही होती।

पूर्वमे दिये गये इन प्रमाणोसे स्पष्ट होजाता है कि परमार्थसे कर्ता-कर्मभाव सम्बन्ध एक द्रव्यमे ही घटित होता है, दो द्रव्यो मे नही। इसलिये जहाँ भी आगममे प्रयोजन विशेषको ध्यानमे रखकर दो द्रव्योके आश्रयसे कर्तृ-कर्मभावका उल्लेख किया है, वहाँ वह उपचारसे ही कहा गया है, ऐसा समझ लेना चाहिये। इसका आशय यह है कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यमे परमार्थसे सहायक नही होता, फिर भी उसकी सहायतासे यह कार्य हुआ है यह व्यवहार किया जाता है जो असद्भूत होनेसे आगममें उपचरित ही माना गया है। इसी तथ्यको ध्यानमे रखकर निमित्त नैमित्तिक भावको स्पष्ट करते हुये समयसारमे यह वचन उपलब्ध होता है। यथा —

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पोग्गला परिणमति।
पोग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमवि॥८०॥

अर्थ —यहाँ गाथा के पूर्वार्ध मे "हेतु" शब्द निमित्तके अर्थमे आया है। इसलिये इस गाथा का अर्थ है —

जीवके परिणामका निमित्त कर पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमित होता है।

इसप्रकार कर्म और जीव के परिणामो मे तथा जीवके परिणाम और कर्मने इन दोनो मे परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव है—कर्तृकर्मभाव नही। यह बात आगे की गाथासे भलीप्रकार स्पष्ट हो जाती है। वह गाथा इसप्रकार है —

"ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्ह पि ॥८१॥

अर्थ —जीव कर्मभावको उत्पन्न नही करता, उसीप्रकार कर्म भी जीवभाव को उत्पन्न नही करता, फिर भी परस्परके निमित्तसे दोनोका परिणाम होता है—ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ कर्तृ-कर्मभाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव मे जो अन्तर है, उसे आचार्यदेवने स्वय स्पष्ट कर दिया है। यही कारण है कि जहाँ कर्तृ-कर्मसम्बन्ध सद्भूत व्यवहारनयका विषय आगममे स्वीकार किया गया है, वही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको आगममे असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि जिसे हम निमित्त कहते हैं, वह स्वय कार्यरूप परिणमित न होने से कार्यद्रव्य के स्वचतुष्टयसे बहिर्भूत है और इसीलिये उसे सहायक अर्थात् निमित्त कहना भी अभूतार्थ है तथा जिसे नैमित्तिक कहते हैं वह भी निमित्तरूप व्यवहारको प्राप्त द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न होने के कारण नैमित्तिक भी उपचार से ही कहा गया है, भूतार्थ से नही।

फिर आगम मे निमित्त-नैमित्तिक भाव क्यो स्वीकार किया गया है? इसका मुख्य कारण काल प्रत्याशित को छोडकर अन्य कोई दूसरा कारण नही है। समयसार की ८४वी गाथा मे इसी काल प्रत्यासत्ति के स्थान मे उक्त दोनो के मध्य बाह्य व्याप्ति स्वीकार की गयी है। आगम मे जो यह सकेत दृष्टिगोचर होता है कि बाह्यनिमित्त कार्य के अनुकूल होता है, सो यह कथन भी असद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है। परमार्थ से देखा जावे तो न बाह्यनिमित्त कार्य के अनुकूल होता है और न ही कार्य बाह्य निमित्त के अनुरूप होता है। एक को अनुकूल कहना और दूसरे को अनुरूप कहना, यह भी असद्भूत व्यवहार ही है।

इस प्रकार कर्त-कर्म भाव और निमित्त-नैमित्तिक भाव मे क्या अन्तर है इसका स्पष्टीकरण करने के बाद आगे उन चार मुद्दो पर अलग-अलग विचार किया जाता है, जिनका क, ख, ग, घ, मे पहले निर्देश कर आये हैं।

(क) यह प्रसन्नता की बात है कि समीक्षक भी जिसमे निमित्त व्यवहार किया गया है, वह अपने से भिन्न अन्य द्रव्य के कार्यरूप परिणत नही होता है, इसे स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ मिट्टी के अपने परिणामस्वरूप के कारण स्वय घटरूप परिणत होने पर कुम्भकार (बाह्य निमित्त) स्वय घट नही बन जाता इसे समीक्षक इसी रूप मे मानता है, यह, प्रसन्नता की बात है।

(ख) समीक्षक बाह्य निमित्त को अन्य द्रव्य के कार्य मे सहायक मानकर इस अपेक्षा से उसे (बाह्य निमित्त) को भूतार्थ मानता है। अत यह विचारणीय हो जाता है कि बाह्य निमित्त अन्य

द्रव्य के कार्य मे परमार्थ से सहायक होने से भूतार्थ है या सहायक होने का असद्भूत व्यवहार अर्थात उपचार होने से वह सहायक है। आगे इसी विषय पर सप्रमाण विचार किया जाता है।

अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य मे सहायक हो नही सकता, क्योकि प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टय अपने-अपने मे ही होते हैं और जब एक द्रव्य का स्वचतुष्टय अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टयरूप होता ही नही, ऐसी अवस्था मे अन्य द्रव्य के कार्य मे तद्भिन्न अन्य द्रव्य परमार्थ से सहायक होकर भूतार्थ कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नही माना जा सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द समयसार मे लिखते है कि—यदि जीव के साथ मिलकर ही पुद्गल द्रव्य का कर्म परिणाम होता है तो ऐसा होने पर जीव और पुद्गल दोनो कर्मभाव को प्राप्त हो जावेंगे। और यदि एक द्रव्य पुद्गल का ही कर्मरूप से परिणाम माना जावे तो जीवभाव को हेतु किये बिना ही पुद्गल का कर्मरूप परिणाम होना नियम से मानना होगा। (स० सा० गा० १३७-३८)

यह वस्तुस्थित है। इसे ध्यान मे लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाथ से एक ही द्रव्य स्वय ही अन्य की अपेक्षा किये बिना विवक्षित कार्यरूप परिणमित होता है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य का कार्यरूप परिणमना, यह उनका अपना स्वभाव है और इसी कारण आचार्यों ने वस्तु के वस्तुत्व का स्पष्टीकरण करने के अभिप्राय से उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"अर्थक्रिया कारित्व हि वस्तुनो वस्तुत्वम्", अर्थात् प्रत्येक समय मे काम करते रहना यह प्रत्येक वस्तु का वस्तत्व है। इसके साथ ही वे (आचार्य) यह भी लिखते है कि "स्वोपादानपरापोहन हि वस्तुनो वस्तुत्वम्" अर्थात् स्व को ग्रहण करके रहना और पर को अपने से दूर रखना यह भी प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व है।

"ऐसी अवस्था मे निमित्तकारण अन्य द्रव्य के कार्य मे सहायक होता है, इस अपेक्षा से वह भूतार्थ है।" समीक्षक का यह कहना कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है ? अर्थात् नही माना जा सकता है। इसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को ध्यान मे रखकर (सर्वार्थ-सिद्धि अ ५ सू ११ की टीका मे) यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि धर्मादि द्रव्यो का आधार लोकाकाश है तो आकाश द्रव्य का दूसरा कौन आधार निमित्त है ? इसके उत्तर स्वरूप वहा कहा गया है कि आकाश का अन्य दूसरा द्रव्य आधार नही है, वह स्वप्रतिष्ठ है। इस पर पुन यह शका की गयी है कि यदि आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिये यदि धर्मादिक द्रव्यो का अन्य आधार कल्पित करते हैं तो आकाश द्रव्य का भी अन्य आधार कल्पित करना चाहिये। और ऐसा होने पर अनवस्था दोप का प्रसग आता है। इसका समाधान करते हुए आचायदेव लिखते हैं कि यह कोई दोप नही है, क्योकि आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य द्रव्य नही पाया जाता जिसमे आकाश को स्थित कहा जावे। वह सबसे बडा अनन्त स्वरूप है, इसलिए धर्मादिक द्रव्यो का व्यवहारनय से आकाशद्रव्य अधिकरण कहा जाता है, एव भूतनय की विवक्षा मे तो सब ही द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है आप कहाँ रहते हैं ? अपने मे। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नही पाये जाते इतना ही, आधार आधेय कल्पना करने का फल है। इस कथन से निश्चित होता है कि बाह्य द्रव्य मे स्वरूप से निमित्ता नही हुआ करती, माना काल प्रत्यासत्ति के आधार पर उसे उपचार निमित्त कल्पित किया जाता है, इसलिये नैगम रूप द्रव्यार्थिक की अपेक्षा उसकी परिगणना नो कर्म में की जाती है।

यदि कहा जावे कि यह उदाहरण उदासीन कारणकी विवक्षा मे दिया गया है। अतएव वह वैसा ही है जैसा यह कहना कि चौकी पर पुस्तक रखी है तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि चाहे विस्रसा निमित्त हो या प्रायोगिक पुरुष का योग और उपयोगरूप प्रायोगिक निमित्त हो, निमित्त किसी प्रकार का भी क्यो न हो, कार्य के प्रति उदासीन ही होता है, क्योकि वह (निमित्त) कार्यकाल मे होने वाली अपनी क्रिया को छोडकर कार्यरूप परिणत अन्य द्रव्य की क्रिया मे सर्वथा असमर्थ ही रहता है। जैसे मिट्टी स्वय परिणमन करके घट बनती है, वैसे कुम्भकार स्वय योग और उपयोगरूप क्रिया को छोडकर मिट्टी रूप परिणमन करके घट नही बनता, वह कु भकार ही बना रहता है। अत जैसे मिट्टी स्वय घटरूप परिणामी है, वैसे कु भकार स्वय घटरूप नही परिणमा है। मिट्टी की घटरूप क्रियासे भिन्न ही कु भकार का उकडू बैठना, हाथो को हिलाना और विकल्पका करना आदि रूप ही क्रिया हुई है, घटरूप क्रिया नही हुई। यही कारण है कि समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका मे कु भकार को घटरूप क्रिया करनेवाला न कहकर असद्भूत व्यवहारसे घटकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करनेवाला ही कहा गया है।[1] यही कारण है कि समीक्षक के "निमित्त कारण अन्यके कार्यमे सहायक होकर भूतार्थ है।", इस मान्यताका निरसन करनेके लिये बाध्य होना पडा है। कल्पित मीमासक बन कर उसने "जैनतत्त्व मीमासाकी मीमासा" नामक एक पुस्तक लिखी है उसके पृष्ठ २६८ मे वह लिखता है कि

(१) "हम लोगोका आगम, अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्कके आधार पर यह कहना है कि अनुकूल उपादानगत योग्यता और उसकी कार्याऽव्यवहितपूर्व पर्याय विशिष्टता विद्यमान रहने पर ही कार्योत्पत्ति होगी, लेकिन उपादानके इस स्थितिमे पहुँच जाने पर भी उसमे नाना कार्योंकी उत्पत्ति सभव रहनेके कारण वही कार्य उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक सामग्री का अभाव होगा।"

(२) इन्होने इसी आशय का कथन इसी पुस्तक के पृ० २६९ मे भी किया है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये पृ० २७२ मे वे पुन लिखते हैं "इस बात को ध्यान मे रखकर गाथा का अभिप्राय यही निकलता है कि कार्य से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय कारण कहलाती है और इस पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य कहलाती है, लेकिन कार्य वही उत्पन्न होगा, जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक सामग्री का अभाव वहाँ पर होगा।"

(३) पृ० २७८ मे मीमासक पुन लिखता है कि "इस सब विवेचन का सार यह है कि विवक्षित कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय उस विवक्षित काय की नियामक कदापि नही हो सकती है, किन्तु उसकी नियामक अन्य सामग्री ही होती है।" आगे वह इसी पृष्ठ मे यह भी लिखता है —"क्योंकि पूर्व परिणमन को यदि उत्तर परिणमन का नियामक माना जायगा तो समान परिणमन होते-होते जो यकायक असमान परिणमन होने लगता है, उसकी असगति हो जायेगी।"

(४) मीमासक वरैया ग्रन्थमाला पृष्ठ २३४ मे लिखता है कि "जब जैनदर्शन मे प्रत्येक अभाव को भावान्तर स्वभाव से ही माना गया है, तो प्रकृत मे ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयरूप प्रध्वसाभाव को उनकी अकर्मरूप उत्तरपर्याय के रूप मे ग्रहण करना सूत्रधार के आशय के कदापि विरुद्ध नही हो सकता है।"

---

१ कुम्भसम्भवानुकूल व्यापार कुर्वाण (स सा जा ८४ आत्मख्याति टीका)

(५) पृष्ठ २८० मे मीमासक का यह भी कहना है कि "परावलम्बनवृत्ति को उक्त उभय विद्वान् उपचरित अर्थात् कथनमात्र मानने का भले ही आग्रह करते रहे, लेकिन यह बात निश्चित है कि वह परावलम्बनवृत्ति जब जीव के वास्तविक ससार का कारण है तो ऐसी स्थिति मे उसे उपचरित (कथन मात्र) कैसे माना जा सकता है ? तीसरे इससे जीव के ससार की सृष्टि मे निमित्तों की आश्रितता सिद्ध हो जाने से" कार्य केवल उपादान के बल पर ही उत्पन्न होता है "इस सिद्धान्त का व्याघात होता है।"

(६) पृष्ठ २८८ मे वह यह भी लिखता है कि "जीव और पुद्गल की मिलावट का नाम ससार कहलाता है और उसके नष्ट हो जाने अर्थात् जीव और पुद्गल के पृथक्-पृथक् हो जाने का नाम मोक्ष है।" .. .. . . आगे इसी पृष्ठ मे वह पुन लिखता है कि "जड और चैतन्य सम्पूर्ण पदार्थ परिणमन स्वभाव वाले होने के कारण जहाँ अपनी स्वतन्त्रता के आधार पर क्षणभावी स्वप्रत्यय परिणमन सतत करते रहते हैं, वहाँ वे सभी प्रकार के परिणमन स्वभाव वाले होने के कारण ही यथासम्भव स्पृष्टता या बद्धता के आधार पर यथायोग्य क्षणमात्र वाले और नानाक्षण वाले स्वपर प्रत्यय परिणमन भी सतत करते रहते हैं। इसी आधार पर नाना वस्तुओ मे आधाराधेय-भाव व निमित्त-नैमित्तिकभाव की सिद्धि होती है। ये सम्बन्ध यद्यपि नाना वस्तुओ के आधार पर होने के कारण व्यवहारनय के विषय सिद्ध होते हैं, फिर भी ये वास्तविक हैं, गधे के सीग या वन्ध्या-पुत्र के समान अवास्तविक असत्य या कथन मात्र नही हैं।"

(७) पृष्ठ २८९ मे वह लिखता है कि "फिर भी प्रत्येक पदार्थ के स्वपर प्रत्यय परिणमन मे स्व के साथ परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा रहने के कारण पर पदार्थ की कारणता का निषेध किसी भी हालत मे नही किया जा सकता है।"

(८) पृष्ठ २९० पर उसका यह भी कहना है कि "एक बात यह भी विचारणीय है कि जीव का सचेतन अचेतन विविध प्रकार के पदार्थों मे जो अहकार या ममकार होता है, उसका अवलम्बन ये सब पदार्थ ही हुआ करते हैं।"

(९) पृष्ठ २९१ पर उसका यह भी कहना है कि "फिर दण्ड चक्र आदि साधन सामग्री के सहारे पर बुद्धि पूर्वक किये गये अपने व्यापार से ही मिट्टी मे घट निर्माण क्रिया उत्पन्न होने सम्बन्धी अनुभव के आधार पर उस प्रकार का व्यापार किया जाना आदि सब प्रकार का प्रयत्न क्या मूर्खता का ही कार्य समझ लिया जाना चाहिये।"

(१०) पृष्ठ २९३ मे वह यह भी कहता है कि "यदि कहा जाय कि लौकिक कार्यों मे विद्यमान निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्य-कारण भाव का निषेध जैनतत्व मीमासा मे नही किया गया है, केवल इतनी बात है कि मुक्ति पाने के लिये जीव का निमित्त की आवश्यकता नही है और न निमित्त सामग्री की अपेक्षा रखने वाला जीव कभी मुक्ति पा ही सकता है। इस तरह केवल मुक्ति पाने की दृष्टि से ही जैनतत्त्व मीमासा पुस्तक लिखी गयी है, तो इस सम्बन्ध मे भी मेरा यह कहना है कि निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के विषय मे जो कुछ जैनतत्त्व मीमासा मे लिखा गया है, उसमे लौकिक और पारमार्थिक दृष्टियो का भेद दिखलाने का कही प्रयत्न नही किया गया है। दूसरी

बात यह है कि मुक्ति के सम्बन्ध मे निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्यकारण भावके विचार की आवश्यकता नही है। इस बात का निषेध पूर्व मे किया जा चुका है, और आगे भी किया जायेगा। इसलिये यहांपर मैं इतना ही कहना चाहता हू कि मुक्ति भी जीव की स्वपर प्रत्यय पर्याय है। अत उसकी प्राप्ति के लिये भी निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्य कारण भाव पर दृष्टि रखना अनिवार्य हो जाता है।"

(११) पृष्ठ २९७ मे उसका यह भी कहना है कि "यद्यपि निश्चय रत्नत्रय से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहार रत्नत्रय के आधार पर ही होती है।"

(१२) पृष्ठ ३०१ मे उसका यह भी कहना है कि "जीव की वस्तुत्व व्यवस्था के प्रति" यह ऐसा ही है "इस तरह की आस्था हो जाना यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है और उसके आधार पर ही उसकी आत्मकल्याण मे रुचि जाग्रत हो जाना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है" आदि।

(१३) पृष्ठ ३०९ मे उसका यह भी कहना है कि "शुभ योग वह है जो दानान्तराय लाभान्त-राय, भोगातराय और उपभोगातराय कर्मों का सातिशय क्षयोपशम तथा पुण्यकर्म का उदय रहने पर होता है और अशुभयोग वह है जो दानान्तराय लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मों के मन्द क्षयोपशम तथा पापकर्मों का उदय होने पर होता है।"

(१४) पृष्ठ ३१७ मे उसका यह भी कहना है कि "सप्तम गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक के जीवो के सज्वलन कषाय का उत्तरोत्तर मन्द मन्दतर और मन्दतम उदय रहने के कारण आरम्भी पापरूप पापाचरण के त्याग की विशेषता होती जाती है और १०वें गुणस्थान के अन्तिम समय मे तो सज्वलन कषाय का भी पूर्णतया उपशम या क्षय हो जाने के कारण समस्त आरम्भी पापरूप पापाचरण का सर्वथा अभाव हो जाता है, अत एकादस गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक के जीव यथाख्यात चारित्र के धारक निश्चय सम्यक्चारित्री हुआ करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एकादश गुणस्थान से पूर्व पचम गुणस्थान से लेकर दसम गुणस्थान तक के जीव आरम्भी पापरूप पापाचरण के त्यागरूप मे व्यवहार सम्यक्चारित्री हुआ करते हैं।"

(१५) पृष्ठ ३२० मे उसका यह भी लिखना है कि "सप्तम गुणस्थान से लेकर दसम गुणस्थान तक जो पुण्याचरण रहता है, वह केवल धर्मध्यान के रूप मे ही वहाँ रहता है और यही कारण है कि दसम गुणस्थान तक धर्म ध्यान का सद्भाव आगम मे स्वीकार किया गया है।"

(१६) पृष्ठ ३२५ मे वह लिखता है कि "पण्डितजी की मान्यता के अनुसार यदि उपचरित कथन अनुपचरित अर्थ की सिद्धि का कारण है तो वह निरर्थक या कथन मात्र कैसे हो सकता है?"

(१७) पृष्ठ ३३३ मे उसका कहना है कि "जैसे मिट्टी मे जिसप्रकार कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है, उसीप्रकार कुम्भकार व्यक्ति मे भी कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है। परन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि मिट्टी कुम्भ की कर्ता इस दृष्टि से है कि वह कुम्भ रूप परिणत होती है और कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ का कर्ता इस दृष्टि से है कि वह मिट्टी के कुम्भ रूप परिणत होने मे सहायक होता है।"

(१८) पृष्ठ ३४३ मे उसका कहना है कि "सभी कार्यों की उत्पत्ति मे प० फूलचन्दजी द्वारा उक्त स्वभाव आदि सभी के समवाय को कारण मानना असगत है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य का प्रतिक्षण जो षड्गुण हानि-वृद्धि रूप स्व पर प्रत्यय परिणमन हो रहा है, उसमें निमित्तो की कारणता प्राप्त नही है।"

(१९) पृष्ठ ३५४ में उसका यह भी कहना है कि "वस्तु की शुद्ध पर्याय पर निरपेक्ष (केवल स्व प्रत्यय) होते हुये भी कालनिमित्तक तो वह है ही "काल किसी भी वस्तु के किसी भी परिणामनमे निमित्त नही होता है।" • केवल इतना अवश्य है कि काल उस परिणमन का समय, आवलि आदि के रूपमे विभाजन मात्र करना रहता है।" • परन्तु स्वप्रत्यय परिणमन में काल के अन्वय-व्यतिरेक के घटित होने की कभी सभावना नहीं है।

(२०) पृष्ठ ३५६ मे वह लिखता है कि "परन्तु वास्तविकता यही है कि उपादान हमेशा द्रव्य ही हुआ करता है। वह पर्याय विशिष्ट ही होता है यह दूसरी वात है लेकिन पर्याय तो कार्य मे ही अन्तर्भूत होती है, वह उपादान कभी नही होती।"

ये कुल २० वचन हैं। इन्हे जैनतत्व मीमासाके मीमासक ने अपने मतकी पुष्टि मे जैनतत्व मीमासा की मीमांसा नामक पुस्तक मे निवद्ध किया है। अव यहाँ उन पर क्रमश विचार किया जाता है। उनमे न० १, २, ३ और १७ के जो वक्तव्य हैं, जिनमे उपादान की ओर दुर्लक्ष्य करके मीमासक ने मात्र निमित्त के वल पर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार की है। उपादान को वह मात्र "उसमे कार्य होता है" इस रूप मे स्वीकार करता है, या उपादान मे वह नाना उपादान शक्तियों का सद्भाव स्वीकार करता है (वरैया ग्रन्थ १६) अन्यथा वह यह कभी नही लिखता कि उसमे (उपादान मे) नाना कार्यों की उत्पत्ति सभव रहनेके कारण वही कार्य उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्त कारण सामग्री का सद्भाव और वाधक कारण सामग्री का अभाव होगा या वह (वक्तव्य न० १७ वरैया, पृष्ठ ३३३) के अनुसार यह भी कभी नही लिखता कि "जैसे मिट्टी मे जिसप्रकार कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है, उसीप्रकार कुम्भकार व्यक्तिमे भी कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है।" सम्भवत वह अपने इन्ही अभिप्रायोको ध्यान मे रखकर अपनी समीक्षा पृष्ठ ५ मे निमित्तको सहायक रूप मे भूतार्थ स्वीकार करता है।- अत यहाँ पर मीमासक के द्वारा प्रतिपादित सभी मुद्दो को ध्यान मे रखकर सप्रमाण विचार किया जाता है।

उसमे भी सर्वप्रथम हम उपादान के लक्षण पर आगमानुसार सप्रमाण विचार करते हैं

अष्टसहस्त्री पृष्ठ १०० मे प्रागभाव और उपादान को एक वतलाते हुये ऋजुसूत्रनयसे लिखा है —

"ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोऽनन्तरात्मा।"

ऋजुसूत्रनयकी विवक्षा से तो कार्य का उपादान परिणाम अनन्तर (अव्यवहित) पूर्व पर्याय ही प्रागभाव है। अष्टसहस्त्री के इस वचन द्वारा तो अव्यवहित पूर्व पर्यायको ही विवक्षित कार्य का उपादान स्वीकार किया गया है और ऐसा स्वीकार करते हुये न तो उपादानमे एक काल मे अनेक कार्य करने की शक्तिया स्वीकार की गयी हैं और न ही उपादान को जव जैसा निमित्त

मिलता है, उसके अनुमार कार्य करना स्वीकार किया गया है। किन्तु उपादानके उक्त लक्षणसे तो यही स्पष्ट होता है कि प्रत्येक कार्य का सुनिश्चित उपादान होता है और उससे विवक्षित उपादान के अनुरूप ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से उसी समय उस कार्य का निमित्त रहता ही है, क्योकि दोनो के सद्भाव मे वह कार्य होगा ऐसा नियम है। काल प्रत्यासत्ति का भी यही अर्थ है तथा कार्य के प्रति वाह्येतर उपाधि समग्रता का भी यही अर्थ है।

तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे उपादानके दो भेद किये गये हैं—एक असमर्थ उपादान और दूसरा समर्थ उपादान। उनमे जो समर्थ उपादान है वह अवश्य ही कार्यका जनक होता है और वह अष्टसहस्त्री के उक्त अभिप्रायानुसार अव्यहित पूर्व-पर्याययुक्तद्रव्यरूप ही होता हैं।

इस प्रकार इन दो प्रमाण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप उपादान से नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है। इसलिये मीमासक का ऐसा मानना असगत है कि "अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्तद्रव्य रूप उपादानके रहने पर भी कार्यकी उत्पत्ति निमित्तो के अनुसार ही होती है, उपादान के अनुसार नही।" तत्वार्थश्लोकवार्तिक का वह प्रमाण इस प्रकार है :—

"तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभ, कारणाला भोऽवश्य कार्यवत्वाभावात, समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्वमेवेतिचेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षाया तु पूर्वस्य लाभे नोत्तर भजनीयमुच्यते, स्वयमविरोधात्।

और इसीलिये उपादानका लाभ होने पर उत्तरवर्ती उपादेय (कार्य) का लाभ नियत नही है, क्योकि कारण नियमसे कार्यपने को नही प्राप्त होते।

शका—समर्थकारण कार्ययुक्त तो होता ही है?

समाधान—यह कहना ठीक नही है, क्योकि उसकी (समर्थकारण की) यहा विवक्षा नही है। किन्तु उसकी (समर्थकारण की) विवक्षा होने पर अव्यवहित पूर्व का लाभ होने पर उत्तर (अव्यवहित उत्तर) की प्राप्ति भजनीय नही कही जाती, क्योकि ऐसा होने मे स्वय कोई विरोध नही।

यह तत्वार्थश्लोकवार्तिकका उद्धरण है। इसमे असमर्थ उपादान और समर्थ उपादान दोनो का विधान किया गया है। हमने जैनतत्व मीमांसा मे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार "पुव्वपरिणामजुत्त" इत्यादि गाथा द्वारा समर्थ उपादानका ही विधान किया है। किन्तु मीमासकने मालूम पडता है कि उसे असमर्थ उपादान मानकर यह लिखा है कि उपादान मे नाना उपादान शक्तियां होती हैं—इसलिये जैसा निमित्त मिलता है उसके अनुसार कार्य होता है, जो योग्य नही है।

इसप्रकार इतने विवेचन स यह स्पष्ट हो जाता है कि समर्थ उपादान एक ही होता है और उससे उत्पन्न होने वाला कार्य वही होता है जिसका वह समर्थ उपादान होता है। वहाँ उस कार्य का जो भी निमित्त होता है उसमे उपादान की क्रिया करने की शक्ति ही नही होती। मात्र वह उपादान के अनुसार होने वाले कार्य का सूचक होने से उसका निमित्त कहलाता है। और इसी आधार पर निमित्तके अनुसार कार्य होता है, ऐसा व्यवहार (उपचार) किया जाता है।

प्रकृतमे मीमासक का यह भी कहना है कि "निमित्त कारण कार्यकी उत्पत्तिमे सहायक होनेसे वह भूतार्थ है।" मो उसका ऐसा कहना तो तब ही बन सकता है जब वह (निमित्त कारण)

उपादानके साथ मिलकर कार्यकी उत्पत्ति रूप क्रिया करे। परन्तु आगमके अनुसार जब दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया कर ही नही सकते ऐसी अवस्थामे निमित्तको कार्यकी उत्पत्तिमे सहायक कहना भूतार्थ न होकर अभूतार्थ ही ठहरता है। दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नही करते इसकी पुष्टि करते हुये समयसार आत्मख्याति टीकामे लिखा भी है—(कलश)

"नोभौ परिणमत खलु परिणामो नोभयो प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा॥ ५३॥

दो द्रव्य एक परिणमन नही करते, दो द्रव्योका एक परिणाम नही होता और दो द्रव्यो की एक क्रिया (परिणति) नही होती, क्योकि दो (अनेक) द्रव्य हैं वे सदा अनेक ही रहते हैं, वे बदलकर एक नही होते। आगे यह भी लिखा है कि —

"नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ द्वे कर्मणी न चैकस्य
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेक यतो न स्यात्॥ ५४॥

एक कार्य के दो कर्ता नही होते, एक द्रव्य के दो कर्म नही होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होती, क्योकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य नही होते।

इसप्रकार इन वचनोंके अनुसार तो जिसे हम निमित्त कहते हैं वह उपादानके कार्यमे परमार्थ से अणुमात्र भी सहायक नही हो सकता। हाँ, कालप्रत्यासत्तिवश उसमे (निमित्त मे) सहायकपने का असद्भूत व्यवहार अवश्य हो जाता है। उपादान द्रव्य जब अपनी क्रिया करता है उसी समय जिसे हम कार्यका निमित्त कहते हैं वह भी उपादान होकर स्वयकी क्रिया करता है। अत निमित्त उपादान के कार्य मे सहायक होता है, यह कहना या मानना उपचार ही तो ठहरता है, ऐसी अवस्था मे वह परमार्थ से उपादानके कार्यका सहायक कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार १, २, ३ व १७ नम्बर के मुद्दो के आधार पर विचार किया गया। अब मीमांसकने बरैया पृष्ठ २३४ के अनुसार ज्ञानावर्णादि कर्मो के क्षयरूप प्रध्वसाभावको उनकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय के रूप मे ग्रहण करना तत्वार्थसूत्रकार के अनुसार जो माना है उसका वैसा मानना प्रकृतमे क्यो युक्तियुक्त नही है, इस पर आगे विचार किया जाता है।

यद्यपि क्षयका अर्थ विवक्षाभेदसे उत्पाद ही होता है, परन्तु क्षय (व्यय) मे और उत्पादमे आचार्यो ने लक्षणभेद से भेद स्वीकार किया है। जैसा कि आप्त मीमासा में कहा भी है—

"कार्योत्पाद क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानदानपेक्ष खपुष्पवत्॥ ५८॥

उपादान का पूर्वाकारसे क्षय कार्य का उत्पाद ही है, क्योकि उन दोनो मे एक हेतु से होने का नियम देखा जाता है। किन्तु लक्षण भेद से वे दो हैं—वे अलग-अलग हैं। जाति आदिका अवस्थान होने से सर्वथा दो नही हैं। यदि उन दोनो को सर्वथा अनपेक्ष मान लिया जावे तो आकाश के फूल के समान उनका अभाव हो जावेगा इसप्रकार व्यय और उत्पाद इन दोनो के कथचित् एक होने पर भी लक्षणभेद से वे दो हैं, यह सिद्ध हो जाने पर भी प्रकृत मे केवलज्ञानादि की उत्पत्तिमे ज्ञानावर्णादि कर्मों का क्षय होकर सूत्रकार को अकर्म पर्यायरूप उत्पाद विवक्षित है, यह देखना है।

समीक्षक का मत है कि यहाँ ज्ञानावर्णादि कर्मोके क्षयसे सूत्रकार को अकर्म पर्यायरूप उत्पाद विवक्षित है, परन्तु विचार करने पर विदित होता है कि प्रकृत मे केवलज्ञानादि पर्यायकी उत्पत्तिमे सूत्रकार को ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षय ही विवक्षित है, अष्टसहस्त्रीमे आये हुए अष्टशती और अष्टसहस्त्री के इन वचनोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है ।

मणेर्मलादेर्व्यावृत्ति क्षय, सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्ते । तादृगात्मनोऽपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धि. । (अष्टस सहस्त्री पृष्ठ ४३)

प्रध्वसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता । सा च व्यावृत्तिरेव मणे कनकपाषणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा । (अष्टसहस्त्री पृष्ठ ४३)

मणिमेसे मलादिककी व्यावृत्ति हो जानेका नाम क्षय है, क्योकि सत्का अत्यन्त नाश नही हो सकता । उसी प्रकार आत्माकी भी, कर्मकी निवृत्ति हो जाने पर शुद्धि हो जाती है । प्रध्वसाभाव अर्थात् क्षयरूप हानि यहा अभिप्रेत है और वह मणिमेसे मलकी और कनक पाषाणमेसे किट्टादिकी निवृत्तिके समान व्यावृत्तिरूप ही है ।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार ने यहाँ पर ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयरूप प्रध्वसाभावको, उसकी अकर्मरूप उत्तरपर्याय के रूप मे ग्रहण न करके, क्षयरूप प्रध्वसाभाव को ही ग्रहण किया है यह स्पष्ट है ।

इसी प्रकार मीमासकने पृष्ट २८० (बरैया) मे मुद्दा ५ को उपस्थित करके परावलम्बन रूप वृत्तिको जो वास्तविक ससारका कारण कहकर उपचरित माननेका निषेध किया है, सो उसका ऐसा लिखना भी ठीक नही है, क्योकि परावलम्बनवृत्ति रागानुरंजित सविकल्प परिणति है, जो कि परवस्तु मे अपनेपन की कल्पना के कारण होती है और इसीलिये उसे आचार्योने उपचरित माना है । इसका अर्थ यह है कि जब परवस्तु परमार्थ से अपनी हो ही नही सकती, ऐसी अवस्था मे उसे अपना मानना या कहना, मात्र कल्पना के और क्या हो सकता है ? और ऐसी कल्पना ही अज्ञान की जननी होने से वही अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्वादिभाव ससारके कारण होते हैं, यह स्पष्ट है । इसी प्रसग से शकाकार ने यह लिखा है कि "इससे जीव के ससार की सृष्टि मे निमित्तो की आश्रितता सिद्ध हो जाने से कार्य केवल उपादानके बल पर ही उत्पन्न होता है, इस सिद्धान्त का व्याघात होता है" सो उसका ऐसा लिखना भी आगमविरुद्ध है, क्योकि किसी वस्तु मे (अपने कार्य के समय) अन्य वस्तुकी आश्रितता नही होती । अन्य द्रव्य के कार्य मे अन्य की आश्रितता मानना यह मात्र अज्ञानी का एक विकल्प है । इसलिये जो आगममे यह स्वीकार किया गया है कि निचश्यसे कार्य केवल उपादान के बल पर ही होता है, वह यथार्थ है और निमित्तसे वस्तुत कार्य होता है, यह एक अज्ञानी का विकल्प है ।

आगे पृष्ठ २८८ (बरैया) मे मीमासक ने जो जीव और पुद्गल की मिलावट को ससार लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना भी आगमविरुद्ध है, क्योकि जीव की मिथ्यादर्शनादिरूप पर्याय का नाम ही ससार है और जीव का सम्यग्दर्शनादिरूप परिणत होने का नाम ही मोक्ष है । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है —

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।। ३ ।।

धर्म के ईश्वर अर्थात् तीर्थंकर देव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से परिणत जीव को धर्म कहते हैं। अत इनकी पूर्णता का नाम ही मोक्ष है। तथा इनसे उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से परिणत जीव का नाम ससार है। इसलिये जीव और पुद्गल के मिलावट को ससार कहना मात्र उपचार को छोडकर और कुछ नही है। और वह भी जव इन दोनो का निमित्त-नैमित्तिक भाव से परस्पर सयोग होता है, तव ही इनकी मिलावट अर्थात् सयोगको उपचार से ससार कहा जाता है, क्योंकि वह वास्तविक न होनेसे उपचरित ही माना गया है। कोई भी द्रव्य अपने स्वरूपको छोडकर परस्प कभी होता ही नही, इसलिये मिलावट कहना मात्र व्यवहार ही है।

आगे इसी पृष्ठ मे मीमासकने प्रत्येक द्रव्यके परिणमन स्वभाववाले होने से अपनी स्वतत्रता के आधार पर प्रत्येक समय के परिणमन को जो मात्र स्वप्रत्यय सिद्ध किया है, सो उसका ऐसा लिखना भी यथार्थ नही है, क्योंकि जीव द्रव्यकी स्वतत्रता स्वावलम्बन के आधार पर ही वनती है और उसी आधार पर उसका सम्यग्दर्शनादिरूप स्वप्रत्यय परिणमन सिद्ध होता है। इस प्रकार के सम्यग्दर्शनादिरूप जितने भी परिणमन होते हैं, व आगममे स्वप्रत्यय ही माने गये हैं तथा जीवके ससार की परिपाटीरूप जितने भी परिणमन होते हैं या पुद्गलके स्कधरूप जितने भी परिणमन होते हैं, वे सव आगम मे स्व-पर प्रत्यय परिणमन माने गये हैं तथा उन का नाम ही विभाव पर्याय है। इसके लिये नियमसार की इस गाथा पर दृष्टिपात कीजिये —

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सा सहावपज्जाओ ।
खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ।। २८ ।।

जो अन्य निरपेक्ष परिणाम होता है वही स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय है और जो पुद्गल की स्कधरूप पर्याय होती है वह स्व-पर प्रत्यय विभाव पर्याय है।

यह पुद्गल की स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्यय पर्याय का लक्षण है। जीव द्रव्यकी विवक्षा मे भी स्वप्रत्यय पर्याय और स्व-पर प्रत्यय पर्याय का यही लक्षण है। जैसा कि नियमसार की गाथा १४ से स्पष्ट ज्ञात होता है। वहाँ लिखा है —

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ।

जीवकी पर्याय दो प्रकार की होती हैं—स्व-पर सापेक्ष पर्याय और पर निरपेक्ष पर्याय। इन्हे स्पष्ट करते हुये नियमसार गाथा १५ मे लिखा है —

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जयपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ।

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव—ये चारो विभाव पर्याय कही गयी हैं, क्योंकि इनके होने मे परावलम्बन के पूर्व कर्मरूप उपाधिकी निमित्तता स्वीकार की गयी है तथा स्वावलम्बन

के आधार पर कर्मरूप उपाधिसे रहित सम्यग्दर्शनादिरूप जितनी भी पर्यायें होती हैं, वे सब पर निरपेक्ष स्वभाव पर्याय कही गयी हैं।

इनके सिवाय ऐसी कोई अन्य षड्गुणहानिवृद्धिरूप पर्यायें नही हैं जो आगममे केवल स्वप्रत्यय पर्याय मानी गयी हो और न ही आगममे मोक्षरूप पर्यायको स्व-पर प्रत्यय स्वीकार किया गया है।

साथ ही मीमासकने जो नाना 'क्षणवर्ती' स्व-पर प्रत्यय परिणमनका उल्लेख किया है, वह भी यथार्थ नही है क्योकि जो भी व्यजन पर्यायरूप और अर्थपर्यायरूप परिणमन होता है, वह एक समयवर्ती अर्थात् समय-समयमे अन्य-अन्य ही होता है। सदृश परिणमन होने के कारण किसी पर्यायको व्यवहारनयमे अनेक क्षणवर्ती कहा जावे – यह अन्य वात है। जो भी वस्तु है, वह पर्याय की अपेक्षा समय-समय मे अन्य-अन्य ही होती है – यह अबाधित सिद्धान्त है।

अ ५ सू ७ की सर्वार्थसिद्धि टीकामे उत्पाद के दो भेद किये गये हैं—एक स्वप्रत्यय उत्पाद और दूसरा परप्रत्यय उत्पाद। इनका विवेचन करते हुये वहाँ लिखा है — आगमकी प्रमाणता से जाननेमे आने वाले तथा षड्गुणी हानि और वृद्धि के द्वारा प्रवृत्त होने वाले अनत अगुरुलघु गुणो का स्वभावमे उत्पाद और व्यय होता है तथा घोडे आदि की गति स्थिति और अवगाहन मे हेतु होनेसे क्षण-क्षण में उनमे भेद पडने के कारण उनका हेतु भी अन्य-अन्य होता है – इस प्रकार परसापेक्ष भी उनमे उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है, वह उद्धरण इस प्रकार है —

द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागम प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्धयाहान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेतेषामुत्पादो-व्ययश्च ॥ परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्क्षणे क्षणे तेषा भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते ॥

अत यह प्रकरण धर्मादिक तीन द्रव्यो का है और धर्मादिक तीन द्रव्योकी स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याप्त होनेका नियम है, यहाँ जो षड्गुणहानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय कही गयी है वह धर्मादिक तीन द्रव्यो की उसी तरह की स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय जाननी चाहिये जैसी कि जीव द्रव्यकी सवर, निर्जरा और मोक्षरूप स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय होती है तथा जिस प्रकार जीवकी इन तीनो प्रकारकी पर्यायोको उपशम और क्षय निमित्तक कहा जाता है। उसी प्रकार प्रकृतमे अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनके निमित्तसे धर्मादिक तीन द्रव्यो की पर्याय भी परप्रत्यय कही गयी है। इसप्रकार इन कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय को छोडकर छहो द्रव्योमे अनन्त अगुरुलघुगुण निमित्तक षड्गुणहानिवृद्धिरूप अन्य कोई स्वतन्त्र स्वभाव पर्यायके अतिरिक्त स्वप्रत्यय पर्याय नही पायी जाती और न ही जीव की सवर, निर्जरा और मोक्षरूप परमार्थसे स्व-पर प्रत्यय पर्याय ही होती है। इतना अवश्य है कि जब यह जीव त्रिकाली स्वभावके सन्मुख होकर अपने आत्मिक पुरुषार्थ के बल पर सवर, निर्जरा और मोक्षरूप स्वप्रत्यय स्वभाव पर्यायको उत्पन्न करता है, तब उन पर्यायोमें, कर्मोके उपशम या क्षयसे हुई है—ऐसा व्यवहार (उपचार) हो जाता है। प्रकृत में यहाँ अगुरुलघुगुणका पर्द अविभाग प्रतिच्छेद है। इसके लिए देखो—पचास्तिकाय गाथा ८४ की समयव्याख्या टीका। उसमे लिखा है —

अपि च धर्म अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबधनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदै प्रतिसमयसभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभि सदा परिणतत्वादुत्पादव्ययवत्वेपि स्वरूपादप्रच्यवनान्नित्य ।।

और धर्मद्रव्य अगुरलघुगुणोरूपसे अर्थात् अगुरुलघुत्व नाम का जो स्वरूप प्रतिष्ठितका कारणरूप स्वभाव है, उसके अविभाग प्रतिच्छेदोरूपसे जो कि प्रति समय होनेवाली पट्स्थान पतित वृद्धि हानिवाले अनन्त हैं, उन रूपसे सदैव परिणमन करनेके कारण उत्पाद व्यय वाला है, तथापि स्वरूप से च्युत नही होता, इसलिये नित्य है ।

आशा है, इतने कथन से मीमासक स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्यय पर्याय के विषयमें जो अपनी कल्पित मान्यता बनाये हुये है, उसमे ससोधन कर लेगा ।

पृष्ठ २८९ (वरैया) मे पुन उसने स्व-पर प्रत्यय पर्यायका उल्लेख करते हुये जो पर पदार्थो की कारणताका समर्थन किया है सो यहा प्रश्न यह है कि वह कारणता निश्चय से उसने मानी है या असदभूत व्यवहार से । यदि उपचरित व्यवहार से वह विभाग पर्याय मे कारणता का समर्थन करता है तो इसमे आगमसे कोई बाधा नही आती, क्योकि उपचरित व्यवहार से कार्यमे पर पदार्थों की निमित्तता आगममे स्वीकार की ही है। इतना अवश्य है कि आगम मे सर्वत्र विभाव पर्याय को ही स्व-पर प्रत्यय स्वीकार किया है । स्वभाव पर्याय तो पर निरपेक्ष अर्थात् स्वप्रत्यय ही होती है, जो जीवकी अपेक्षा बाह्य सयोगमे अहकार और ममकार भावके यथासम्भव छोडने पर ही उत्पन्न होती है ।

पृ २९० (वरैया) मे उसने अहकार और ममकारमे जो पर द्रव्य के अवलम्बन की बात लिखी है, सो इस विपय मे इतना ही सकेत करना पर्याप्त है कि परद्रव्य अहकार और ममकारको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जीव स्वय ही अपने अज्ञान के कारण परद्रव्यको निमित्त कर स्वय मे अहकार और ममकार को उत्पन्न कर लेता है, इसलिए जीव स्वय ही मिथ्यात्वादि अज्ञानके कारण अहकार भमकारका कर्त्ता बनता है, परद्रव्य नही । वह तो उनके होने मे उपचारसे निमित्तमात्र है ।

पृष्ठ २९१ (वरैया) में मीमासक ने घटादि निर्माणमे किये गये अपने व्यापारको क्या मूर्खता का कार्य माना जावे, ऐसी जो पृच्छा की है, सो हमारा इस विपय मे इतना लिखना ही पर्याप्त है कि जो कोई परद्रव्यकी क्रियाको "मै स्वय कर सकता हू"—यदि ऐसा मानता है तो उसका ऐसा मानना मूर्खता अर्थात् अज्ञान के सिवाय और क्या हो सकता है ? इस विपयको विशेपरूपसे समझने के लिए समयासार गाथा १०० आत्मख्याति टीका पर तथा पूरे कर्ताकर्म अधिकार पर दृष्टिपात करना उचित होगा । उससे पूरी वस्तु स्थिति स्पष्ट हो जायेगी ।

पृष्ठ २९३ (वरैया) मे मीमासकने जो जैनतत्व मीमासा को लेकर निमित्त-नैमित्तक भाव रूप कार्यकारणभावसवधी विशेप चर्चा की है, सो इस सवधमे हमे जैनतत्वमीमासा जैसे ग्रन्थकी रचना करने का भाव क्यो हुआ — यह मीमासाकसे छिपी हुई बात नही है । जैनतत्व मीमासमे प्रारम्भ मे हमने जो मगलाचरण किया है, उसमे भी हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि मोक्षमार्गको ध्यान मे रखकर इसकी रचना की जा रही है।

वह मगलाचरण इस प्रकार है —

करि प्रणाम जिनेदेवको मोक्षमार्ग-अनुरूप ।
विविध अर्थ गर्भित महा कहिये तत्वस्वरूप ।।

फिर भी मीमासकके इस मत से हम सहमत हैं कि चाहे लौकिक प्रयोजन होया पारमार्थिक उन दोनोमे निमित्त-नैमित्तकभावका कथन आगम सम्मत है। इतना अवश्य हैं कि लौकिक प्रयोजन मे जहा ससारी प्राणी निमित्त को प्रधानता देकर उसी मे कर्तृत्व का आरोप करके लौकिक प्रयोजन की सिद्धि मानता है, वहाँ परमार्थको जानकर पुरुष या उस पर आरूढ होनेवाला पुरुष अपने निज पुरुषार्थ को उजागर करके स्वयके वल पर आत्मकार्य की सिद्धि करता है, उसकी दृष्टि मे बाह्य पदार्थ मे निमित्तताका व्यवहार गौण रहता है। जैसाकि तीर्थंकर वासपूज्य भगवान की स्तुति के प्रसग मे स्वत्रभूस्तयमे आचार्य समन्तभद्रने कहा भी है —

यद्वस्तु बाह्य गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदगभूतमभ्यन्तर केवलमप्यल ते ।। ५९ ।।

अभ्यन्तर जिसका मूल हेतु है, उसकी उत्पत्ति मे जो बाह्य हेतु निमित्त है, अध्यात्मवृत्ति अर्थात् मोक्षमार्गी के लिए वह गौण है, क्योकि आपके मत मे मात्र अतरग कारण ही उसके लिए पर्याप्त है।

यह ससाररूप कार्य और मोक्षकार्य की आगम सिद्ध व्यवस्था है। इसमे कार्य कारण भाव का कहाँ निषेध होता है ? मात्र कहाँ कौन गौण है और कौन मुख्य है, इसके विचारपूर्वक ही साधक या अन्य व्यक्ति इष्ट कार्य की सिद्धि मे प्रवृत्त होता है।

पृष्ठ २९७ (बरैया) मे मीमासकने जो निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहार रत्नत्रय के आधार पर मानी है, सो उसका ऐसा लिखना आगम सम्मत नही है, क्योकि व्यवहार रत्नत्रय पराश्रितभाव होने से उसके आधार पर परमार्थसे निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होना सभव नही है। इतना अवश्य है कि दृष्टि मे स्वभाव के अवलम्बन पूर्वक जिस समय निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है उसी समय चरणानुयोग के अनुसार होने वाला समस्त बाह्य आचार सम्यक्पने को प्राप्त होकर व्यवहार रत्नत्रय कहलाने लगता है। आगममे व्यवहार रत्नत्रय को साधक कहा है, वह मात्र उपचार से ही कहा है।

पृष्ठ ३०१ (बरैया) मे मीमाकने जो व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप लिखा है वह भी सशोधनीय जान पडता है, क्योकि परद्रव्य और परद्रव्योके निमित्त से होनेवाले भावोंसे भिन्न, स्वभावरूप आत्माके अनुभवपूर्वक जो आत्माश्रित श्रद्धा होती है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। और इसके साथ परमार्थ स्वरूप देव, गुरु, शास्त्र और जीवादि तत्वो की जो श्रद्धा होती है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

पृष्ठ ३०७ (बरैया) मे मीमासक ने जो शुभयोग और अशुभयोग का लक्षण लिखा है, उसके लिए उसे सर्वार्थसिद्ध अ० ७ सूत्र ३ पर दृष्टिपात करना चाहिए। वहा शुभयोग और अशुभयोग का लक्षण करते हुये लिखा है—

शुभपरिणामनिवृत्त योग शुभयोग, अशुभपरिणामनिवृत्त योग अशुभयोग ।

शुभ परिणामोसे रचा गया योग शुभयोग है और अशुभ परिणामो से रचा गया योग अशुभ योग है। इसका विशेष खुलासा तत्वार्थवार्तिक—इसी अध्यायके तीसरे सूत्रसे किया गया है। इसलिए जिज्ञासुओ को वहाँ से जान लेना चाहिये।

पृष्ठ ३१७ (बरैया) मे मीमासक ने १०वें गुणस्थान तक जो आरम्भी पापाचरण का उल्लेख किया है, वह उसका ऐसा लिखना युक्तियुक्त नहीं है, क्योकि ७ वें गुणस्थान[1] मे धर्मध्यानकी पूर्णता और आठवें से शुक्लध्यान का प्रारम्भ हो जाता है। जैसा कि तत्वार्थवार्तिक के अ ९ सू ३६ के वार्तिक और उसके भाष्य से ज्ञात होता —

धर्म्यमप्रमत्तसयतस्यैवेति तन्न कि कारण ? पूर्वेषा विनिवृत्तिप्रसगात्। असयत सम्यग्दृष्टि सयतासयतप्रमत्तसयतानामपिधर्मध्यानमिष्यते, सम्यक्त्वप्रभावत्वात्। इति धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत तर्हि तेषा निवृत्ति प्रसज्येत।

धर्म्यध्यान अप्रमत्त सयत के ही होता है, ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने पर ४ थे आदि गुणस्थानो मे धर्मध्यान होता है, इसका निषेध हो जाता है।

शका—कोई कहता है कि धर्मध्यान अप्रमत्तसयत के ही होता है।

समाधान—यह कहना ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने पर ४थे आदि गुणस्थानो मे धर्मध्यान होता है, उसका निषेध हो जाता है। असयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत और प्रमत्तसयत जीवो के भी सम्यग्दर्शन के प्रभावसे धर्म्यध्यान कहा जाता है। यदि धर्म्यध्यान अप्रमत्तसयतके ही कहा जावे तो उनके धर्मध्यान होने का निषेध हो जाता है।

इसलिए ७वें आदि गुणस्थानो मे आरम्भी पापाचरणरूप कार्य नही हो सकते यह स्पष्ट है, क्योकि वे निर्विकल्परूप धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानके गुणस्थान हैं। वहा जो सज्वलन कषाय का मद, मदतर और मदतम उदय पाया जाता है, वह अबुद्धिपूर्वक ही आगममे स्वीकार किया गया है।

यद्यपि धवला पु १३ मे १०वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान स्वीकार किया गया है, क्योंकि वहा तक सज्वलन कषायका उदय पाया जाने से वहाँ तक कषायका सद्भाव माना गया है, परन्तु वहाँ उपयोगकी मुख्यता होने से उपयोग मे कषाय का उदय गौण हो जाने के कारण तथा सहज स्वभावभूत आत्माका अनुभव होने के कारण आगम मे वहाँ शुक्लध्यानकी ही मुख्यता स्वीकार की गयी है, धर्म्यध्यानकी नही। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुये तत्वार्थसूत्र अ ९ सू ३७ की टीका मे लिखा है—

वक्ष्यमाणेषुशुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवत श्रुतकेवलिन इत्यर्थ। च शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यम्, श्रेण्यो शुक्ले इति व्याख्यायते।

---

(1) यहाँ पर विवक्षा से 7वें मे धर्मध्यान लिखा है, जबकि 4थे से 7वें तक होता है।

आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यानके भेदोमेसे आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वोंको जाननेवालो के होते हैं, श्रुतकेवली के होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सूत्रमे आये हुये "च"- शब्द से धर्म्य-ध्यान का भी समुच्चय हो जाता है। उसमे भी व्याख्यानसे विशेषता का ज्ञान होता है, इसलिए दोनो श्रेणियो के पहले धर्मध्यान होता है और दोनो श्रेणियो मे शुक्लध्यान होता है, प्रकृत मे ऐसा समझना चाहिये।

इससे स्पष्ट होता है कि दशवें गुणस्थान तक जो धर्म्यध्यान कहा गया है, वह मात्र सज्वलन कषाय के सद्भाव की मुख्यता से ही कहा गया है, आत्माश्रित उपयोग की मुख्यता से नही। इसी लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अ। श्लोक ११० की स्वोपज्ञा भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका मे लिखा है—

अत्र च शुद्धनिश्चये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भावसवर इत्युच्यते।

और यहा पर शुद्धनिश्चयनय मे शुद्धबुद्ध एकस्वभाव निजात्मा ध्येय निश्चित होता है, इसलिये शुद्धध्येय होने से, शुद्ध आत्मा का अवलम्बन होने से और शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग वन जावा है। वह भाव सवर कहा जाता है।

इस प्रकार आगम की साक्षीपूर्वक इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवें से दसवें गुणस्थान तक जो समीक्षक उत्तरोत्तर मन्द, मन्दतर और मन्दतम पापाचरण की कपोल कल्पना की है, वह मिथ्या कथन होने के सिवाय और कुछ भी नही है।

आगम मे श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कही गयी हैं, उनमे आठवी प्रतिमा का नाम आरम्भ त्याग प्रतिमा है। इससे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आठवी प्रतिमा को स्वीकार करते समय ही जब समस्त प्रकार के आरम्भ का बुद्धिपूर्वक त्याग कर देता है, ऐसी अवस्था मे पूर्ण महाव्रत आदि २८ मूलगुणो को गुरुसाक्षी पूर्वक स्वीकार करने वाले पूर्ण सयमी श्रमण (मुनि) जब किसी भी प्रकार का आरम्भ सम्भव ही नही होता फिर ध्यानी मुनि के ७वें गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक किसी भी प्रकार के आरम्भ की उसमे भी पापाचरणरूप आरम्भ की सम्भावना कैसे की जा सकती है, अर्थात् कभी भी नही की जा सकती है।

आगे पृष्ठ ३२० (बरैया) मे मीमासक ने ७वें गुणस्थान से १०वें गुणस्थान तक धर्माचरण-रूप धर्म्यध्यान को मानकर पृष्ठ ३०७ (बरैया) मे प्रतिपादित अपने मत के विरुद्ध विचार व्यक्त किया है सो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसे ही स्वय यह खबर नही कि पहले हम क्या लिख आये हैं और अब क्या लिख रहे हैं। वस्तुतः ७वें गुणस्थान से लेकर पापाचरण की बात तो छोडिये प्रवृत्तिरूप धर्माचरण की सम्भावना ही नही है। वहा से लेकर तो आत्मा को मुख्यकर अन्य सब विकल्पो के निरोधस्वरूप ध्यान की ही मुख्यता रहती है। "एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" ध्यान का लक्षण भी यही है। विशेष खुलासा हम पिछली शका का उत्तर लिखते समय कर ही आये हैं।

पृष्ठ २२५ (बरैया) मे मीमासक ने जो उपचरित कथन के सम्बन्ध मे हमारा अभिप्राय लिखकर उसकी सार्थकताका समर्थन किया है सो इस सम्बन्ध मे मीमासक को यह अच्छी तरह से

समझ लेना चाहिए कि जितना भी कथन किया जाता है वह सब सप्रयोजन ही किया जाता है। अन्यथा वह नयाभास हो जाता है, इसलिये यदि उपचरित कथन से अनुपचरित अर्थ की सिद्धि होती है तो उसे (उपचरित कथन को, मीमासकके मतानुसार भूतार्थ कैसे माना जा सकता है मीमासक को जो उपचरित कथनको भूतार्थ मानने का आग्रह है सो उसे उसका ही त्याग करना है, अन्य कुछ नही।

आगे पृष्ठ ३३३ (वरैया) मीमासक ने कुम्भकार मे जो मिट्टी के समान कुम्भनिर्माण का कर्तव्य स्वीकार किया है सो उसके इस कथन को जिनागम का अपलाप करने के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। जिसने समयासार के कर्ताकर्म अधिकार को पढा है वह यह अच्छी तरह से जानता है कि कुम्भकार मे मिट्टी के कुम्भनिर्माण का कर्तृत्व त्रिकाल मे भी सम्भव नही है। परमार्थ से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नही होता यह उतना ही सत्य है, जितना कि यह कहना कि यह जीव अपने अज्ञान के कारण ससारी बना हुआ है। यह मानना सत्य है क्योकि अपने अज्ञान के कारण ही जीव ससारी बना हुआ है। हाँ यदि कुम्भकार का योग और विकल्प घट निर्माण मे निमित्त हैं, इस अपेक्षा से उसे उपचार से निमित्त कर्ता कहा जाता है तो उससे यह कभी भी सिद्ध नही होता कि कुम्भकार ने मिट्टी के परिणमन की क्रिया करके योग और विकल्प की क्रिया करने के साथ मिट्टी मे कुम्भ निर्माण की भी क्रिया की है। वस्तुत कुम्भकार ने मिट्टी के परिणमन की क्रिया न करके कुम्भ उत्पत्ति के व्यवहार से अनुकूल योग और विकल्प ही किया तथा मिट्टी ने स्वय परिणमन करके घट की उत्पत्ति की क्रिया की है। देखो, समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका।

आगे पृ० ३५३ में मीमासक का कहना है कि प० फूलचन्द जी की मान्यता सभी कार्यों मे स्वभाव आदि के समवाय को कारण मानने की है, परन्तु मीमासक के मतानुसार प्रत्येक द्रव्य के षड्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमन मे निमित्तो की कारणता नही प्राप्त होती तो इसका ऐसा लिखना इसलिए स्ववचन वाधित है, क्योकि एक ओर षडगुणी हानि-वृद्धि रूप उस कार्य को स्वप्रत्यय के साथ पर प्रत्यय भी स्वीकार किया जाय और दूसरी ओर उस (कार्य) में निमित्तो की कारणता अस्वीकार की जाय उसका यह लिखना कहाँ तक तर्क सगत है इसका उसे स्वय ही विचार करना है।

आगे पृष्ठ ३५४ (वरैया) मे वह स्वभाव (शुद्ध) पर्याय के मूक और पर निरपेक्ष मानता है और दूसरी ओर काल निमित्तक भी लिखता है। साथ ही उसका यह भी लिखना है कि काल किसी भी वस्तु के परिणमन मे निमित्त नही होता। और इसके साथ ही वह यह भी लिखता है कि काल द्रव्य उस परिणमन का समय आवली आदि के रूप मे विभाजन मात्र करता रहता है। परन्तु स्व-प्रत्यय परिणमन मे काल के अन्वय व्यतिरेक के घटित होने की कभी सम्भावना नही है।

इस प्रकार मीमासक के पूर्वोक्त मत को पढकर लगता है कि उसे कार्यकारण भाव की जरा भी खबर नही है। एक ओर काल द्रव्य को अन्य द्रव्य के परिणमन मे निमित्त मानना और दूसरी ओर उसका निषेध करना इसे कार्य कारण भाव की अनभिज्ञता ही कहा जा सकता है।

आगम मे धर्मादिक द्रव्यो को उदासीन कारण के रूप मे स्वीकार किया गया है काल द्रव्य भी जीवादि द्रव्यो के परिणाम का वहिरग निमित्त है। जैसाकि पचास्तिकाय गाथा १०० की समय व्याख्या टीका मे आ० अमृतचन्द्र लिखते हैं—

जीवपुद्गलानां बहिरंगनिमित्तभूतद्रव्यकाल सद्भावे सति संभूतत्वात् द्रव्यकाल-सभूत इत्याभिधीयते ।

जीव पुद्गलो का परिणाम तो वहिरग निमित्तभूत द्रव्यकाल के सद्भाव मे होता है, इसलिए द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ कहा जाता है ।

इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए आ० जयसेन अपनी तात्पर्यवृत्ति नामक टीका मे लिखते हैं—

परिणाम दव्वकालसभूदो-अणोरण्यतरव्यक्तिक्रमणप्रभृति – पूर्वोक्तपुद्गल परिणामस्तु शीतकाले पाठकस्याग्निवत् कुम्भकारचक्रभ्रमण-विषये-अधस्तनशिलावद्बहिरग-सहकारीकारणभूतन कालाणुरूपद्रव्यकालेनोत्पन्नत्वाद् द्रव्यकालसभूत ।

परिणाम द्रव्यकाल के निमित्त से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जैसे शीतकाल मे पाठक के लिए अग्नि निमित्त है तथा कुम्भकार के चक्र मे भ्रमण के विषय में नीचे की शिला वहिरग निमित्त है, उसी प्रकार एक अणु के दूसरे अणु के उल्लघन आदि पूर्वोक्त पुद्गल परिणाम वहिरग सहकारी कारण कालाणुरूप द्रव्यकालमे उत्पन्न होने के कारण द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ है – ऐसा व्यवहार होता है ।

ये दो प्रमाण हैं — इनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैसे धर्मादिक द्रव्य जीव और पुद्गलो के गमन आदि मे निमित्त होते हैं उसी प्रकार काल द्रव्य भी सभी द्रव्योके परिणमन मे निमित्त होता है । इस विषय मे मीमासक का यह कहना कि काल द्रव्य समय, आवलि आदि के विभाजन मे ही निमित्त है, युक्तियुक्त प्रतीत नही होता । आशा है कि मीमासक इन दो प्रमाणो के प्रकाश मे अपने विचारो को बदल लेगा ।

पृष्ठ ३४९ (वरैया) मे मीमासक का यह लिखना कि उपादान हमेशा द्रव्य ही हुआ करता है, वह पर्याय विशिष्ट ही है आदि यह दूसरी बात है, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योकि ऋजुसूत्रनय से अव्यवहित पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का उपादान होता है और प्रमाण से अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य का उपादान होता है । जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्र थ के इस प्रमाण से ज्ञात होता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्व ।
उत्तरपरिणामजुद तं चिय कज्ज हवे णियमा ।।२०३।।

पूर्व पर्याय से युक्त द्रव्य कारणरूप से रहता है और उत्तर पर्याय से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है ।

इस प्रकार आगम की साक्षी पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मीमासक ने 'जैनतत्त्व मीमासा की मीमासा' को निमित्त कर जो अनर्गल वातें लिखी हैं वे किस प्रकार आगम सम्मत नहीं हैं इस बात का यहा तक विशेषरूप से विचार किया साथ, ही उक्त कथन से मीमासक के इस विचार का भी खण्डन हो जाता है कि "बाह्य निमित्त कारण अन्यद्रव्य के कार्य मे सहायक होकर भूतार्थ है", क्योकि यहाँ जिस काल पदार्थ को निमित्त कहा गया है उसमे भूतार्थ रूप मे अर्थात्

परमार्थ से अन्य द्रव्य के कार्य की निमित्तता (कारणता) नहीं ही पायी जाती है। मात्र काल प्रत्यासत्ति या बाह्य व्याप्ति को ध्यान मे रखकर विवक्षित कार्य की अपेक्षा उस कालद्रव्य मे निमित्तता का व्यवहार आगम मे किया गया है, जो अभूतार्थ होने से उपचरित ही माना गया है।

(ग) इस प्रकार यहा तक पृष्ठ ६ मे लिखित (क) और (ख) मुद्दो को ध्यान मे रखकर ऊहापोह किया। आगे (ग) मुद्दे के आधार से विचार किया जाता है। उसमे जो उपचार को कथचित अभूतार्थ और कथचित भूतार्थ कहा गया है, वह कैसे ठीक है — इसकी मीमासा की जाती है—

आगम मे व्यवहारनय के दो भेद किये गये हैं। एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। सद्भूत व्यवहार का दूसरा नाम भेदव्यवहार भी है, क्योकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से अभेद स्वरूप ही है, परन्तु प्रयोजन को ध्यान मे रखकर गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायवान् मे भेद करना सद्भूत व्यवहार है। इसके दो भेद हैं – शुद्ध सद्भूत व्यवहार और अशुद्ध असद्भूत व्यवहार। यहाँ इनके कथन का विशेष प्रयोजन नही है।

असद्भूत व्यवहार का दूसरा नाम उपचार है जैसाकि आलाप पद्धति मे कहा है—

असद्भूत व्यवहार एवोपचार ।

असद्भूत व्यवहार किसे कहते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए आलाप पद्धति मे पुन कहा है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धमस्य अन्यत्र समारोपणादसद्भूत व्यवहार.।

अन्य वस्तु मे प्रसिद्ध हुए धर्म का उसमे अन्य वस्तु मे समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। इसके ६ भेद हैं—

द्रव्ये द्रव्योपचार द्रव्ये गुणोपचार, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचार, गुणे गुणोपचार, गुणे पर्यायोपचार, पर्याये द्रव्योपचार, पर्याये गुणोपचार, पर्याये पर्यायोपचार ।

अन्य द्रव्य मे अन्य द्रव्य का समारोप करना यह द्रव्य मे द्रव्योपचार है। द्रव्यको गुण कहना यह द्रव्यमे गुण का उपचार है। द्रव्य को पर्याय कहना यह द्रव्य मे पर्याय का उपचार है। गुण को द्रव्य कहना यह गुण मे द्रव्य का उपचार है। अन्य गुणको अन्य गुण कहना यह गुण मे गुण का उपचार है, गुण को पर्याय कहना यह गुण मे पर्याय का उपचार है। पर्याय को द्रव्य कहना यह पर्याय मे द्रव्य का उपचार है। पर्याय को गुण कहना यह पर्याय मे गुण का उपचार है। अन्य की पर्याय को अन्य की पर्याय कहना यह पर्याय मे पर्याय का उपचार है।

पर्याय मे पर्याय के उपचार का उदारहण—

तह जीवे कम्माण णोकम्माणं च पस्सिदु वण्ण ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।५६।। (समयसार)

इसी प्रकार जीव मे कर्मों का और नोकर्मों का वर्ण देखकर जीव का यह वर्ण है, इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से कहा है।

यह एक उदाहरण है। इसमे व्यवहार का अर्थ असद्भूत व्यवहार लिया है। जीव मे कर्म और नोकर्म का वर्णन नही पाया जाता, इसलिए तो वह उसमे असद्भूत है। तथा कर्म और नोकर्म के वर्ण को जीव का कहा गया, इसलिए वह व्यवहार है। इस प्रकार यह असद्भूत व्यवहार का उदाहरण है, जो प्रयोजन विशेष से आगम मे स्वीकार किया गया।

इस प्रकार उक्त आगम के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपचार असद्भूत अर्थका मुख्यतासे कथन करता है। अतः उसे मीमासक के द्वारा कथचित् असद्भूत और कथचित् सद्भूत कहना आगम विरुद्ध होने के कारण मान्य नही है।

(घ) आगे समीक्षकने जो उपचार को ही व्यवहार कहकर कथचित् भूतार्थ और कथचित् अभूतार्थ स्वीकार किया है, सो प्राकृत मे जिस अर्थ मे वह व्यवहार शब्द का प्रयोग कर रहा है वह व्यवहार भी असद्भूत ही है, क्योकि वह अन्य का अन्य मे उपचार स्वरूप होने से अभूतार्थ ही है। उसे सद्भूत भेद व्यवहार नही माना जा सकता। इस प्रकार प्रश्नोत्तर की सामान्य समीक्षा नाम पर समीक्षक ने जो अपना कल्पित अभिमत व्यक्त किया है उसका विचार किया अन्तरमहदन्तरम्।

आगे मतैक्य के नाम पर समीक्षक ने पृष्ठ ४ मे जो चार मुद्दे उपस्थित किये हैं, उनमे मौलिक अन्तर क्या है उसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है यथा—

सख्या (१) के अन्तर्गत समीक्षक का कहना है, कि दोनो ही पक्ष ससारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण मे द्रव्यकर्म को निमित्त कारण और ससारी आत्मा को उपादान कारण मानते हैं। सो उसका कहना वाह्य दृष्टि से भले ही ठीक प्रतीत हो। पर उसने ऐसा लिखकर भी जो यह लिखा है कि "अव्यवहित पूर्वपर्यायियुक्तद्रव्य उपादान होकर भी वह उनके योग्यतावाला होता है, इसलिए जब जैसा निमित्त होता है, उसके अनुसार कार्य होता है उपादान के अनुसार नही" इसलिए उसके मतानुसार ऐसा लगता है कि उपादान मे कार्य हुआ इतना ही वह उपादान का अर्थ करता है। उसके मतानुसार कार्य तो मात्र निमित्त के अनुसार ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं सख्या (१) के अन्तर्गत जो समीक्षक ने लिखा है वह यथार्थ नही है।

(२) इस सख्या के अन्तर्गत समीक्षक ने जो कुछ भी लिखा है उसे सख्या १ के सन्दर्भ मे देखने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। समीक्षक वस्तुत अपनी बात को छिपा रहा है। आगम से समीक्षक के दृष्टिकोण मे जो महान् अन्तर है उसे हम सख्या १ मे स्पष्ट कर ही आये हैं।

(३) इस सख्या मे समीक्षक ने दोनो पक्षो के अभिप्राय से जो उपादान कारण रूप ससारी आत्मा को यथार्थ कारण और मुख्य कर्ता लिखा है तथा निमित्तकारणभूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्य कर्म को अयथार्थ कारण और उपचरित कर्ता लिखा है सो वस्तु स्थिति तो ऐसी ही है, परन्तु जब वह उपादान कारण को अन्य योग्यता वाला मानकर निमित्त के अनुसार कार्य के होने का विधान करता है, तब उसका पूर्वोक्त मत अपने आप खण्डित हो जाता है, क्योकि उसके आगम विरुद्ध इस मत के अनुसार उपादान कारण मात्र आश्रय कारण रह जाता है और निमित्त कारण यथार्थ कारण मुख्य कर्ता बन जाता है। यदि वह कहे कि निमित्त के अनुसार कार्य होता है यह हम व्यवहार से कहते हैं तो भी उसका ऐसा लिखना युक्तियुक्त नही है, क्योकि ऐसी अवस्था मे निश्चय उपादान को

भी उसी मत वाला मानना चाहिये जो कार्य हुआ है, कारण कि उपादान और निमित्त मे कार्य की अपेक्षा काल प्रत्यासत्ति है।

(८) समीक्षक ने दोनो के मतानुसार सख्या ८ के अन्तर्गत उपादान कारणता यथार्थ कारणता और मुख्य कर्तृत्व निश्चय नय का विषय लिखा है और निमित्त कारण भूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म म स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनय के विषय हैं — सो उसका ऐसा लिखना यथार्थ होकर भी इसलिये सगत प्रतीत नही होता है, क्यो कि वह न तो उपादान को वास्तविक कारण रहने देना चाहता है और न बाह्य निमित्त को ही अयथार्थ कारण रहने देना चाहता है।

हम किसी पर आरोप करना जानते नही, जो वस्तु स्थिति है मात्र वह स्पष्ट की है।

पृष्ठ ७ मे समीक्षक ने "जो उत्तरपक्ष का पूर्व पक्ष पर उल्टा आरोप" शीर्षक के अन्तगत जो वक्तव्य दिया है सो इसे उसकी मात्र कल्पना के अतिरिक्त हम और क्या कह सकते हैं। वह अपने आगम के विरुद्ध मत को न छोडकर उत्तर पक्ष पर "उल्टा चोर कोतवाल को डाटे" यह युक्ति चरितार्थ कर रहा है। ऐसा एक भी प्रसग नही आया जब हमने पूर्व पक्ष के प्रश्न का उत्तर न दिया हो, यदि पूर्व पक्ष हमारे उत्तर से अपने प्रश्न का उत्तर समझनेमे असमर्थ रहता है तो यह उसका ही दोष है, हमारा नही। न तो हमने अपने उत्तर मे प्रासगिक और अनावश्यक चर्चा ही प्रारम्भ की है और न ऐसा करने का हमारा अभिप्राय ही रहा है। उसकी बात तो यह है कि वह चाहता था कि हम नय विभाग के बिना यह उत्तर दें, परन्तु प्रश्न मे गर्भित नय विभाग को ध्यान मे लेकर उसके अनुसार उत्तर दिया है तो अप्रासागिक और अनावश्यक कैसे हो गया — इसका निर्णय वह स्वय करे, क्योकि जिनागम की लगभग पूरी प्ररूपणा नय विभाग पर आश्रित है। उसकी सभी शकायें नयविभाग पर आश्रित है, ऐसी हालत मे उनका समाधान नय विभाग के अनुसार ही होगा। उनके अस्वीकार करने से क्या होता है।

आगे समीक्षक ने जो दोनो पक्षो के मध्य मतभेद की जिस रूप मे रेखा खीची है, उसका वह मतभेद बाह्य निमित्त को उसके द्वारा अयथार्थ कारण मानने के कारण स्वय ही खण्डित हो जाता है। वैसे वस्तुत उसे (पृष्ठ ६ मे) कारण न कहकर उपचरित कारण कहना चाहिये।

खानिया तत्त्वचर्चा समीक्षक की दृष्टि न भले ही वितडावाद बन गयी हो, परन्तु विचारको के लिये तो वह तत्त्वचर्चा ही है। उससे समीक्षक आदि के विचार कैसे आगम विरुद्ध हैं इसे समझने मे विचारको को बडी सहायता मिली है।

हमारे ऊपर समीक्षक ने जो यह आरोप किया है कि अपने पक्ष की विजय बनाने की दृष्टि से पूरे तीनो दौरो मे हमने अपना प्रयत्न चालू रखा था – सो यह समीक्षक का अपना विचार है, उसे पूरे शका समाधान मे अपनी हार दिखायी देनी है, इसलिये उसने अपना यह मत बना लिया है, जबकि इसमे हार-जीत का कोई सवाल ही नही है। इतना अवश्य है कि समीक्षक को जिस रूप मे अपने व्यवहार पक्ष को उपस्थित करना चाहिये था उसमे वह असफल रहा। यदि वह व्यवहार पक्ष को व्यवहार पक्ष मानकर ही उपस्थित करता और निश्चय पक्ष के खण्डन के चक्कर मे न पडता तो पूरी तत्त्वचर्चा का रूप ही दूसरा होता। हमे दुःख इसी बात का है कि वह पक्ष को उपस्थित करने मे असफल रहा।

हमने (पृष्ठ-६ में) न तो कहीं आगम के अर्थ को बदलने का प्रयत्न किया है और न ही कहीं उसका दुरुपयोग ही किया है। पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष – यह तो चर्चा के समय उस पक्ष के द्वारा अपनायी गयी नीति के कारण ही बन गये थे। वस्तुत यदि वह तत्त्वचर्चा के तीसरे दिन अपने पक्ष के द्वारा उपस्थित की गयी शंकाओ को दोनो ओर की सामान्य शंका न बनाता और न ही प्रथम दिन की 6 शकाओ के हमारे द्वारा दिये गये उत्तर को पूर्व पक्ष मान कर उन पर लिखे गये प्रति-शकाओ को प्रत्युत्तर न बनाता तो सम्भव था कि हमारे पक्ष द्वारा भी अपर पक्ष के सामने कतिपय शकाएं उपस्थित की जाती; परन्तु उस पक्ष द्वारा अपनाई गयी नीति के अनुसार ही ऐसा लगा कि अपर पक्ष, हमे अन्त मे हारा हुआ सिद्ध करने के अभिप्राय से ही पूरी तैयारी के साथ यहाँ आया है, तब हमे अवश्य ही पूरी चर्चा मे सावधान रहना पडा।

समीक्षा पृ-६ के प्रारम्भ मे समीक्षक का जो यह कहना है कि उत्तर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन मे जिस आगम की पग-पग पर दुहाई दी है उसका उसने बहुत से स्थानो पर साभिप्राय अनर्थ भी किया है। जैसा कि पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि पद्मनन्दि पचविंशतिका 23-7 का उसने पूर्व पक्ष का मिथ्या विरोध करने के लिये जान-बूझ कर विपरीत अर्थ करने का प्रयत्न किया है।

सो इस सम्बन्ध मे हमे इतना ही कहना है कि समीक्षक ने प्रेरक कारण मानकर उसका जो यह लक्षण किया है कि प्रेरक निमित्त वे हैं, जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं। साथ ही ऐसे निमित्तो की सहायता को वह भूतार्थ मानता है। इतना ही नहीं समीक्षक उपादान का लक्षण पर्याययुक्त द्रव्य न करके मात्र द्रव्य (सामान्य) ही करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह (समीक्षक) "द्वयकृती लोके विकारो भवेत" इस वचन के अनुसार ससार रूप कार्य को उपादान और भूतार्थ कार्य मानता है। हम क्या करें, उक्त बातें लिखकर हमने उसकी कथनी का ही भण्डाफोड किया है स्पष्ट किया है।

यह एक बात हुई, दूसरी बात यह है कि समीक्षक अनेक जगह कर्ता के अर्थ में विवक्षित क्रिया का कर्ता अर्थ नही करता है। उदाहरणार्थ समीक्षा पृष्ठ १३ मे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की समीक्षक ने जो कारिका उद्धृत की है उसमे "परिणमन्ते" क्रिया का अर्थ परिणमित होते हैं यह न करके परिणमते हैं यह करना चाहिये। इससे भी यही ध्वनित होता है कि समीक्षक उपादान का अर्थ नही करता है फिर भी वह अपनी भूल नही स्वीकार करता — यह उसकी हठ है।

(२) शका १, दौर १, समीक्षा का समाधान

समीक्षक का कहना है कि आपने प्रथम दौर में जो समयसार गाथा ८१ को उपस्थित कर उसका अर्थ किया है उसमे आपने बौद्धिक भूल की है। आगे उसका खुलासा करते हुए वह लिखता है कि उस गाथा के प्रथम पाद का यह अर्थ होना चाहिये "जीव कर्म गुण को नही करता" और आपने उसके स्थान मे यह किया है कि "जीव कर्म में विशेपता को (पर्याय को) उत्पन्न नहीं करता" ऐसा अर्थ करना ही आपकी बौद्धिक भूल है सो हममे कहाँ भूल हुई यह बात हम अभी तक नहीं समझ पाये। समीक्षक ने जहाँ "कम्मगुणे" का अर्थ "कर्म गुण को" यह किया है वहाँ हमने कर्म

'विशेषता को' (पर्याय को) यह किया है। दोनो अर्थ एक समान हैं, क्योकि यहाँ पर गुण शब्द का अर्थ विशेषता अर्थात् पर्याय ही ली गयी है। समीक्षक ने "गुण" शब्द की जगह "गुण" शब्द रख दिया है। इसमे भूल हमारी कहाँ हुई ? हमने "गुणे" शब्द का अर्थ सप्तमी विभक्ति परक कहाँ किया है ? द्वितिया विभक्तिपरक ही तो किया है। यदि ऐसी व्यर्थ की टीकाओ से वह समीक्षा का कलेवर न भरता तो यह अच्छी बात होती।

प्रथम शका के समाधान मे इन गाथाओ की बडी उपयोगिता है। इन गाथाओ से ही तो हमे यह मालूम पडता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वय करता है। काल प्रत्यासत्तिवश बाह्य द्रव्य तो उसमे मात्र निमित्त होता है। ऐसा लगता है कि नय विभाग से दिये गये हमारे समाधान को समीक्षक सहन नही कर सका, क्योकि उसे नय विभाग के बिना दिया गया समाधान ही इष्ट था। अन्यथा वह ऐसे समीचीन समाधान को अवश्य ही स्वीकार कर लेता।

समीक्षक चाहता है कि निमित्त-नैमित्तिक सबन्ध को भूतार्थ रूप से कार्यकारी माना जाय। सो उसकी परमार्थसे कार्यकारिता तो तब ही बन सकती है, जब वह निमित्त के स्थान मे समर्थ उपादान होकर अन्य द्रव्य के कार्य करने मे वह अकिंचित्कर ही रहता है। इसे समीक्षक जितने जल्दी स्वीकार करेगा उतनी ही उससे जैन सिद्धान्त की रक्षा होगी।

भले ही पूर्व पक्ष की ओर से नय को मुख्य कर प्रश्न नही किया गया हो, परन्तु समीक्षक यह जानता है कि पूर्व पक्ष की ओर से जो पृच्छा की गई, वह व्यवहार नय की विपक्षा मे ही शका उपस्थित की गई थी। अत उत्तर पक्ष ने उनका समाधान परमार्थ को ध्यान मे रखकर ही किया था। इसलिये हमने उत्तर पक्ष की ओर से जो भी प्रमाण उपस्थित किये थे, वे सब प्रकृत विषय को स्पष्ट करने मे सहायक होने के कारण ही उपस्थित किये थे, अत प्रकृत मे उनकी उपयोगिता सुतरा सिद्ध हैं।

हमने प्रवचनसार गाथा २/७७ आदि के जो प्रमाण उपस्थित किये थे, वे उस प्रयोजन को ध्यान मे रखकर ही उपस्थित किये थे। समीक्षक यदि भूतार्थ रूप से निमित्त की कार्यकारिता स्वीकार नही करता तो अवश्य ही यह कहा जा सकता था कि आगम मे निमित्त का स्थान सुप्रयोजन किया गया है, परन्तु समीक्षक की रट तो यह रही कि निमित्त को भूतार्थ रूप से कार्यकारी मनवाया जाय। इसलिये विवश होकर हमे इस रूप मे उसका निषेध करने के लिये बाध्य होना पडा है।

यदि समीक्षक बाह्य निमित्त को भूतार्थ रूप से कार्यकारी मानने की रट छोडकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से एक द्रव्य के कार्य मे अन्य द्रव्य की निमित्तता को स्वीकार करता है और इस आधार पर उसकी (बाह्य निमित्त की) उपयोगिता स्वीकार करता है या बाह्य निमित्त कथन को इस अपेक्षा प्रयोजनीय मानता है तो ऐसा मानने मे हमे क्या आपत्ति है। इतना अवश्य है — जितनी भी आगम मे बाह्य निमित्त की चर्चा है, वह यह दिखलाने के लिए ही है कि निमित्त परमार्थ से कार्यकारी न होकर वह मात्र उपचरित कथन है, उसको सहायक मानना यथार्थ नही है। बाह्य व्याप्तिवश अन्य वस्तु मे अन्य कार्य के समय उपचार से हेतुपना अवश्य स्वीकार किया जाता है, परन्तु वह (बाह्य वस्तु) परमार्थ से कार्य की साधक नही होती है। जो उसकी

(निमित्त कथन की) कार्यकारिता का निषेध करते हैं। बाह्य निमित्त को यदि शकाकार कार्य का सूचक होने से उपयोगी अर्थात् कार्यकारी या सहायक मानना चाहता है तो ऐसा मानने मे हमे कोई आपत्ति नही है।

(३) शका १, दौर २, समीक्षा का समाधान

हमने, द्वितीय दौर मे पूर्व पक्ष ने जितने प्रमाण उपस्थित किये थे, उनको ५ (पाच) भागों मे विभक्त कर, उन पर क्रमश विचार किया था। यहाँ उसके द्वारा प्रत्येक भाग पर समीक्षा के नाम जो कुछ लिखा गया है, उस पर फिर से विचार किया जाता है।

प्रथम भाग के आधार पर शका-समाधान

इस चर्चा मे बाह्य निमित्त को दो भागो मे विभक्त किया गया है विस्त्रता निमित्त और प्रायोगिक निमित्त। तथा इनके समर्थन मे सर्वार्थसिद्धि और इष्टोपदेश की टीका के प्रमाण दिये थे। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया था कि ये दोनो ही प्रकार के निमित्त कार्य के प्रति उदासीन ही होते हैं। अब यहाँ शका यह है कि समीक्षक जो दोनो प्रकार के निमित्तो को भूतार्थ रूप से सहायक मान रहा है और उपादान का कार्य न करने के कारण हमारे द्वारा दोनो प्रकार के निमित्तो को जो भूतार्थ रूप से सहायक नही माना जा रहा है – इन दोनो विकारो मे कौन बाह्य समीचीन है, ईसकी यहाँ समीक्षा करनी है —

दोनो प्रकार के बाह्य निमित्तो के लक्षण

यद्यपि हम अपने समाधान मे उक्त दोनो प्रकार के निमित्तो के लक्षण दे आये हैं – "एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा द्रव्य के कार्य मे निमित्त होते हैं और दूसरा वे जो चाहे क्रियावान् द्रव्य हों और चाहे अक्रियावान् द्रव्य हो, परन्तु जो क्रिया के माध्यम से निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्यो के समान अन्य द्रव्यो के कार्य मे निमित्त होते हैं।" (स प्र १३)

ये उस समय प्रसग से हमारे द्वारा किये गये दोनो प्रकार के निमित्तो के लक्षण है। समीक्षक ने उक्त दोनो निमित्तो के जो लक्षण दिये हैं, वे इस प्रकार हैं,—"प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं और उदासीन निमित्त वे हैं जिनकी कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं।"[2]

अपने इन लक्षणो मे अन्तर दिखाते हुए समीक्षक लिखता है कि अनुकूल निमित्तो का सहयोग मिलने पर उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जब तक अनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त न हो तब तक उनकी (उपदान की) विवक्षित कार्य रूप परिणति न हो सकना, यह निमित्तो के साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। तथा उपादान को अपना सहयोग प्रदान करना और उपादान जब तक अपनी कार्यरूप परिणति होने की प्रक्रिया प्रारम्भ नही करता, तब तक उनका (निमित्तो का) अपनी तटस्थ स्थिति मे बना रहना यह निमित्तो की कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। इनमे से पहिले प्रकार की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियो का सद्भाव जिन निमित्तो मे पाया जावे, वे प्रेरक निमित्त कहलाने योग्य हैं और दूसरे प्रकार की अन्वय

श्रौर व्यतिरेक व्याप्तियो का सद्भाव जिन निमित्तो में पाया जावे, वे उदासीन निमित्त कहलाने के योग्य हैं। यत पहिले प्रकार की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियो का सद्भाव प्रेरक निमित्तों मे पाया जाता है, अत उनके (प्रेरक निमित्तो के) बल पर कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और यत दूसरे प्रकार की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियो का सद्भाव उदासीन निमित्तो मे पाया जाता है, अत उनके (उदासीन निमित्तो के) बल पर कार्य आगे-पीछे तो नहीं किया जा सकता, फिर भी उनका सहयोग उपादान की कार्यरूप परिणति मे अवश्य रहा है।" (स पृ-१३)

आगे समीक्षक ने अपने दोनो प्रकार के लक्षणो के समर्थन मे क्रमश. रेल के इन्जिन और रेल पटरी के उदाहरण उपस्थित किये हैं तथा हमारे द्वारा किये गये दोनो प्रकार के लक्षणो का इस आधार पर निषेध किया है कि उक्त प्रकार के लक्षणो के आधार से दोनो ही निमित्त कार्योत्पत्ति मे अकिंचित्कर सिद्ध होते है। जबकि पूर्व पक्ष दोनो ही निमित्तो को कार्योत्पत्ति मे पूर्वोक्त प्रकार से कार्यकारी मानता है। (स पृ-१४)

हमारे द्वारा दिए गये लक्षणो के खण्डन मे शंकाकार की युक्ति यह है कि उन्हे कार्योत्पत्ति में अकिंचित्कर माना जाता है तो उस काल मे उपस्थित अन्य वस्तुओ को भी निमित्त मानने का प्रसग आ जावेगा। साथ ही समीक्षक द्वारा अपने लक्षणो के समर्थन मे यह युक्ति दी है कि दोनो प्रकार के निमित्त उपादान की कार्य रूप परिणति मे अपने-अपने ढग से सहायक होने रूप से यदि कार्यकारी मान लिया जाता है तो इससे कार्योत्पत्ति के अवसर पर उनकी निमित्त रूप से उपस्थिति युक्तियुक्त हो जाती है। साथ ही उनकी कार्य के साथ अपने-अपने से अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियाँ भी बन जाती हैं।"

आगे समीक्षक ने प्रमेयरत्नमाला का उद्धरण उपस्थित करके उपादान के कार्य के प्रति निमित्तो की सार्थकता सिद्ध की है। साथ ही वह निचोड को सूचित करते हुए लिखता है — तात्पर्य यह है कि जैनागम मे कार्योत्पत्ति की व्यवस्था इस प्रकार स्वीकृत की गयी है कि "उपादान कार्यरूप परिणति होने की स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट पदार्थ तो कार्यरूप परिणत होता है, परन्तु वह तभी कार्यरूप परिणत होता है, जब उसे प्रेरक और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तो का सहयोग प्राप्त हो जाता है। उसको प्रेरक निमित्तो का सहयोग प्रेरकता के रूप मे और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तो का सहयोग अप्रेरकता (उदासीनता) के रूप मे मिला करता है। इस तरह उपादान कारण, प्रेरक निमित्त कारण और अप्रेरक (उदासीन) निमित्त कारण — इन तीनो के रूप मे कारण सामग्री के मिलने पर ही कार्योत्पत्ति (उपादान की कार्यरूप परिणति) होती है।" (स पृ-१४)

यहाँ तक हमने यथासम्भव समीक्षक के अभिमत को दिखलाने का प्रयत्न किया है। आगे उसे ध्यान में रखकर विचार किया जाता है —

यहाँ समीक्षक ने स्वकल्पित बाह्य निमित्त के दो लक्षण दिये हैं (स पृ-१३) वस्तुत विवक्षित कार्य के साथ जिस बाह्य पदार्थ की त्रिकाल व्याप्ति होती है, उसमे आगम के अनुसार निमित्त व्यवहार किया जाता है और उस कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है, इसी बात को ध्यान मे रखकर स्वामी समन्तभद्र ने स्वयभूस्त्रोत मे इस सिद्धान्त की घोषणा की है —

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभाव ।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६॥

श्लोकार्थ —भगवन् ! आपके सभी कार्यों मे बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि की समग्रता रहती है। यह द्रव्यगत स्वभाव है ऐसा स्वीकार किया है। अन्यथा ससारी जीवो की मोक्ष विधि नही बन सकती, इस कारण ऋषिस्वरूप आप बुद्धिमान पुरुषो के लिये वन्दनीय हैं।

कार्य-कारण भाव का यह अकाट्य मियम है जिसकी स्वामी समन्तभद्र ने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की है। अब सवाल यह है कि कौन कार्य किस विधि से सम्पन्न होता है, किसमे किस की मुख्यता रहती है ? इसमे तो कोई विवाद नही कि प्रत्येक कार्य मे दोनो की समग्रता रहती है। विवाद मुख्यता और गौणता का है। साथ ही नियत उपादान हो और उसका निमित्त हो या उपादान अनेक योग्यता वाला हो और निमित्त उनमे से किसी एक कार्य का साधक हो या विवक्षित कार्य का नियत उपादान मौजूद हो और उसकी बाधक सामग्री उपस्थित हो जाय तो कार्य होगा या नही और होगा तो वह किसके अनुसार होगा ? इस प्रकार विवाद के अनेक मुद्दे हैं, जिन पर यहाँ साँगोपाँग विचार करना है। साधारणत सभी कार्यों के जितने भी बाह्य निमित्त स्वीकार किए जाते हैं, वे दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं — एक वे, जो त्रैकालिक बाह्य व्याप्तिवश अपनी क्रिया द्वारा निमित्त होते हैं और एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा निमित्त नही होगा, मात्र विवक्षित कार्य के साथ त्रैकालिक व्याप्ति को देखकर उनमे निमित्त व्यवहार किया जाता है। इतना अवश्य है कि बाह्य निमित्त किसी भी प्रकार का क्यो न हो, उपादान के कार्य रूप परिणति के काल मे त्रैकालिक व्याप्तिवश उसका होना आवश्यक है। यह एक निश्चित नियमबद्ध व्यवस्था है, जिसे ध्यान मे रखकर ही स्वामी समन्तभद्र ने भगवान् परम भट्टारक तीर्थङ्कर देवाधिदेव के कथन को अनुस्मरण करते हुए "बाह्येतरोपाधि ..." इत्यादि कारिका निबद्ध की है।

(२) इस वियम को ध्यान मे रखने पर तो यही निश्चित होता है कि जितने भी कार्य होते हैं उतने ही उनके समर्थ या नियत उपादान होते हैं। उपादान अनिश्चित हो या उपादान अनेक योग्यता वाला हो और निमित्त के आधार पर उसमे कार्य की उत्पत्ति होती हो ऐसा आगम मे कही बतलाया नही गया है। अन्यथा उपादान से होने वाले कार्य के साथ उनकी निमित्तो की बाह्य व्याप्ति नही बन सकती। यहाँ कारण है कि आगम मे नियत प्रति नियत उपदान का लक्षण दृष्टिगोचर होता है —

अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहते हैं।

यहाँ जिसे नियत उपादान कहा गया है उसकी आगम मे दूसरी सज्ञा प्रागभाव है। अष्टसहस्री मे आचार्य विद्यानन्द इसे ध्यान मे रखकर लिखते हैं —

ऋजुसूत्रनयापर्णाद्धि प्रागभावस्तावत् कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोनन्तरात्मा। न चैतस्मिन् पूर्वानादि-परिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसग, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात् (पृ.-१००)

यह उपादान उपादेयभाव की निश्चित व्यवस्था है। शकाकार इस व्यवस्था को न मानकर अपनी इच्छानुसार उपादान उपादेयभाव की व्यवस्था करने पर तुला हुआ है — यही उसकी भूल है।

अब उक्त प्रमाण का अर्थ देते है—

"ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से तो पूर्व अनन्तर (अव्यवहित) पर्याय ही प्रागभाव कहलाता है, और ऐसा होने पर कार्य के पूर्व परिणाम की अनादि सन्तति मे कार्य के सद्भाव का प्रसंग नहीं प्राप्त होता, क्योकि प्रागभाव के विनाश मे ही कार्यरूपता स्वीकार की गई है।

यह आगम वचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा कार्य से अव्यवहित पूर्व पर्याय का नाम प्रागभाव है। समर्थ पर्यायार्थिक निश्चय उपादान भी उसी का नाम है।

(३) यदि समीक्षक कहे कि हमने उपादान को जो अनेक योग्यता वाला लिखा है वह व्यवहारनय से ही लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योकि व्यवहार नय से उपादान अर्थात् प्रागभाव का लक्षण लिखते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्री मे कहते हैं—

व्यवहारनयार्पणात्तु मृदादिद्रव्य घटादे.प्रागभाव इति वचनेऽपि प्रागभावस्वभावता घटस्य न दुर्घटा, यतो द्रव्यस्याभावासभवान्न जातु चिदुत्पत्तिर्घटस्य स्यात्, कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य घटादिप्रागभावरूपतोपगमात्, तस्य च कार्योत्पत्तौ विनाशसिद्धे कार्यरहितविनाशमन्तरेण कार्यसहितयोत्पत्योगमात् कार्योत्पत्तेरेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य वक्ष्यमाणत्वात्। (पृ–१००)

व्यवहारनय की मुख्यता से तो मिट्टी आदि द्रव्य घटादि कार्यो का प्रागभाव है ऐसा कथन करने पर भी प्रागभाव की अभावस्वभावता घट की दुर्घट नहीं है, जिससे कि द्रव्य का अभाव सम्भव न होने से कभी भी घट की उत्पत्ति नही हो सकेगी यह कहा जावे, क्योकि जिनागम मे पूर्व कालविशिष्ट कार्यरहित मिट्टी आदि द्रव्य घटादि कार्यों की प्रागभावरूपता स्वीकार की गई है और उसका कार्य की उत्पत्ति होने पर विनाश होना सिद्ध है, क्योकि कार्यरहित मिट्टी आदि द्रव्य आदि का विनाश हुए बिना कार्यसहित रूप से उसकी उत्पत्ति नही बन सकती। कार्य की उत्पत्ति ही उपादान स्वरूप प्रागभाव का क्षय है यह आगे कहेंगे ही।

(4) इस प्रकार उभयनय की युगपत् विवक्षा मे अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त मिट्टी ही घटका उपादान सिद्ध होने पर उससे अव्यवहित उत्तर समय मे नियत घट की ही उत्पत्ति होगी। वहाँ कुम्भकार के योग और उपयोग (विकल्प) के बल पर अन्य सकोरादि कार्यों की किसी भी अवस्था मे उत्पत्ति नही हो सकती। इसलिये समीक्षक ने प्रेरक निमित्त का जो यह लक्षण किया है कि "प्रेरक निमित्त वे हैं जिसके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं" ठीक नही है, क्योकि प्रेरक निमित्तो के बल पर वह (समीक्षक) नियत उपादान से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है इस सिद्धान्त का अपलाप कर देना चाहता है। चाहे कार्यो के साथ वाह्य निमित्तो की अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियाँ कही जायें और चाहे वाह्य निमित्तो के साथ नियत कार्यों की अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियाँ कही जावें, दोनो ही अवस्थाओ मे नियत उपादान से ही नियत कार्यों की उत्पत्ति होती है, यह निश्चित है। आगम मे समर्थ उपादान कारण का जो लक्षण दिया गया है वह इस नियम का उल्लघन नही करता। आगम प्रमाण सहित समर्थ उपादान का लक्षण हम पहले दे ही आये है।

परीक्षामुख के इस सूत्र से भी उपादान के इस लक्षण की पुष्टि होती है, यथा —

"**पूर्वोत्तरचारिणो: कार्यकारणयोश्च क्रमभाव**" (अ.३ सू १८)

पूर्व और उत्तरचारी मे तथा कार्यकारण मे क्रमभाव नियत अविनाभाव होता है।

(४) यहाँ पर कार्य-कारण भाव का कथन करते समय, उससे उपादान-उपादेय भाव का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि जितने भी बाह्य निमित्त होते हैं उनका सद्भाव आगम मे कार्यकाल मे ही किया गया है; जैसे जब क्रोध कषाय कर्म का उदय होता है उसी समय क्रोध परिणाम होता है।

यद्यपि कषाय कर्म चार हैं, उनमे से किस कषाय कर्म का उदय हो उसकी व्यवस्था एक समय पूर्व बन जाती है, वही उदयरूप कषाय कर्म का उपादान है। और इसके उदयकाल मे आत्मा भी स्वय उस कषाय रूप परिणम जाता है। यहाँ हमने कर्म के उदय की मुख्यता से कषाय परिणाम का विचार किया है, इसी बात को यदि आत्मा को मुख्य कर के कहा जावे तो ऐसा कहा जावेगा कि जिस समय आत्मा क्रोध कषाय रूप परिणाम करता है उसी समय क्रोध कषायकर्म का उदय होता है। इस प्रकार इन दोनो मे समव्याप्ति है। काल प्रत्यासत्ति इसी का दूसरा नाम है।

अत: समीक्षक का यह कहना, कि प्रेरक निमित्त के अनुसार कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, जिनागम के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि बाह्य निमित्तो की सत्ता उपादान काल मे ही मानी गयी है, ऐसी अवस्था मे प्रेरक निमित्तो के बल पर कार्य का आगे-पीछे किया जाना कैसे संभव हो सकता है?

(५) बाह्य निमित्त और कार्य एक काल मे होते हैं, इसकी पुष्टि छहढाला के इस वचन मे भी होती है—

सम्यक् साथे ज्ञान होय पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान दुहू मे भेव अबाधो॥

सम्यग्दर्शन निमित्त कारण है, और सम्यग्ज्ञान कार्य है, फिर भी ये दोनो एक समय मे युगपत् होते हैं, फिर भी ये दो हैं—क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण श्रद्धा है और सम्यक्ज्ञान का लक्षण ज्ञान है यह इन दोनो मे बाधा रहित भेद है।

जैसे जिस समय क्रोध कषाय का उदय होता है उसके एक समय पूर्व उदयावलि मे स्थित उस समय शेष तीन कषायो के कर्म परमाणु स्तिबुकसंक्रमण द्वारा स्वयं क्रोध कर्मरूप परिणम जाते हैं — ऐसी व्यवस्था है।

(६) केवल पर्याय उपादान नहीं होती और न केवल द्रव्य ही उपादान होता है, किन्तु विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य ही अथवा पर्याययुक्त द्रव्य का उपादान होता है। इस तथ्य का समर्थन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के इस वचन से भी होता है —

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनम्। तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः, पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्। (त. श्लो., न. जि. पृ-५१५)

सम्यग्दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा सम्यग्दर्शन है। वह विशिष्ट ज्ञान परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है, क्योकि केवल पर्यायमात्र और केवल जीवादि द्रव्यमात्र उपादान नही हो सकता। जैसे कि कछुए के (असत् रूप) रोम आदि किसी के उपादान नही होते।

इसप्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक कार्य का (जो कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय मे होता है) नियत उपादान होता है और कार्यकाल मे उसके नियत वाह्य निमित्त होते हैं। यह आगम परम्परा है। इसी आधार पर जिनागम मे ईश्वरवाद का निषेध किया गया है, क्योकि जिनागम के अनुसार सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं और उनके परिणाम भी स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि जिनागम मे एक द्रव्य की विवक्षा मे भी कर्ता का स्वरूप कर्म निरपेक्ष स्वतन्त्र माना गया है और इसी प्रकार कर्म का स्वरूप भी कर्तृ निरपेक्ष स्वतन्त्र माना गया है। केवल इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष अवश्य किया जाता है।[1] जव कि जिनागम के अनुसार कार्य–कारणभाव की यह व्यवस्था है, ऐसी अवस्था मे कार्य परमार्थ से बाह्य निमित्त सापेक्ष माना जाय, यह किसी भी अवस्था मे सम्भव नही है। तथा इसी प्रकार उपादान का स्वरूप उपादेय निरपेक्ष होता है और उपादेय का स्वरूप उपादान निरपेक्ष होता है। मात्र इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष अवश्य किया जाता है। आगम की इस व्यवस्था को ध्यान मे रखने पर जिनागम मे प्रेरक निमित्त कारण हो यह सिद्ध नही होता।

कार्यों की अपेक्षा बाह्य निमित्तो मे भेद नहीं

खानिया तत्त्वचर्चा मे हमने इसे (प्रेरक नाम के निमित्त को) केवल शाब्दिक प्रयोग के आधार पर ही स्वीकार किया था। और इसीलिये इष्टोपदेश टीका के आधार पर कार्यकाल में उसको (प्रेरक निमित्त को) उदासीन निमित्त के समान उल्लिखित कर दिया था। इतना अवश्य है कि आगम मे प्रायोगिक और विस्रसा इन दो शब्दो का निमित्त कारणो के अर्थ मे अवश्य प्रयोग हुआ है। जो बुद्धि निरपेक्ष दैव सापेक्ष कार्य होते हैं, उन्हे विस्रसा कार्य कहते हैं। यह आगम की व्यवस्था है। यथा —

बधोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात् ॥१०॥

बधोऽपि द्वैविध्यमश्नुते। कुत ? विस्रसाप्रयोगभेदात् वैस्रसिक प्रायोगिकश्चेति।

[तत्वार्थवर्तिक अ–५–सू–२४]

विस्रसा व प्रयोग के भेद से वध भी दो प्रकार का है (१०)

विस्रसा और प्रयोग के भेद से वध भी द्विविधता को प्राप्त होता है। यथा — वैस्रसिक और प्रायोगिक।

यहा पुरुषार्थ निरपेक्ष के अर्थ मे विस्रसा शब्द का प्रयोग हुआ है तथा जीव के मन-वचन-काय के सयोग को प्रयोग कहते है और प्रयोग पूर्वक होने वाले कार्यो को प्रायोगिक कहते हैं।

---

१ नहि कर्तृ स्वरूप कर्मापेक्ष कर्मस्वरूप वा कत्रपेक्षम्, उभयासत्वप्रसगात्।
नापि कर्तृ व्यवहार कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्ष। (अष्टसहस्री का० ७५)

प्रायोगिक कार्य दो प्रकार के होते है — अजीव सम्बन्धी और जीवाजीव सम्बन्धी। प्राणियो के द्वारा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पूर्वक अजीव सम्बन्धी जितने कार्य होते हैं, वे अजीव विषयक प्रायोगिक कार्य कहलाते हैं। तथा जीव के द्वारा जो कर्म और नोकर्म का ग्रहण होकर जो सम्बन्ध बनता है, वे जीवाजीव विषयक प्रायोगिक कार्य कहे जाते हैं। इनके सिवाय जीवो के मन-वचन और काय को निमित्त न करके अन्य जितने भी कार्य होते हैं, वे सब विस्रसा कार्य कहलाते हैं। इतना अवश्य है कि प्राणियो के पुरुषार्थपूर्वक जितने कार्य होते हैं, उनमे दैव की गौणता रहती है[1] और दैव की मुख्यता से जितने कार्य होते हैं उनमे पुरुषार्थ[2] की गौणता रहती है। यह जिनागम की सम्यक् व्यवस्था है। [तत्त्वार्थ वार्तिक अ० ५ सू० २४, आप्तमीमासा का० ९१]

इस प्रकार इनने विवेचन से हम पहले विवक्षित कार्य और बाह्य निमित्त को ध्यान मे रखकर जो अनेक विकल्प लिख आये हैं उन सबका निराकरण होकर केवल एक यही विकल्प प्रकृत में आगम सम्मत ठहरता है कि प्रतिसमय नियत उपादान से नियत कार्य की ही निष्पत्ति होती है और बाह्य व्याप्ति या कालप्रत्यासत्तिवश इस कार्य के नियत निमित्त होते हैं। इसी बात का समर्थन कर्मशास्त्र की समग्र प्ररूपणा से भी होता है। यथा—जिस समय कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होता है उसी समय औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव भी होते हैं, इनमे समय भेद नही हैं। इसी प्रकार जिस समय इस जीव के दर्शनमोह और चारित्रमोह निमित्तक जीव का जो भाव होता है, उसी समय उसको निमित्तकर कर्मबन्ध भी होता है। इसमे भी समय भेद नही है। इस प्रकार कार्य और उसके निमित्त — ये दोनो यद्यपि एक काल मे होते हैं, फिर भी यह इनके निमित्त से हुआ ऐसा निमित्त-नैमित्तक व्यवहार इन दोनो मे बन जाता है। और यही कारण है कि इसे उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से स्वीकार किया गया है। जहा दोनो एक क्षेत्र मे परस्पर अवगाहित होकर होते हैं, वहां उपचरित असद्भूत का व्यवहार होता है तथा जहाँ ये दोनो क्षेत्र भेद से होते हैं, वहाँ अनुपचरित असद्भूत व्यवहार होता है। यद्यपि बाह्य निमित्त से अन्य द्रव्य का कार्य नही होता, फिर भी यह इससे हुआ या इसने इसे किया ऐसा व्यवहार किया जाता है। यही कारण है कि आगम मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय स्वीकार किया गया है।

अर्थ विपर्यास—

यहाँ समीक्षक ने समयसार की "ज कुणई भावमादा" गाथा ९१ तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की "जीवकृत परिणाम" कारिका १२ को स० पृ० १७ मे उद्धृत कर उनसे प्रेरक निमित्तो को सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है। जबकि समयसार की उक्त गाथा मे इतना ही कहा गया है कि जिस समय जीव अपने भाव करता है उसी समय पुद्गल कर्मवर्गणाए स्वय कर्मस्वरूप परिणाम जाती हैं। तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की कारिका द्वारा "जीव के द्वारा किये गए भावो को निमित्त कर कर्मवर्गणायें स्वय ही कर्मरूप परिणाम जाती है" यह कहा गया है। ऐसी अवस्था मे

---

१ पुराकृत कम योग्यता च दैवम्। अष्ट स का १०१

२ पुरुषार्थ पुन इहिचेष्टिकृत मदष्टम्। अष्ट स का १११।

इन उद्धरणो को प्रेरक निमित्त के अर्थ मे उपस्थित करना समीक्षक के अर्थविपर्यास को सिद्ध करता है ।

दूसरे इन उद्धरणो का अर्थ करते समय इनसे प्रेरक निमित्तो के समर्थन के अभिनय से समीक्षक ने जो "परिणमदे" और "परिणमन्ते" इन क्रियाओ का क्रम से जो यह अर्थ किया है "कर्मरूप परिणत होता है" और "कर्मरूप से परिणत होते हैं ।" सो इससे समीक्षक के द्वारा किये गये इस अर्थ को अर्थविपर्यास की सज्ञा दी जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी, क्योकि वास्तव मे उन दोनो क्रियाओ का क्रम से अर्थ होता है—"परिणमन करता है या परिणमता है" तथा "परिणमन करते हैं या परिणमते हैं ।" उसी प्रकार "स्वय" पद के अर्थ करने मे भी समीक्षक ने अपनी मान्यता को पुष्ट करने का असफल प्रयत्न किय है, क्योकि यहा "स्वय" पद का अर्थ "आप ही" हैं । इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पुद्गल कर्मवर्गणायें विना किसी दूसरे की सहायता के स्वय कर्मरूप परिणम जाती हैं । दूसरे की सहायता से परिणमती है, यह असद्भूत व्यवहार है ।

उपसहार [स० पृ० १८]

(१) इस प्रकार उपसहार के रूप मे हम यहा उत्तर स्वरूप इतना ही कहना चाहते हैं कि आगम मे शब्द प्रयोगो के अर्थ को बदलकर तत्त्व का निर्णय न किया जाकर वस्तु स्वरूप के आधार पर तत्त्व का निर्णय किया जाना योग्य है और यही जिनागम का सार है ।

(२) नैयायिक दर्शन भी निमित्तो को स्वीकार करता है । उसने ईश्वर को इसी रूप मे स्वीकार किया है तथा जैन दर्शन भी निमित्तो को स्वीकार करता है । परन्तु इन दोनो के दृष्टिकोण मे जो मौलिक अन्तर है उसे देखते हुये समीक्षक लौकिक कार्यों मे जैन दर्शन के दृष्टिकोण को छोडकर नैयायिक दर्शन के दृष्टिकोण को अपना लेता है । इतना ही नही वह (समीक्षक) मोक्ष कार्य को स्वपर प्रत्यय स्वीकार करके भी उस मोक्ष कार्य को भी पर सापेक्ष स्वीकार कर लेता है । वस्तुत देखा जाय तो नैयायिक दर्शन का दृष्टिकोण भी यही है । जैन दर्शन तो कार्य का मुख्य कर्त्ता उपादान रूप उस वस्तु को ही स्वीकारता है । जहा स्वभाव को गौण कर परभाव को कर्त्ता मानकर कार्य का विधान किया जाता है, उसे ही लौकिक दृष्टि कहा जाता है, किन्तु जहा पर परभाव को कर्त्ता न मान कर स्वभाव पर दृष्टि रखकर कार्य का विधान किया जाता है उसको ही अलौकिक या जैन दृष्टि कहते हैं । आशय यह है कि ससार के कार्यों मे अज्ञानी के सदा दृष्टि मे परावलम्वन की मुख्यता रहती है और मोक्ष कार्यों मे ज्ञानी की दृष्टि मे सदा स्वावलम्बन की मुख्यता रहती है । फिर भी एक द्रव्य परमार्थ से दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नही होता यह निश्चित है । इसी वात को ध्यान मे रखकर स्वामी समन्तभद्र ने "**बाह्यतरोपाधि**" इत्यादि कारिका निवद्ध की है । इसलिये लौकिक कार्यों को पर सापेक्ष कहा जाता है और मोक्षकार्यों को पर निरपेक्ष कहा जाता है यह जिनागम की सगति हैं । इसे समीक्षक जव भी हृदयगम करेगा उसका हम स्वागत करेंगे ।

तत्त्वविमर्श मे भय का कोई कारण नही [स०पृ० १९]

(१) जब हम यह भले प्रकार जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टय जुदे-जुदे हैं। ऐमी अवस्था मे एक द्रव्य का स्वचतुष्टय दूसरे द्रव्य के स्वचतुष्टय मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता। कहा भी है—

नहि स्वतोऽसती शक्ति कर्तु मन्येनयं पाते।

आत्मख्याति टीका समय सार, गाथा ११६–१२०

(२) तीनो कालो के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, ऐसी अवस्था मे उपादान को अनेक योग्यता वाला मानना कदापि सम्भव नही है। आगम मे भी ऐसा वचन नही मिलता, जिससे उपादान अनेक योग्यता वाला होता है इसका समर्थन हो।

(३) तीसरे द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप होता है। इस अपेक्षा से विचार करने पर जैसे प्रत्येक द्रव्य ध्रौव्य स्वरूप स्वत है, उसी प्रकार वह उत्पाद और व्ययस्वरूप भी स्वत है और स्वरूप किसी के द्वारा किया नही जा सकता यह वस्तुस्थिति है। इसलिए मनुष्यगति नाम कर्म के उदय से जीव मनुष्य हुआ या अमुक निमित्त से अमुक कार्य हुआ या इसने अपने से भिन्न दूसरे का कार्य कर दिया इत्यादि कहना या लिखना मात्र प्रयोजन विशेष को ध्यान मे रखकर असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा या लिखा जाता है। परमार्थ से तो जिस पर्याय का जो स्वकाल है, उस समय पूर्व पर्याय का व्यय होकर उत्तर पर्याय का उत्पाद स्वय होता ही है यह उपादान उपादेय भाव की स्वय सिद्ध व्यवस्था है।

(४) प्रवचनसार की दोनो टीकाओ मे द्रव्य को उत्पाद व्यय-ध्रुवस्वरूप सिद्ध करने के लिए लटकते हुए हार का उदाहरण दिया है।

हार मे डोरा अन्वय (ध्रौव्य) का प्रतीक है और मणि उत्पाद-व्यय के प्रतीक हैं। जैसे हार मे जिस स्थान पर जो मणि हैं उसे वहा से हटाया नही जा सकता, वैसे ही अन्वय मे जिस पर्याय का जो स्वकाल है वहा से उसे अलग नही किया जा सकता। इतना अवश्य है कि जैसे एक मणि पर से अगुली उससे अगले मणि पर रखने पर पिछला मणि गौण हो जाता है और अगला मणि मुख्य वैसे ही विवक्षित एक पर्याय का व्यय होने पर उसी समय उससे अगली पर्याय का नियम से उत्पाद होता है। निमित्त से उसमे क्रमभग होना सम्भव नही है।

(५) नियत कार्य का नियत प्रागभाव (उपादान) होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय नई-नई पर्याय उत्पन्न होती है यह कथन नही बन सकता। इसलिए भी प्रत्येक पर्याय अपने उपादान के अनुसार होती है यह सिद्ध होता है। बाह्य निमित्त तो मात्र उसका सूचक या ज्ञापक होता है। तात्पर्य यह है कि कार्य की विवक्षा मे सूचक होता है और जानने की विवक्षा मे ज्ञापक होता है, उसमें जो कारणपने का व्यवहार करते हैं उसे मात्र उपचरित ही जानना चाहिए।

(६) यदि कार्य की प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित रहती है तो इसमे वह कार्य नही होता यह जो परीक्षामुख के एक सूत्र मे कहा गया है, सो वह विवक्षित कार्य की अपेक्षा से ही कहा गय

तदतिरिक्त कार्य की अपेक्षा से नही। यदि इसे सिद्धान्त मान लिया जाय तो जवतक वह प्रतिवन्धक सामग्री वनी रहेगी, तव तक उस द्रव्य को अपरिणामी मानना पडेगा। किन्तु ऐसा है नही, अत परीक्षामुख मे जो प्रतिवन्धक सामग्री का कथन आया है वह विवक्षित कार्य की अपेक्षा से नही ऐसा यहा निश्चय करना चाहिये। वस्तुत जिसे हम प्रतिवन्धक कारण कहते हैं वह विवक्षित कार्य के अतिरिक्त उस समय अपने उपादान के अनुसार होने वाले कार्य का निमित्त ही है।

(७) चाहे लौकिक कार्य हो या पारमार्थिक कार्य हो, कार्य किसी भी प्रकार का क्यो न हो, दोनो प्रकार के ही कार्य वाह्य और अभ्यन्तर उपाधि की समग्रता मे होते हैं, इसमे सन्देह नही। इन दोनो प्रकार के कार्यों मे जो भेद होता है वह दृष्टिकोण के भेद से ही भेद होता है। लौकिक दृष्टि वाला अज्ञानी होता है। वह पर से अपने कार्य की सिद्धि मानता है, इसलिए परलक्ष्यी होने से वह पर की उठाधरी मे अपने को लगाये रखता है। जब कि पारमार्थिक दृष्टि वाला ज्ञानी होता है, वह अन्य कार्य की सिद्धि मे सुनिश्चित स्वभाव को साधक जानकर बुद्धि मे उसका आलम्बन लेकर स्वभावभूत आत्मा की भावना करता है। इस प्रकार जितने भी कार्य होते हैं वे अपनी-अपनी कारक सामग्री की समग्रता में नियत उपादान के अनुसार नियत समय मे ही होते हैं ऐसा वह जानता है, इसलिए आकुलित नही होता। कदाचित् कषाय का उद्रेक होता है तो वह उसे अपना दोष जान कर उसे शान्त करने का यत्न करता है।

यहाँ अभी तक जो लिखा गया है, यह उसका सार है जो सवके लिये मार्गदर्शक है।

कोई भी वाह्य निमित्त हो वे अन्य द्रव्य का कार्य करते ही नहीं

समीक्षक पृष्ठ २० मे "निमित्तो का कार्य मे प्रवेश सभव क्यो नही और निमित्तो का कार्य मे प्रवेश अनावश्यक क्यो" इन दो शीर्षको के अन्तर्गत समीक्षक ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे पूरे वस्तुस्वरूप पर प्रकाश डालने मे असमर्थ हैं, क्योकि जिन्हे हम निमित्त कहते हैं वे विवक्षित द्रव्य के कार्य के काल मे स्वय उपादान होकर अपने ही कार्यों के कर्ता होते हैं, इसलिए न तो उसका विवक्षित कार्यों मे उन कार्यों के स्वचतुष्टय वनकर प्रवेश होता है और न वे परमार्थत विवक्षित कार्यों की उत्पत्ति मे सहायक ही हो सकते हैं उनमे एक काल-प्रत्यासत्तिवश या वाह्यव्याप्तिवश सहायकपने या विवक्षित कार्यों के हेतु-कर्त्ता वनने का व्यवहार अवश्य किया जाता है जो उपचरित होने से असद्भूत ही होता है।

योग्यता से तात्पर्य

समीक्षक ने पृ० २२ (समीक्षा) मे 'योग्यता से' वस्तु की नित्य उपादान शक्ति को ग्रहण किया है, सो उसका ऐसा मानना ठीक नही है, क्योकि न तो केवल अन्वयरूप द्रव्य ही उपादान होता है और न केवल पर्याय ही, परमार्थ से पर्याय युक्त द्रव्य ही कार्य का उपादान होता है। यहा शकाकार ने प्रमेयकमलमार्तण्ड का जो उदाहरण उपस्थित किया है, उसके इस वचन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि पर्याय शक्ति से युक्त द्रव्य शक्ति ही विशिष्ट कार्य को जन्म देती है।

"पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्ट पर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीते"

हमने अर्थ करने मे कोई भूल नहीं की

समीक्षक ने (स० पृ० २३ मे) इष्टोपदेश के अर्थ को लेकर जो विवाद खडा किया है वह योग्य नही प्रतीत होता। इष्टोपदेश श्लोक का तीसरा चरण इतना ही है—"निमित्तमात्रमन्यस्तु"। इस चरण मे अन्य निमित्त मात्र इतना ही कहा गया है। सवाल यह है कि जो भी निमित्त होगा वह किसी कार्य का तो निमित्त होगा ही। अतएव "विवक्षित कार्य का" इतना वाक्याश अपने आप फलित हो जाता है। वह विवक्षित कार्य कुछ भी हो सकता है। यहा [स० पृ० २४] समीक्षक ने निमित्त का अर्थ सहकारी कारण किया है सो उपचार से ऐसा अर्थ करने मे आगम मे कोई बाधा नही आती।

"नन्वेव" इत्यादि पदो का समीक्षक ने जो अर्थ लिया है, वह उसकी केवल बुद्धि का व्यायाम मात्र ही है। निष्कर्ष रूप मे यहाँ यह समझना चाहिये—

१. पृ २६ के आधार पर निमित्त किसी प्रकार का भी क्यो न हो, वह कार्य का व्यापार करने के प्रति उदासीन ही होता है।

२ निमित्त अन्य के कार्य का व्यापार नही करता — इस अपेक्षा से वह परका कार्य करने मे अकिंचित्कर ही है।

३ योग्यता द्रव्य रूप भी होती है और पर्यायरूप भी होती है, दोनो के मिलने पर उनके अनुसार नियम से कार्य होता है — यह जिनागम का सार है।

स पृ १७ मे समीक्षक ने स पृ २२ मे दिये गये 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' के उद्धरण का जो आशय फलित किया है, वह उसकी अपनी सूझ है, क्योकि पर्याय के उत्पत्तिकाल मे ही काल प्रत्यासत्तिवश अन्य मे निमित्त व्यवहार किया जाता है — ऐसा आगम का नियम है। कोई किसी को खीचकर नही लाता, ऐसा व्यवहार अवश्य होता है।

स पृ २६ मे अष्टसहस्रीगत अष्टशती मे यह वचन आया है —

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्कर किं सहकारिकारण स्यात् (पृ १०५)

यह वचन भट्टाकलकदेव ने मीमासको के प्रति उपालम्भ के रूप मे प्रयुक्त किया है, क्योकि मीमासक शब्द को सर्वथा नित्य मानता है, फिर भी तालु आदिका आलम्बन लेकर शब्द की प्रवृत्ति भी स्वीकार करता है। उसके ऐसे दुराग्रहपूर्ण मन्तव्य को ध्यान मे रखकर ही भट्टाकलकदेव ने उलाहने के रूप मे उससे यह वचन कहा है कि "शब्द के सर्वथा नित्य होने के कारण उसके कार्यरूप मे न हो सकने रूप असामर्थ्य का खण्डन न करते हुए सहकारी कारण क्या अकिंचित्कर ही बना रहता है ?"

सो यहा सामने प्रतिपक्ष है, उसके एकान्त मत का खण्डन किया जा रहा है, इसलिये उसके एकान्त मत के खण्डन को ध्यान मे रखकर आचार्यदेव ने यह वचन कहा है। अत. ऐसे वचन को ध्यान मे रखकर समीक्षक ने जो अपने इष्टार्थ को फलित करना चाहा, वह योग्य नही है। शब्दो के प्रयोग मे तालु आदि निमित्त होने ही हैं, और वे उपचार से सहकारी कारण भी कहे जाते हैं, यह

स्वपक्ष की बात है। परपक्ष की दृष्टि मे कौन उपचरित कथन है और कौन अनुपचरित कथन है इस विवेचना मे पडने से कोई मतलब सिद्ध नही होता। यहा तो आचार्य को मीमासक के ऐकान्तिक मत का खण्डन करना इष्ट था। इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्य ने अष्टशती के उक्त वचन का प्रयोग किया है।

आगम का कथन स्पष्ट है

स पृ २७ मे समीक्षक ने "समाधान पक्ष के दृष्टिकोण का अन्य प्रकार से निराकरण" शीर्षक के अन्तर्गत सर्वार्थसिद्धि (अ ५ सू ७) का उद्धरण देकर जो अपनी इच्छानुसार अर्थ फलित किया है, उसे उनकी ही अप नी स्वतन्त्र कल्पना कहना चाहिये, क्योंकि हम यह पहले ही बतला आये हैं कि सर्वत्र स्वप्रत्यय परिणमन का अर्थ स्वभाव पर्याय लिया गया है और स्वपर प्रत्यय परिणमन का अथ विभाव पर्याय लिया गया है। यद्यपि स्वप्रत्यय परिणमन मे बाह्य निमित्त अवश्य होता है, पर उसकी वहा दृष्टि मे गौणता रहती है। इतना अवश्य है कि षड्गुणी हानि और षड्गुणी वृद्धि मे से एक काल मे कोई एक हानि या कोई एक वृद्धि नियम से होती है। तब कौन हानि होती है और कौन वृद्धि होती है इसका निश्चय नियम होकर भी वह हमारी प्रत्यक्ष बुद्धि का विषय नही है। कार्य के आधार पर अनुमान अवश्य समर्थ उपादान के आधार पर किया जा सकता है।

(स. पृ २६) मिट्टी का अन्वय सदाकाल पाया जाता है। घट के फूटने पर भी मिट्टी का अन्वय बना रहता है। यहा मिट्टी अन्वय के रूप मे विवक्षित है, कुशूल का अन्वय सदाकाल बनता नही है, इसलिये घट मे कुशूल का अन्वय नही कहा जाता है इतना समीक्षक को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। अत ऐसी बात लिखकर व्यर्थ के कलेवर को बढाना योग्य प्रतीत नही होता। विवाद का मुद्दा तो इतना ही है कि कार्य होते समय बाह्य वस्तु मे जो निमित्तता स्वीकार की गयी है, वह निमित्तता उसमे भूतार्थ है या उपचार से कही जाती है। आगम के अनुसार तो वह उपचरित ही मानी गयी है। यही हमारा लिखना भी है और कहना भी है। आगम से भी इसका समर्थन होता है, वह आगम है समयसार गाथा १०६, १०७ और १०८ आदि।

यदि कहा जाय कि उक्त गाथा मे अन्य द्रव्यो के कार्य भूतार्थ से अन्य द्रव्य करते हैं इसका निषेध किया है, इससे निमित्त के सहायक होने का निषेध कहा हुआ। तो इस पर हमारा कहना यह है कि यदि जब अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्य के रूप परिणमने की परमार्थ से क्रिया नही कर सकता, जैसा कि समयसार गाथा १०७ से स्पष्ट ज्ञात होता है, तो फिर उसे अन्य द्रव्य के कार्य का सहायक कहना यह उपचार से ही तो बनेगा, भूतार्थ से उसे सहायक कहना यह आगम के नाम पर अपने विचारो को चलाना ही तो कहलायेगा।

पृ २४ (स) मे गुणस्थानो की चर्चा करते हुए जो द्वादश आदि गुणस्थानो की उत्पत्ति के जिन निमित्तो का उल्लेख किया सो उनका हमने तो निषेध किया नहीं। हमारा कहना तो इतना ही है कि बारहवा आदि गुणस्थानो की उत्पत्ति का मूल कारण तो उपयोग मे स्वभाव के आलम्बन मे रत्नत्रय का सद्भावरूप परिणमना ही है। जब यह जीव आत्म पुरुषार्थ को जाग्रत कर रत्नत्रयरूप परिणाम से परिणत होता है, तब स्वय कर्म की हानि होने लगती है और अत मे मोहनीय और ज्ञानावरणादि कर्मो का स्वय क्षय होकर स्वय ही यह जीव आत्मपुरुषार्थ को जाग्रत कर इन गुणस्थानो को प्राप्त कर

लेता है। फिर भी मोहनीय और ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने से इन गुणस्थानो की प्राप्ति हुई, यह असद्भूत व्यवहार नय से कहा जाता है।'

द्वितीय भाग की समीक्षा के आधार पर

पृ २६ (म) मे समीक्षक ने उदासीन निमित्त के समान व्यवहार मे कहे जाने वाले प्रेरक निमित्तो को व्यवहारहेतु मान लिया है, यह प्रसन्नता की बात है। फिर भी उसका जो यह कहना है कि "प्रश्न प्रेरक और उदासीन निमित्तो को व्यवहारहेतु मानने न मानने के विषय मे नही है, अपितु प्रश्न यह है कि व्यवहारहेतु होते हुए भी प्रेरक निमित्त को कार्योत्पत्ति मे उपादान का सहायक होने रूप मे कार्यकारी माना जाय या उसे वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर स्वीकार किया जाय। पूर्वपक्ष तो अपने उक्त कथन मे यह भी स्पष्ट स्वीकार कर रहा है कि प्रेरक निमित्त के समान पचास्तिकाय की गाथा ८७ और ६८ वे की टीकाओ के आधार पर उदासीन निमित्त भी कार्योत्पत्ति मे उपादान का सहायक होने से कार्यकारी है, अकिंचित्कर नही।" यह समीक्षक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि जैसे समीक्षक ने लोक मे माने गये दोनो प्रकार के निमित्तो को व्यवहारहेतु रूप मे स्वीकार कर लिया है, उसी प्रकार उसे उपादान के कार्यों मे व्यवहार से (उपचार से) सहायक भी मान लेना चाहिये था, तो यह विवाद समाप्त हो जाता और समीक्षक इस आधार पर जिनागम के अनुसार उपादान के लक्षण को भी स्वीकार कर लेता और अन्य बातो को भी स्वीकार कर लेता; परतु उसकी अपनी हठ ही आगम के अनुसार मान्यता बनाने मे बाधक हो रही है।

पचास्तिकाय गाथा ८७ और ६४वे मे व्यवहार हेतु की मात्र सिद्धि की गयी है, पर इससे व्यवहार हेतु पर के कार्य की क्रिया करती है यह सिद्ध नही होता। इस अर्थ मे अर्थात् पर की क्रिया करने मे व्यवहार अकिंचित्कर ही है। और इसीलिये पंचास्तिकाय की गाथा ८७ मे प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र रूप से अर्थात् पर की सहायता की अपेक्षा किये बिना अपना कार्य करते हैं, इसकी पुष्टि मे यह वचन उपलब्ध होता है —

"तत्र जीव पुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ"।

वहाँ जीव और पुद्गल स्वरस से (स्वभाव से ही) गति परिणाम को तथा गति पूर्वक स्थिति परिणाम को प्राप्त होते हैं।

तृतीय भाग की समीक्षा के आधार पर (स. पृ ३०-३१)

अन्य जीव और द्रव्य अन्य की क्रिया नहीं कर सकता —

पृष्ठ ३० (म) मे भी समीक्षक ने निमित्तो की कार्यकारिता का समर्थन किया है, किन्तु पूर्व मे किये गये कथन के समान यहाँ इतना ही कहना है कि जब वह उपादान के कार्यों मे निमित्तो को व्यवहार से ही स्वीकार करता है — ऐसी हालत मे उसे उपादान के कार्यों मे उनकी (निमित्तो की) कार्यकारिता भी व्यवहार से अर्थात् उपचार से ही स्वीकार कर लेनी चाहिये। यहाँ जो सहकारी कारण का लक्षण — "यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहाकारिकारणमितरत् कार्यमिति' — इस लक्षण मे जिसे सहकारी कारण कहा गया है, उसमे निमित्तता ही सिद्ध होती है। उससे यह सिद्ध नही होता कि जो कार्य का सहकारी कारण कहलाता है, वह उपादान कर्ता के समान उस कार्य की क्रिया करने मे समर्थ होता है। मात्र लक्षण से इतना ही सिद्ध होता है कि उपादान के

जिस कार्य के साथ अन्य द्रव्य की त्रिकाल बाह्य व्याप्ति होती है, उसमे सहकारी कारण या निमित्त कारण का असद्भूत व्यवहार किया जाता है।

चतुर्थ भाग की समीक्षा के आधार पर

स्वयमेव पद का अर्थ :—

पृ ३१ (स.) मे समीक्षक ने 'स्वयमेव' पद का जो अर्थ 'अपने रूप' किया है, उसमे उसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि 'उपादान अपने कार्य को निमित्त के सहयोग से ही कर सकता है अन्यथा नही', किन्तु 'उपादान से कार्य होता है' यह निश्चयनय का कथन है, जो पर निरपेक्ष होने से उपादान स्वय ही अपना कार्य करने मे समर्थ है, इस अर्थ को सूचित करने के लिये ही प्रवचनसार गाथा १६६ मे 'स्वयमेव' पद द्वारा व्यक्त किया गया है। निश्चयनय का लक्षण है —

स्वाश्रितो निश्चयनय या अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चय ।

इन लक्षणो को ध्यान मे लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय से वस्तु की सिद्धि या प्राप्ति मे उपचार को कोई स्थान नही है। उपचरित नय अर्थात् व्यवहारनय अवश्य ही पर सापेक्ष होता है, किन्तु निश्चयनय पर सापेक्ष नही होता, स्वाश्रित कथन का नाम ही निश्चयनय है ऐसा यहा समझना चाहिये, क्योकि वह परनिरपेक्ष ही होता है। अतएव 'स्वयमेव' पद का अर्थ 'अपने आप ही' करना योग्य है, अन्य नही।

पचम भाग की समीक्षा के आधार पर

उपचार शब्द का अर्थ — पृ ३१ (स) के अनुसार समयसार गाथा १०५ मे जो 'उपचार' शब्द आया है, वह केवल 'अन्य ने अन्य का कार्य किया' या इसी प्रकार का जो अज्ञानियो का विकल्प होता है उसको ही सूचित करता है, परमार्थ को नही। अर्थात् वह विकल्प उपचार है, परमार्थ नही।

यदि समीक्षक को प्रयत्न करने पर भी प्रथम प्रश्न के उत्तर मे 'उपचार' का अर्थ नही उपलब्ध हुआ तो यहा अर्थ दे रहे हैं —

सति निमित्ते प्रयोजने च उपचार प्रवर्तते ।

निमित्त या प्रयोजन के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है।

इस विषय मे अनेक स्थानो पर लिखा जा चुका है, इसलिये विशेष स्पष्टीकरण नही कर रहे हैं। नोक-झोक करना हमारा काम नही, इसका विचार तो उसे ही करना चाहिये जो उपचार कथन को भूतार्थ ही रखकर पाठको को भ्रम की भूमिका मे ला खडा करना चाहता है।

जीव भूतार्थ रूप से पुद्गलों का निमित्त कर्ता भी नहीं होता :—आगे इसी पृष्ठ मे समीक्षक ने जीव को जो पुदगल कर्मो का निमित्त कर्ता लिखा है, सो यहाँ उसे ऐसा लिखना चाहिये था कि जीव पुद्गल कर्मो का उपचार से निमित्त कर्ता है। जहा तथ्यो के आधार पर वस्तु का विचार किया जाता है, वहा नय विभाग को आधार बनाकर ही लिखा-पढ़ा जाना चाहिये।

'मुह्यते' पद का अर्थ — 'मुह्यत इति मोहनीयम्' इसका अर्थ जीव द्वार चूलिका ११ मे 'जिसके द्वारा मोहित हो वह मोहनीय कर्म है' यह किया गया है। उसे देखकर ही हमने अपने उत्तर

मे भूल से वही अर्थ कर दिया था, जबकि यह प्रयोग कर्मकारक मे है, अत वहा उस प्रकार का सशोधन कर लेना हमे इष्ट है ।

निमित्त अकिंचित्कर क्यो है, इसका अर्थ — पृ ३२ (म) मे समीक्षक ने जो यह लिखा है 'परन्तु इसमे निमित्त को अकिंचित्कर नही सिद्ध किया जा सकता है' सो उसका ऐसा लिखना तभी उपयोगी माना जा सकता था, जब वह निमित्त के सहयोग को पूरी तरह अभूतार्थ स्वीकार कर लेता । हमने यदि कही उसे अकिंचित्कर लिखा भी है तो यहा 'निमित्त उपादान मिलकर उपादान के कार्य को करने की क्रिया करता है' इस अर्थ मे अकिंचित्कर लिखा है जो ठीक है ।

४ शंका १ दौर ३. समीक्षा का समाधान

तृतीय दौर मे भी हमने पूर्वपक्ष की शका का जो समाधान किया था, उसे वह समीक्षक की भूमिका स्वीकार करके भी उस पर टिककर नही रह सकता, यह हमे ही नही, सभी को खेद जनक लगेगा । साथ ही जो उसने हम पर कल्पित लाछन लगाने का दुष्प्रयत्न किया है, वह और भी खेदजनक है ।

उसने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए नयविभाग का विचार किये विना जो यह लिखा है कि 'वस्तु की विकारी परिणति दूसरी वस्तु का सहयोग प्राप्त होने पर ही होती है, उसका सहयोग प्राप्त हुए विना अपने आप नही हो जाती' सो उसका एकान्त से ऐसा लिखना और मानना यही विवाद की स्थिति है । कदाचित् उपचार से ऐसा कहा जाय तो भले ही कहा जाय, परन्तु बिना नयविभाग के तत्त्वविमर्श के समय ऐसा लिखना और मानना जैनदर्शन को मटियामेट करने के सिवाय और कुछ भी नही है, क्योकि कार्यकाल मे एक वस्तु दूसरी वस्तु को भूतार्थ रूप से सहयोग देती है — ऐसी मान्यता ही जब अज्ञान का फल है, ऐसी हालत मे उसे जैन दर्शन बतलाना जैन दर्शन को मटियामेट करने के सिवाय और क्या हो सकता है ?

पूर्व पक्ष का मूल प्रश्न इस रूप मे था—

"द्रव्यकर्म के उदय से ससारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नही?"

उत्तरपक्ष की ओर से मूल प्रश्न का हमारे द्वारा दिया गया उत्तर समीचीन था । हमने तीसरे दौर मे इसका उत्तर दूसरे दौर के आधार पर इस प्रकार दिया था—

"ससारी जीव के विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण मे कर्मोदय व्यवहार से निमित्तमात्र है, मुख्य कर्त्ता नही ।" (त च पृष्ठ ३६)

यह तो विचारक ही देखेंगे कि हमारे द्वारा नयविभाग से दिया गया यह उत्तर समीचीन होते हुए भी समीक्षक की भूमिका स्वीकार करके भी वह यह लिखने से नही चूकता कि "यह हमारे प्रश्न का उत्तर नही है ।"

यद्यपि उक्त प्रश्न कौन नय से किया गया है, इसका उल्लेख उक्त प्रश्न मे नही किया गया था, फिर भी यह प्रश्न कौन नय के अन्तर्गत आता है, इसे विस्मृत या उपेक्षित कर उत्तर देना भी तो सम्यक् उत्तर नही देता, सिवाय इसके कि वह वस्तुस्थिति को ध्यान मे रखकर नयविभाग से इस प्रश्न का समाधान करता है, हमने किया भी वही । ऐसी अवस्था मे समीक्षक इसे अपने प्रश्न का

उत्तर नही मानना चाहता, इसका हमे आश्चर्य हैं। शायद वह सभी प्रश्नो के समाधानों को नय-विभाग के विना गोलमाल रखना चाहता था, तभी तो वह बारबार "यह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं है" – यह लिखकर समाज को भ्रम मे रखना चाहता है। यह समीक्षक का विडम्बना भरा माहोल पैदा करना है। और फिर उल्टा हम पर आरोप करते हुए यह लिखना कि "विडम्बना यह है कि इस दौर मे उसने पूर्वपक्ष पर अनेक कल्पित आरोप लगाये हैं और उनके आधार पर पूर्वपक्ष की यद्वातद्वा आलोचना की है।" (स पृ ३३) सो यह उसकी कोरी कल्पना मात्र है। न तो हमने उसपर कोई आरोप लगाया है और न ही हमने उसकी आलोचना की है। कोई और तो और उसका यह कहना है कि पर की सहायता के विना कार्य नही होता और दूसरी ओर उसका आगम से झूठा समर्थन कराने का प्रयत्न करना। फिर भी यह लिखा जाय कि यह उपचार से ही कहा जा सकता है तो इस पर यह लिखना कि यह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं है तो इसे विडम्बना नही तो और क्या कहा जाय ?

शंकाकार द्वारा किये गये असमीचीन अर्थ का निराकरण

(१) 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' रूप से स्वीकृत उक्त वचन के अनुसार यद्यपि समीक्षक दो वस्तुए मिलकर एक विकार परिणति रूप होती है, इसे तो नही मानते, इसे हम स्वीकार करते, पर वह यह तो मानता ही है कि "वस्तु की विकारी परिणति दूसरी वस्तु का भूतार्थ से सहयोग प्राप्त होने पर ही होती है, उसका सहयोग प्राप्त हुए विना अपने आप नही हो जाती।" तो उसकी ऐसी मान्यता ही मुख्य रूप से विवाद का विषय बनी हुई है।

(२) पहले समीक्षक 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की इस गाथा को उद्धृत करके उसका अर्थ भी लिख आया है। यथा —

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गल कर्मभावेन ।। १२ ।।

उसके द्वारा किया हुआ अर्थ इस प्रकार है –

जीव द्वारा कृत परिणाम को निमित्तरूप से प्राप्त कर अन्य पुद्गल वहां स्वय (अपनी-योग्यता के अनुसार) कर्मरूप से परिणत होते हैं।

हम इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं —

जीवकृत परिणाम को निमित्त मात्र प्राप्त कर यहा अन्य पुद्गल कर्मरूप से स्वय ही (अन्य की सहायता के बिना) परिणमन करते है।

यहा विवाद के मुद्दे दो हैं – प्रथम "स्वयमेव" पद का अर्थ और दूसरा "परिणमन्ते" क्रिया का अर्थ।

समीक्षक "स्वयमेव" का अर्थ स्वय ही (अपने आप ही) नही करना चाहता और इसलिये उसने यहा इसका अर्थ किया है "अपनी योग्यतानुसार, दूसरे "परिणमन्ते" क्रिया का अर्थ" परिणमते हैं" नही करना चाहता, इसलिये उसने इसका अर्थ किया है — "परिणत होते हैं।"

इस प्रकार ये दो अर्थ है। अब सर्वप्रथम किसका किया हुआ अर्थ समीचीन है – इस बात का यहां विचार करना है। उसमे भी सर्वप्रथम "स्वयमेव" पद का जो अर्थ समीक्षक ने किया है, वह

ठीक है कि हमने जो अर्थ किया है वह ठीक है यह देखना है। इसके लिये हम समयसार गाथा १२१ से १२५ तक की टीका को उद्धृत कर रहे हैं

यदि कर्म स्वयमेवबन्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत् स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीव क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममान परिणममान वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीव क्रोधादिभावेन परिणामयेत्? न तावत्स्वयमपरिणममाणः परेण परिणामयितु पार्येत । न हि ज.त शक्तयः परमपेक्षन्ते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु तथा सति गरुडध्यान परिणतः साधकः स्वय गरुड इव ज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वय क्रोधादि. स्यात् इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

यह समयसार आत्मख्याति टीका का वचन है। इसमे जीव का परिणाम स्वभाव सिद्ध किया गया है। जीव परिणामस्वभाव स्वय है, किसी के कारण वह परिणामस्वभाव नही है। जब जीव स्वय परिणामस्वभाव है तो प्रतिक्षण स्वय ही वह अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को प्राप्त करता है अन्यथा ध्रौव्य के समान उत्पाद-व्यय लक्षण नही बनता।

अन्य द्रव्य के समान जीव का यह सामान्य लक्षण है, जो आत्मभूत होने से उसका ही अपना स्वरूप सिद्ध होता है। और स्वरूप पर द्वारा किया जाता नही, इस अपेक्षा से आगम मे उसे स्वयसिद्ध स्वीकार किया गया है। अष्टमहस्री पृ० २०७ मे कहा भी है —

"स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य वस्तुत्वव्यवस्थानात्"

स्थिति आदि तीन मिलकर वस्तु है ऐसी व्यवस्था है। सत् भी इसी का नाम है। कहा भी है —

"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्" (त० सू०)

जीव अजीव का भेद किये बिना यह प्रत्येक वस्तु का सामान्यस्वरूप है। जीव का विशेष लक्षण ज्ञान-दर्शन है, यह अपने अनन्त विशेष गुणों का प्रतिनिधित्व करता है। इस द्वारा जीव द्रव्य का अन्य द्रव्यो से व्यतिरेक सिद्ध होता है। इस प्रकार जिसमे ज्ञानरूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का अन्वय पाया जाता है, वह जीव है, यह हमारे अनुभव मे आये बिना नही रहता।

इस प्रकार विवेक बुद्धि से देखने पर प्रत्येक जीव स्वय उत्पाद है, स्वय व्यय है और स्वयं ध्रौव्य है। इन तीनो मे लक्षण भेद से भेद है और वस्तुपने की अपेक्षा अभेद है। साथ ही इस दृष्टि से देखने पर जो उत्पाद है वही कथंचित् व्यय है और कथंचित् ध्रौव्य है। जो व्यय है, वही कथंचित् उत्पाद है और कथंचित् ध्रौव्य है। तथा जो ध्रौव्य है, वही कथंचित् व्यय है और कथंचित उत्पाद है। इसी विषय को भगवत्स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्ददेव परम भट्टारक तीर्थंकरदेव भगवान महावीर की दिव्यध्वनि के सार को हृदयगम करते हुऐ प्रवचनसार मे लिखते हैं —

ण भवो भंगविहीणो भंगोवा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगोवा विणा धोव्वेण अत्थेण। १००॥

उत्पाद भंगरहित नही होता और भग उत्पाद के बिना नही होता तथा उत्पाद और भग ध्रौव्य के बिना नही होते।॥

न खलु सर्ग : सहारमन्तरेण, न सहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसहारो स्थिति-मन्तरेण, न स्थिति सर्गसहारमन्तरेण । य एव हि सर्ग स एव सहार , य एव सहार स एव सर्ग:, यावेव सर्ग-सहारौ सैव स्थिति:, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसहाराविति ।

वास्तव मे उत्पाद व्यय के विना नहीं होता, व्यय उत्पाद के विना नही होता, उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के बिना नही होते तथा ध्रौव्य उत्पाद और व्यय के विना नहीं होता, क्योकि जो उत्पाद है, वही व्यय है जो व्यय है, वही उत्पाद है, जो उत्पाद और व्यय, है वे ही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है ।

इस प्रकार आगम प्रमाण, तर्क और अनुभव से देखने पर प्रत्येक जड और चेतन वस्तु त्रयात्मक है ।-प्रति समय वस्तु का यह स्वरूप है, उसे किसी ने वनाया नही । किसी कारण से वह वनी या कारण विशेष ने उसे वनाया है ऐमा भूतार्थ से मानना ही जैनदर्शन मे ईश्वरवाद का प्रवेश है । वस्तुत प्रत्येक वस्तु ने प्रति समय स्वय ही विवक्षित स्वभाव से स्वभावान्तर को स्वीकार किया । इस प्रकार इसी अर्थ को सूचित करने मे कारण द्रव्य को स्वीकार किया गया है । वह विवक्षित कार्यरूप परिणमनेवाले द्रव्य से मिलकर कार्यरूप परिणमनेवाले द्रव्य की क्रिया नही करता वस्तुत वह (कारण द्रव्य निमत्त कारण) स्वय अपनी क्रिया करता है ।

विविक्षित कार्यरूप परिणमनेवाले द्रव्य की क्रिया करता है, ऐसा यदि कहा जाता है, तो वह असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है, फिर कार्यकाल मे वाह्य व्याप्तिवश प्राप्त हुऐ अन्य पदार्थ मे कालप्रत्यासत्तिवश निमित्त व्यवहार तो होता है ।

काल प्रत्यासत्तिवश हो निमित्त मे कारण व्यवहार होता है

आगम में सम्बन्ध को विवक्षा मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सम्बन्ध को चार प्रकार का स्वीकार किया गया है । इसी बात को स्पष्ट करते हुऐ श्री भट्टाकलकदेव अष्टसहस्री पृष्ठ १११ में लिखते है ।

"न हि कस्यचित् केनचित् साक्षात्परपरया वा सम्बन्धो नास्तितात्पाख्यत्व प्रसगात्" ।

किसी का किसी के साथ साक्षात् या परमपरा से सम्बन्ध नही है ऐसा नही कहा जा सकता, अन्यथा उसे शून्यपने का प्रसग आता है ।

द्रव्य प्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — जैसे, गुण और गुणी मे या पर्याय और पर्यायवान् मे द्रव्यप्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध है । इससे यह व्यवहार होता है कि इस गुणी का यह गुण है और इस पर्यायवान् की यह पर्याय है यदि इसमे साक्षात्तादात्म्यलक्षण सवन्ध नही माना जाता है तो जैसे स्वतत्र द्रव्य और पर्याय का अभाव प्राप्त होता है । वैसे ही समस्त गुण और पर्यायो से रहित द्रव्य का भी अभाव प्राप्त होता है ।

क्षेत्र प्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — जैसे चक्षु रूप मे इस नाम का सम्बन्ध है । यदि उक्त दोनो मे यह सम्बन्ध नही माना जाता है तो अयोग्य देश मे स्थित रूप का चक्षु द्वारा जैसे ज्ञान नहीं होता, वैसे ही योग्य देश मे स्थित रूप का भी चक्षु द्वारा ज्ञान नही हो सकेगा ।

काल प्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — कारण और कार्यरूप परिणाम में कालप्रत्यासत्तिलक्षण सम्बन्ध है । यदि कारण और कार्य मे यह सम्बन्ध नही स्वीकार किया जाता तो अनाभिमत काल मे रहने वाले दो पदार्थों मे जैसे कार्यकारण भाव नही बनता उसी प्रकार अभिमत काल मे भी कारण-कार्य भाव का सद्भाव सिद्ध नही होने से दोनो का अभाव हो जायगा ।

भावप्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध — यथा-व्याप्ति व्यवहारकालवर्ती धूमादि लिंग और अग्नि आदि लिंगी मे भावप्रत्यासत्ति लक्षण सम्बन्ध है। यदि यह नही माना जाता है तो अग्नि आदि लिंगी का धूमादि लिंग के द्वारा अनुमान हो सकने के कारण अनुमान और अनुमेय के असत्व का प्रसग आता है।

इस प्रकार द्रव्यादिप्रत्यासत्ति लक्षण चारो सम्बन्धो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे निमित्त कारण कहा गया है वह केवल कालप्रत्यासत्ति वश उस काल मे होने वाले कार्य का सूचक मात्र है। न तो वह उस कार्य का भूतार्थ रूप से सहायक ही है और न ही निमित्त कर्ता ही। ये दोनो मात्र असद्भूत व्यवहार के विषय अवश्य हैं।

प्रेरक निमित्त भूतार्थरूप से अन्य के कार्य के प्रेरक नहीं

(२) समीक्षक जिसे प्रेरक कारण कहता है, वह भी अन्य के कार्यरूप परिणाम क्रिया रूप व्यापार मे सहभागी नही होता। मात्र वह कार्यद्रव्य से भिन्न रहकर ही अपनी कार्यरूप परिणाम क्रिया रूप व्यापार मे प्रवृत्त रहता है। इसी से समयसार गाथा ८६ की आत्मख्याति टीका मे यह वचन उपलब्ध होता है—

यथा किल कुलाल कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहकारनिर्भरोऽपि स्वव्यापारानुरूप मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्त मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाण कुर्वाणः प्रतिभाति।

जैसे कुम्हार घडे की उत्पत्ति मे अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादि क्रियारूप) व्यापार परिणाम को, जो कि अपने से अभिन्न परिणति क्रिया से किया जाता है, करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घडा बनाने के अहकार से भरा हुआ होने से भी वह कुम्हार अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी के घट परिणाम को जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है—करता हुआ प्रतिभासित नही होता।

यह आत्मख्याति का वचन है। इसके अनुसार जिसे समीक्षक प्रेरक कारण कहता है, वह भी अन्य के कार्य का व्यापार करने मे स्वय असमर्थ है और ऐसी हालत मे अन्य के कार्य को वह आगे-पीछे कर सकता है, यह केवल समीक्षक की अपनी बुद्धि के व्यायाम के सिवाय और कुछ भी नही है। जो कार्य का नियत प्रागभाव है वही उपदान है।

(३) ऐसा नियम है कि जो जिस कार्य का नियत प्रागभाव या निश्चय उपादान होता है, उसके अभाव मे ही कार्य उत्पत्ति होती है। जैसा कि अष्टसहस्री के इस वचन से सिद्ध है—

"यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः स प्रागभाव"

जिसके अभाव मे नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि कार्य अपने नियत काल मे ही होता है, क्योकि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति प्रागभाव मे ही होती है और प्रत्येक कार्य का प्रागभाव प्रति समय है अन्यथा कार्य के साथ निमित्त कारण की कालप्रत्यासत्ति नही बन सकती। आगे कहे जाने वाले इन वचनो से भी इसकी पुष्टि होती है।

(४) कथंचित् सत कार्यत्वम्, उपादानस्योत्तरी भवनात् ।

जो कथचित् सत् है उसमे ही कार्यपना घटित होता है, क्योंकि उपादान का अलगी पर्यायरूप होना इसका नाम कार्य है ।

(५) पहले हम उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मे कथचित् अभेद सिद्ध कर आये हैं और साथ मे यह भी सकेत कर आये हैं कि यदि उत्पाद और व्यय भूतार्थ रूप से अन्य की सहायता से माने जाते हैं, तो पूरी वस्तु ही भूतार्थ से अन्य की सहायता से बनी है यह मानने के लिए बाध्य होना पडेगा, किन्तु ऐसा नही है । किन्तु प्रति समय प्रत्येक वस्तु का उत्पाद जो कि पर्याय की अपेक्षा व्यय स्वरूप है, वह अपने उपादान के अनुसार ही होता है । अत बाह्य निमित्त के अनुसार कार्य (उत्पाद) होता है ऐसा कहना मात्र असद्भूत व्यवहार ही है । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा कारिका ७५ की अष्टसहस्री टीका मे लिखा है—

"उपादानस्य पूर्वाकारणेन क्षय कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात्"

उपादान का पूर्व आकार रूप से क्षय का नाम ही कार्यका उत्पाद है, क्योकि दोनो मे एक हेतु का नियम देखा जाता है ।

(६) पर की अपेक्षा से धर्म या धर्मी की, कर्ता या कर्म की, कारण या कार्य की, प्रमाण या प्रमेय की सिद्धि तो होती है, पर इनमे से किसी भी एक का स्वरूप पर से नही बना करता है, वह स्वय होता है, इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी समन्तभद्रदेव आप्तमीमासा मे कहते हैं—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूप स्वतोह्येतत् कारकज्ञापकांगवत् ।।७५।।

यद्यपि धर्म और धर्मी का अविनाभाव एक दूसरे की अपेक्षा सिद्ध होता है, परन्तु उनका स्वरूप एक दूसरे की अपेक्षा से नही सिद्ध होता, क्योकि वह स्वत सिद्ध है । जिस तरह से कारकाग कर्ता और कर्म तथा ज्ञापकाग प्रमाण और प्रमेय को सिद्धि एक दूसरे की अपेक्षा सिद्ध होती हुई भी उनका स्वरूप स्वत सिद्ध होता है, अन्य के द्वारा तो बनाया जाता ही नही ।

(७) इसीलिए समयसार कलश मे आचार्यदेव समयसार कलश मे घोपणा करते हुए कहते हैं—

रागद्वेषोत्पादक तत्त्वदृष्टया ना यद्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यत स्वभावेन यस्मात् ।।२१९।।

तत्त्वदृष्टि से राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला अन्य द्रव्य किंचितमात्र भी दिखाई नही देता, क्योकि सव द्रव्यो की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अतरग मे अत्यन्त व्यक्त प्रकाशित होती है ।

ऐसी अवस्था मे समीक्षक ही बतावें कि उसके द्वारा माने गये प्रेरक कारण को जिनागम मे क्या स्थान रह जाता है, अर्थात् कुछ भी स्थान नही रहता । वह मात्र कल्पना का विषय है । इसके सिवाय और कुछ नही ।

(८) और इसीलिए ही अमृतचन्द्रदेव ने आत्मख्याति टीका मे जीव पुद्गल कर्म को करता है, इस अज्ञान के कारण अनादि काल से चला आ रहा व्यवहार वतलाया है। (देखो समयसार गाथा ८४वी) कर्मशास्त्र भी इसी अर्थ का समर्थन करता है।

अव थोडा कर्मशास्त्र की दृष्टि से भी इस विषय पर विचार कर लिया जाय—

(९) यह सभी शास्त्र स्वीकार करते हैं कि भय, शस्त्रप्रहार, सक्लेश परिणाम और श्वासोच्छ्वास के निरोध से आयु का विच्छेद हो जाता है। और इसीलिए इन साधनो के वलपर जो मरण होता है, उसे अकाल मरण कहते हैं। कर्मकाण्ड कर्मशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। उसमे भी इस वात का स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। मरण के तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। उनमे से च्यावित मरण की इसी कोटि मे परिगणना की जा सकती है। ऐसा होते हुए भी कर्मशास्त्र मे आयुकर्म की अपेक्षा क्या व्यवस्था है इस पर थोडा दृष्टिपात कर लें—

कर्मशास्त्र के अनुसार ज्ञानावरणादि सात कर्मों का आवाधाकाल स्थिति वन्ध मे सम्मिलित रहता है, परन्तु आयुकर्म का वन्ध होने समय उमका आवाधाकाल स्थिति वध की स्थिति मे सम्मिलित न होकर आयुवन्ध के काल मे जो भुज्यमान आयु शेष रहती है, तत्प्रमाण होता है।

अव प्रश्न यह है कि जैसे सात कर्मों के आवाधाकाल को परिणाम विशेष से घटाकर मात्र एक आवलिप्रमाण किया जा सकता है, उस प्रकार वध्यमान आयुकर्म के आवाधाकाल को क्या कम किया जा सकता है? अर्थात् जितनी भुज्यमान आयु के शेष रहने पर आगामी भव की आयु का वन्ध होता है, उस शेष रही भुज्यमान आयु को सक्लेश आदि अन्य कारणो के मिलने पर क्या कम किया जा सकता है या शेष रही उस भुज्यमान आयु के पूरा होने पर ही इस जीव का मरण होगा? यह एक मौलिक प्रश्न है। कर्मशास्त्र इस विषय मे क्या व्यवस्था देता है, इसे आगमप्रमाण के प्रकाश मे देखा जाय — जीवट्ठाण चूलिका अनुयोग द्वार मे नरकायु और देवायु का उत्कृष्ट स्थितिवध ३३ सागरोपमप्रमाण वतलाकर उसकी उत्कृष्ट आवाधा पूर्व कोटि के त्रिभागप्रमाण वतलाई गई है।

इस पर यहा यह शका की गई है कि इस उत्कृष्ट स्थिति की उत्कृष्ट आवाधा पूर्व कोटि के त्रिभाग से लेकर आसक्षेपाद्धा काल प्रमाण तक कोई भी हो सकती है। ऐसी अवस्था मे सूत्र मे उत्कृष्ट आवाधाकाल पूर्वकोटि के त्रिभाग-प्रमाण ही क्यो कहा गया है?

इसका समाधान करते हुए वतलाया है कि आयुकर्म का जितना स्थिति-वन्ध होता है, उसकी निषेक स्थिति भी उतनी ही होती है। अन्य कर्मों का जितना स्थितिवन्ध होता है, वन्धकाल मे उनकी निषेक स्थिति आवाधाकाल प्रमाण कम होती है। अर्थात् स्थितिवन्ध मे से आवाधाकाल घटाने पर जो वन्ध स्थिति शेष रहती है, तत्प्रमाण उनकी निषेक स्थिति होती है। उदाहरणार्थ किसी ने १०० समय प्रमाण स्थिति वध किया, अत १०० समय मे से प्रारभ के आवाधा सम्बन्धी ८ समय कम कर देने पर उसकी निषेक स्थिति ९२ समयप्रमाण शेष रहेगी।

किन्तु आयुकर्म का जितना स्थिति-वन्ध होता है, उतनी ही उसकी निषेक स्थिति होती है। आवाधाकाल आयुवन्ध काल से अलग भुज्यमान शेष रही स्थिति प्रमाण होता है। यहाँ आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-वन्ध लाना है, इसलिए ३३ सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति-बध है उससे पूर्व कोटि का त्रिभाग अलग है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस जीव ने ३३ सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिवन्ध ही

किया। पूर्व कोटि का त्रिभाग उसमे सम्मिलित नही है। इस प्रकार इस बात को बतलाने के लिए ही यहाँ सूत्र मे उत्कृष्ट आबाधा पूर्व कोटि का त्रिभागप्रमाण ही कही है।

अब सवाल यह है कि जिस जीव ने भुज्यमान आयु के पूर्व कोटि का त्रिभाग शेष रहने पर (आबाधाकाल को सम्मिलित कर) ३३ सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध किया है, वह आबाधाकाल के पूरा होने पर ही मरेगा या बीच मे ही विषभक्षण आदि से पूर्व कोटि के त्रिभाग शेष रही भुज्यमान आयु को घटाकर कभी भी मर सकेगा। सवाल महत्व का है, इसका समाधान करते हुए आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि कहते हैं—

आबाधा ॥ २४ ॥ ध० पु० ६ पृ० १६८

वह आबाधाकाल सब प्रकार की बाधाओ से रहित है।

इसी बात को धवला मे इन शब्दो मे स्पष्ट किया गया है—

पुव्वुत्ताबाधाकालब्भंतरे णिसेयट्ठिदीए बाधा णत्ति। जधणाणावरणादीण आबाधापरूव-सुत्तेण बाधाभावो सिद्धो, एवमेत्थवि सिज्झदि, किमट्ठविदियवारमाबाधाउच्चदे? ण; जधा णाणा-वरणादि समयपबद्धाण बधावत्थि वदिक्कताण ओकड्डण-परपयडिसकमादीहिं बाधाभावपरुवणह विदयवारमाबाधा णिद्देसादो।

पूर्वोक्त आबाधाकाल के भीतर विवक्षित किसी भी आयुकर्म की निषेक स्थिति मे बाधा नही होती।

शका—जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कार्यों की आबाधा का प्ररूपण करनेवाले सूत्र से बाधा का अभाव सिद्ध है, उसी प्रकार यहां पर भी बाधा का अभाव सिद्ध होता है, फिर दूसरी बार "आबाधा" सूत्र किसलिए कहा?

समाधान—नही, क्योकि जिस प्रकार ज्ञानावरणादि के समयप्रबद्धो का बन्धावलि के व्यतीत हो जाने पर आकर्षण और परप्रकृतिसक्रमण होकर बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्म में अप-कर्षण और परप्रकृति सक्रम आदि के द्वारा बाधा का अभाव है—यह प्ररूपण करने के लिए दूसरी बार "आबाधा" सूत्र का निर्देश किया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होने पर बन्धावलि काल के बाद उसका अपकर्षण होकर आबाधाकाल को भरा भी जाता है और अन्य सजातीय कर्म में सक्रम भी होता है। वह स्थिति आयु कर्म मे नही उत्पन्न होती, कारण कि एक आयुकर्म का दूसरे आयुकर्म मे एक तो सक्रम नही होता, दूसरे भुज्यमान आयु के रहते हुए आगामी रूप मे उदय मे आनेवाली आयु का उदय पूर्व कोटि के त्रिभाग के व्यतीत होने पर ही हो सकेगा, इसीलिए आगामी भव की आयु का बन्ध होने के बाद ही भुज्यमान आयु की आगामी भव सम्बन्धी आयु के बन्ध के समय, जितनी भुज्य-मान आयु की निषेक स्थिति शेष है, उसके समाप्त होने पर ही उसका उदय होगा, यह निश्चित हो जाता है। इसलिए इस दृष्टि से विचार करने पर अकाल मरण नाम की कोई वस्तु नही है, यह निश्चित होता है।

यह तो कर्मशास्त्र के अनुसार एक हेतु है, जिससे समीक्षक द्वारा माने गये प्रेरक कारण का पूरी तरह से निषेध होता है।

(१०) प्रेरक कारण के निषेध का दूसरा कारण नियत उपादान से नियत कार्य की स्वीकृति है ।

यह समीक्षक भी जानता है कि आगम मे अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य को उपादान और अव्यवहित उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य को कार्य रूप मे स्वीकार किया है । नियत उपादान और उसके आधार पर होने वाले नियत कार्य की यह शृंखला अनादिकाल से चली आ रही है । इसलिए इस आधार पर ही शकाकार के द्वारा मानी गई न केवल प्रेरक कारण की मान्यता का खण्डन हो जाता है, अपितु इस आधार पर उसकी "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, अत इस आधार पर कार्य आगे पीछे कभी भी किया जा सकता है" इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है । उपादान के लक्षण का और उससे होने वाले नियत कार्य का स्पष्टीकरण हम क्रमाक ५ मे कर आये हैं ।

हमारा लिखना छलपूर्ण नहीं—हमने जो यह लिखा है कि "ससारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण मे द्रव्यकर्म का उदय निमित्तमात्र है, उसका मुख्य कर्ता तो स्वय आत्मा है ।" सो हमारा यह लिखना इसलिए छलपूर्ण नही, क्योकि जिनागम ऐसा ही है और आगे हमने जो यह लिखा है कि जिस-जिस समय जीव क्रोधादिभावरूप से परिणत होता है, उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्म के उदय को कालप्रत्यासत्ति होती है सो यह भी लिखना सही है, क्योकि क्रोधभाव का जब जीव मुख्य कर्ता है तो उसने स्वय ही वह कार्य किया है । और हमने जो यह लिखा है कि उस-उस समय द्रव्यकर्म के उदय की काल प्रत्यासत्ति होती है सो इसका यह अर्थ है कि द्रव्यकर्म का उदय उस-उस समय उपचार से निमित्त होता है, क्योकि कार्य और निमित्त मे काल प्रत्यासत्ति ही स्वीकार की गई है । देखो अष्टसहस्री पृष्ठ १११

बाह्य निमित्त को सहकारी कहना उपचार से ही सम्भव है—बाह्य-निमित्त अन्य के कार्य मे सहकार करता है, सो यहाँ सहकार का समीक्षक क्या अर्थ करता है यह उसने कहीं भी स्पष्ट नही किया । उसने कार्य की उत्पत्ति होने पर सहकार को भूतार्थ अवश्य कहा है और स० पृ० २० मे समीक्षक ने "कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त होता है" ऐसा स्वीकार करने मात्र को "कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त की कार्यकारिता स्वीकार की है" । इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति में निमित्त को दो प्रकार से समीक्षक स्वीकार करता है—

(१) कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त सहायक है या उसकी सहायता से कार्य की उत्पत्ति होती है यह मानना भूतार्थ है । स० पृ० ५

(२) कार्य की उत्पत्ति मे बाह्य निमित्त है, इसप्रकार कार्य की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य निमित्त है, इसका अर्थ ही यह निमित्त का कार्यकारीपना मानता है । स० पृ० ५

इन दोनो बातो का क्रम से समाधान किया जाता है—

(१) यह तो आगम स्वीकार करता है कि आगम मे जितना भी नयकथन किया गया है, वह प्रयोजन विशेष को ध्यान मे रखकर ही किया गया है । इष्टार्थ की सिद्धि ही नय कथन का मुख्य प्रयोजन है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नही रह जाती ।

ऐसी अवस्था मे जब समीक्षक निमित्त कारण को अयथार्थ कारण मानता है, तब, उसे उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यह भी मान लेना चाहिये कि वह अन्य द्रव्य के कार्यरूप परिणमनरूप क्रिया को भूतार्थ से नही कर सकता, अत. वह परमार्थ से अन्य द्रव्य के परिणमन-

रूप क्रिया के करने मे अकिञ्चित्कर ही है। ऐसी अवस्था में अन्य द्रव्य की परिणमनरूप क्रिया के करने मे सहायता करता है, यह कहना भूतार्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

समीक्षक ने स० पृ० ६ मे हमसे यह भी पूछा है कि "वह यहाँपर उस रूप सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है और ससारी आत्मा द्रव्यकर्मोदय के निमित्त हुए बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणरूप परिणमन करता रहता है।"

सो इसके उत्तर मे जब शास्त्रकार ही चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम स्वभाव के कारण प्रत्येक समय मे विद्यमान परिणाम का व्यय कर अगले परिणाम-रूप अपने आप ही परिणमता है, उसमे कोई अन्य द्रव्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता, किन्तु समीक्षक इस प्रसग से आगम मे आये हुए "स्वयमेव" पद का अर्थ "अपने आप" मानने के लिए तैयार न होने के कारण, दूसरे शब्दो मे "सहायता" के नाम पर ही यह निमित्त को अन्य द्रव्य की क्रिया का परमार्थ कर्ता मान लेता है। अन्यथा वह निमित्त के दो भेद करके प्रेरक निमित्त के नाम पर कार्य का आगे-पीछे होने की वकालात त्रिकाल मे नही करता।

(२) अन्य द्रव्य के कार्य मे तद्भिन्न अन्य द्रव्य की निमित्तता को ही यदि समीक्षक कार्यकारीपने की संज्ञा देता है तो असद्भूत व्यवहारनय से हमे ऐसा मान लेने मे कोई आपत्ति नहीं है। परमार्थ से देखा जाय तो कोई किसी कार्य का निमित्त होता ही नही। प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपने कार्य का निमित्त है और स्वय ही अपने कार्य का कर्ता है।[1]

स० पृ० ३५ मे समीक्षक रेलगाडी की गति मे पटरी की सहायता होने से कार्यकारी मानता है। सो यहाँ देखना यह है कि पटरी रेलगाडी की गति मे असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त अर्थात् सहायक है या परमार्थ से निमित्त है। यदि कहा जाय असद्भूत व्यवहारनय से सहायक है तो इसका अर्थ यह हुआ कि परमार्थ से वह सहायक नही है, पर सहायकपने का व्यवहार (कथन या विकल्प) अवश्य होता है। इसलिए जब तत्वत एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध ही नहीं है, ऐसी अवस्था मे पटरी रेलगाडी की गति मे परमार्थ से सहायक कैसे हो सकती है, अर्थात् नही हो सकती, किन्तु रेलगाडी स्वय अपनी क्रियावती शक्ति के कारण ही गति करती है यह कहना और मानना ही परमार्थ से युक्ति-युक्त ठहरता है।

स० पृ० ३५ मे समीक्षक का कहना कि "प्रेरक निमित्त का कार्य उपादान (कार्यरूप परिणत होने की योग्यता विशिष्ट वस्तु) को कार्यरूप परिणत होने के लिए सक्षम बनाने का है या यो कहिये कि इसे कार्यरूप परिणत होने के लिए प्रेरित करने का है" सो यहाँ देखना यह है कि प्रेरक निमित्त उपादान द्रव्य के कार्य रूप से परिणमन के काल मे निमित्त है या इसके पहले निमित्त है। यदि उपादानभूत द्रव्य के कार्यरूप से परिणमन करते समय निमित्त है तो 'प्रेरक निमित्त उपादान को कार्यरूप परिणत होने के लिए सक्षम बनाता है' यह कहना मिथ्या ठहरता है।

यदि कार्यकाल के पहले निमित्त है यह स्वीकार किया जाता है तो यह मानना भी युक्ति-युक्त नही, क्योंकि कर्मशास्त्र के अनुसार जब उपादान द्रव्य कार्य रूप परिणमना है, तभी उसके योग्य

---

(१) नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्ध परद्रव्यात्मतत्त्वयो।
कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत ॥समयसार कलश २००॥

कर्म की उदय-उदीरणा होती है यह स्वीकार किया गया है, पहले नही। इसलिये विचार करने पर यही निश्चित होता है कि जिनागम मे प्रेरक नाम का कोई निमित्त नही है। मात्र व्यवहार से ऐसा शब्द प्रयोग अवश्य किया जाता है, क्योकि आगम मे भी ऐसा प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

समीक्षक ने स० पृ० ३६-३७ मे जयधवला पृ० ११७ के "वज्झकारणणिरवेक्को वत्थु-परिणामो" इस वचन को माध्यम वनाकर जो यह लिखा है कि आगम मानता है कि सभी कार्यों की उत्पत्ति मे उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ये तीनो कारण अनिवार्य हैं, जैसा कि हम अनेक जगह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। वस्तुत परिणाम वस्तु मे ही उत्पन्न होगा, वस्तु के अति-रिक्त वह कदापि उत्पन्न नही होगा, ऐसा नयकथन किया जाता है सो उससे वक्ता का यही अभिप्राय होता है कि वह उपादान की अपेक्षा कथन कर रहा है, वाह्य कारणो (प्रेरक व उदासीन निमित्तो) की सहकारिता का निषेध नही करता। कर भी कैसे सकता है अन्यथा वस्तु की अनेकान्तात्मकता जो उसका प्राण है, लुप्त हो जायेगी। आदि"

यहाँ समीक्षक कहता है कि आगम मानता है कि सभी कार्यों की उत्पत्ति मे उपादान. प्रेरकनिमित्त और उदासीन निमित्त ये तीनो कारण अनिवार्य हैं, सो एक तो प्रेरक नामका कोई निमित्त ही नही है, क्योकि सभी कार्यों की उत्पत्ति अन्य किसी वाह्य कारण की प्रेरणा से होती है यह जिनागम नही है, क्योकि कोई भी कार्य अपने निश्चित उपादान के अनुसार अपने नियत समय को छोडकर निमित्त के वल पर आगे-पीछे नही किया जा सकता। दूसरे उसके ऐसा मानने पर तो उक्त प्रकार का निमित्त ही कार्य करने का अधिकार ग्रहण कर लेगा और उपादान का वही स्थान हो जायेगा जो आगम मे निमित्त का माना गया है, वह हेतु नही रहेगा। वस्तुत उसके इस सब कथन पर दृष्टिपात करने से तो ऐसा लगता है कि "वस्तु स्वय परिणमती है" आगम की इस मान्यता को वह हृदय से मानना ही नही चाहता और नाना प्रकार शब्दजाल के प्रपच रचकर आगम को ही वदल देना चाहता है।

आगे समीक्षक ने "वज्झकारणनिरवेक्खो वत्थु-परिणामो" इस पर अपनी व्याख्या करते हुए जो यह लिखा है कि "वस्तु से अतिरिक्त वह कदापि उत्पन्न नही होगा" ऐसा जब कथन किया जाता है तो उससे वक्ता का यही अभिप्राय होता है कि वह उपादान की अपेक्षा कथन कर रहा है। बाह्य कारणो (प्रेरक व उदासीन निमित्तो) की सहकारिता का निषेध नही करता।

सो यहाँ समीक्षक ने उक्त कथन से यह मान लेता है कि वस्तु से अतिरिक्त जो कारण होते हैं, उनसे यह (कार्य) कदापि उत्पन्न नही होता। ऐसी हालत मे यह जो आगम मे लिखा है कि वस्तुत परिणामस्वरूप वस्तु ही स्वय परिणमती है, वाह्य कारण नही, सो वह ठीक ही लिखा है। दूसरे उक्त वचन "वज्झकारणणिरवेक्खो", पद आया है सो जयधवला के उक्त वचन से तो यही सिद्ध होता है कि "वाह्यकारण से निरपेक्ष होकर अपने परिणाम को वस्तु स्वय करती है।" इसलिये उक्त वचन से समी-क्षक जो आशय फलित करना चाहता है, वह कदापि फलित नही होता।

दूसरी वात यह है कि निश्चयनय आत्माश्रित होने से वस्तु के पराश्रितपने का निषेध ही करता है। समयसार मे कहा भी है—

एव व्यवहारणओ पडिसिद्ध जाण णिच्छयणएण ॥२७२॥

इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो। कल्पनारोपित अध्यवसान भावो का नाम ही व्यवहारनय है। अत निश्चयनय से वे अध्यवसान भाव छोडने योग्य ही माने गये है।

परवस्तु मे अपनापन देखना और पर के आलम्बन से इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही अध्यवसान भाव कहलाते हैं, जिन्हे जिनागम मे छोडने योग्य ही कहा है। उसके आधार से कार्य-कारण की व्यवस्था करना यह न्याय नही है। परमार्थ से जिनदेव वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं। अत उनके ज्ञान में यह तो आता है कि अज्ञानी कब कैसे विकल्प करते हैं। पर आगम उनके वीतराग कथन का सार है, इसलिए उन विकल्पों के आधार से वस्तु व्यवस्था का निर्देश नही किया गया — यह निश्चत है।

प्रकृत मे ऐसा समझना चाहिए कि जिसे आगम मे निनित्त कहा गया है अन्य के कार्य की उत्पत्ति मे वह परमार्थ से अणु मात्र भी सहायता नहीं करता, फिर भी उसकी सहायता के विना कार्य हो हीं नही सकता — ऐसा मानना ही अध्यवसानभाव है। इसी का प्रत्येक वस्तु अपने कार्यकाल मे स्वय निषेध करती है, क्योंकि जितनी जड-चेतन वस्तुएं हैं, उनका परिणाम परकी अपेक्षा किए विना स्वय ही होता है। फिर भी भिन्न सत्ताक दो द्रव्यो मे जो विशेषण-विशेष्यभाव, निमित्त-नैमित्तक, और आधार-आधेय सम्बन्ध माने गये हैं, वे मात्र असद्भूत व्यवहारनय से ही माने गये हैं। परमार्थ से उनमे कोई सम्बन्ध नही। इसीलिये जहाँ भी आगम मे ऐसा कहा गया है कि क्रोध नामक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव मे क्रोध की उत्पत्ति होती है, सो वहाँ उसे कालप्रत्यात्तिसवश उपचरितकथन ही जानना चाहिए। अर्थात् उस समय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से निरपेक्ष होकर क्रोध नामक चारित्र-मोहनीय परिणाम स्वय ही उत्पन्न हुआ न तो उक्त कर्म क्रोध की उत्पत्ति में परमार्थ से सहायक हुआ और न उक्त क्रोधभाव ही उक्त कर्म के उदय मे परमार्थ से सहायक हुआ। दोनों ने एक-दूसरे की अपेक्षा किये विना ही अपना-अपना परिणाम किया। फिर भी काल प्रत्यासत्तिवश प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर यह असद्भूत व्यवहार किया जाता है कि क्रोध कर्म के उदय से क्रोधभाव हुआ।

पृ० ३७ मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह उसके अभाव मे भी हो जाता है। यह तो जैनदर्शन का सिद्धात है, जिसे उत्तरपक्ष भी अस्वीकार नही कर सकता।" तो इस सम्बन्ध में हमे इतना ही कहना है कि कार्यकाल मे हो या कार्यकाल के अभाव मे हो, एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का सर्वथा अभाव रहता ही है। भिन्न सत्ताक दो वस्तुओ मे अत्यन्ताभाव इसी आधार पर माना गया है। इतना अवश्य है कि दो वस्तुओ मे जो निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, वह काल प्रत्यासत्तिवश असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है, केवल व्यवहारनय से नही, क्योकि मात्र व्यवहारनय ऐसा कहने से सद्भूतव्यवहानय का भी ग्रहण हो जाता है, जो निमित्त का नैमित्तक के साथ क्या सम्बन्ध है, इसके कथन मे प्रयोजनीय नहीं है।

समीक्षक का मूल प्रश्न था कि "यदि क्रोध आदि विकारी भावों को कर्मोदय के विना माना जावे तो उपयोग के समान ये भी जीव के स्वभाव हो जावेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावों का नाश न होने से मोक्ष के अभाव का प्रसग आ जावेगा।"

इसका समाधान हमने यह किया था कि क्रोध आदि विकारी भावों को जीव स्वयं करता है, इसलिए निश्चयनय से वें परनिरपेक्ष ही होते हैं, इसमें संदेह नही, कारण कि एक द्रव्य के स्वचतुष्टय मे अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय का अत्यन्ताभाव है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर श्री जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में कहा है — "वज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणमो।"

अब देखना यह है कि यहाँ आचार्य ने यह उत्तर क्यो दिया ? बात यह है कि अनन्तानुबधी क्रोध आदि चारो के जघन्य प्रदेश सत्कर्म का स्वामित्व एक ही काल मे प्राप्त होता है, क्योंकि जो अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ के जघन्य प्रदेश का सत्कर्म का स्वामी होता है, उसके इन चारो कषायो के जघन्य प्रदेश सत्कर्म मे तरतमभाव देखा जाता है; इसलिए बाह्य कारण चारो के समान होते हुए भी इन चारो के प्रदेश सत्कर्म के हीनाधिक होने मे अन्तर पडा है, वह चारो प्रकृतिया अलग-अलग होने के कारण ही अन्तर पडा है। इसका अर्थ यह है कि एक काल मे अनेक कार्यों का एक बाह्य निमित्त होने पर भी जो कार्यभेद दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण निमित्तभेद न होकर भी वस्तुभेद ही जानना चाहिये। यही कारण है कि यहा आचार्य को यह उत्तर देने के लिए सन्मुख होना पडा है—"बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।"

उत्तर प्रश्न के अनुरूप—

समीक्षक द्रव्यकर्म के उदय को ससारी आत्मा के विकारभाव के होने और चतुर्गतिपरिभ्रमण मे भूतार्थरूप से सहायक या कार्यकारी मानता है; किन्तु आगम के अनुसार द्रव्यकर्मोदय ससारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण मे असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त माना गया है, क्योंकि द्रव्यकर्म का उदय द्रव्यकर्म मे है, आत्मा मे नही। इसलिये तो वह (द्रव्यकर्मोदय) आत्मा मे असद्भूत है। फिर भी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मोदय से होता है — ऐसा उपचार (व्यवहार) किया जाता है, इसलिये यह कथन उपचरित ही है, भूतार्थ नही है। फिर भी समीक्षक इसे भूतार्थ ही मानता है, यह उसका आगमानुकूल मानना नही है।

सूक्ष्म विमर्श का फल—

आगम मे "अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभाव" यह वचन आया है, किन्तु परमार्थ मे यह वचन उपादान कारण और उसमे होने वाले कार्य के लिए ही आया है। इसकी पुष्टि परीक्षामुख के इस सूत्र से भी होती है—

पूर्वोत्तरचारिणो कार्य-कारणयोश्च क्रमभावोऽविनाभाव।

पूर्वचर और उत्तरचर लक्षणों मे तथा कार्य और कारण में क्रमभाव अविनाभाव होता है।

निमित्त-नैमित्तिक की दृष्टि से आगम मे सूत्ररूप मे ऐसा कोई वचन नहीं उपलब्ध होता जिसमे निमित्त को परमार्थ रूप दिया जा सके। इतना अवश्य है कि लौकिक मान्यता को ध्यान मे रखकर जैनधर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को स्वीकार कर उसकी आगमाविरुद्ध किस प्रकार व्यवस्था बनती है इसका स्पष्टीकरण नयदृष्टि से किया गया है, इसलिये परमार्थ से देखा जावे तो एक द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य मे न तो सहायक ही होता है और न ही बाधक होता है। मात्र लौकिक दृष्टि मे एक काल प्रत्यासत्तिवश ही उनमें (बाह्यद्रव्यो मे) निमित्त या सहायकपने का व्यवहार किया जाता है। ऐसा समझना ही सूक्ष्म विमर्श का फल है, अन्य सब कल्पना मात्र है।

हमारे वक्तव्यों में कोई विरोध नहीं है। (स० पृ० ३८)

(१) हमने क्रोधादि भावो के उदय होने में द्रव्यकर्म निमित्त है, यह असद्भूत व्यवहारनय

से लिखा है और क्रोधादि विकारी भावो को स्वय स्वतत्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नही, यह निश्चयनय से लिखा है।

(२) वही हमने जो यह लिखा है कि जिस-जिस समय जीव क्रोधादिभाव रूप से परिणमता है, उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्म के उदय की कालप्रत्यासत्ति होती है, इसलिये व्यवहारनय से क्रोधादि कर्म के उदय को निमित्त कर क्रोधादिभ व हुए यह कहा जाता है तो यह व्यवहारनय से ही लिखा है। यहाँ व्यवहारनय से असद्भूत व्यवहारनय लिया गया है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, इन दोनो वक्तव्यो मे कोई विरोध नही है।

समीक्षक यह कहता तो अवश्य है कि क्रोधादि कषाय के उदय को निमित्त कर जीव के विकारी भाव होते हैं, पर उनके होने मे बाह्य निमित्त को भूतार्थरूप से सहायक भी मान लेता है। एक ओर उसे असद्भूत व्यवहार से बाह्य निमित्त कहना और दूसरी ओर उसे भूतार्थ से सहायक भी मान लेना, यह अवश्य ही चिन्ता का विषय है। वह यह समझ ही नही पाता कि बाह्य निमित्त कार्यकाल मे ही होता है, आगे-पीछे नही होता। फिर वह कार्य की उत्पत्ति मे भूतार्थरूप से सहायक कैसे हो सकेगा? अर्थात् कभी नही हो सकेगा।

दूसरी विडम्बना की बात यह है कि आगम मे प्रयोजन विशेष से लिखे गये वचनो को देखकर उसने (समीक्षक ने) प्रेरक नाम का अलग से एक दूसरा निमित्त और मान लिया है और उसके आधार पर उसने कार्य आगे-पीछे होना भी स्वीकार कर लिया है। साथ ही इसके समर्थन मे वह "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है" यह भी स्वीकार कर लिया है। जब कि आगम मे अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्य को कार्यरूप मे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया गया है, सलिये हमे तो यह लगता है कि समीक्षक को आगम को स्वीकार करने से कोई प्रयोजन नही है, उसे तो अपने मन की पुष्टि करने का ही ख्याल है, आगम का नही।

अनेक कथनो पर की गई आपत्ति का समन्वयरूप एक उत्तरः—(स पृ ४२ से ४६)

समीक्षक ने एक से लेकर दस तक के हमारे कथनो को आलम्बन बनाकर समीक्षा के नाम पर जो कुछ भी लिखा है, उसका एक मात्र उत्तर यही है कि बाह्य निमित्त प्रायोगिक या वैस्रसिक किसी प्रकार का ही क्यो न हो, वह आगम मे कार्य के प्रति असद्भूत-व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है, परमार्थ से नही। इसका अर्थ यह है कि वह न तो दूसरे के कार्य मे भूतार्थरूप से सहायक ही होता है और न भूतार्थरूप से निमित्त ही होता है। केवल उसे कालप्रत्यासत्तिवश उपचार से निमित्त के रूप मे स्वीकार किया गया है। समीक्षक व्यर्थ ही बाह्य निमित्त मे भूतार्थ रूप से सहायकपने का ढिंढोरा पीटने का असफल प्रयत्न करता है, यह उसका आगम विरुद्ध ही साहस कहा जायेगा। जैसा कि समीक्षक की मान्यता है कि "बाह्य निमित्त की सहायता के बिना उपादान अपना कार्य करने मे असमर्थ ही रहता है। यदि उसकी इस मान्यता को आगम मान लिया जावे तो मोक्ष की चर्चा करना ही व्यर्थ ठहर जावेगा।

जब कि वस्तुस्थिति यह है कि कर्मोदय रहे, किन्तु जीव उसमे उपयुक्त न हो अर्थात् उसके निमित्तभूत बाह्य पदार्थो मे इष्टानिष्ट बुद्धि न करे तो यह जीव उसके फल का भोक्ता नही होता इसलिये बाह्य पदार्थों का सम्पर्क करना ही गुण-दोष का जनक है, बाह्य वस्तु नहीं, यह जिनागम का सार है।

समयसार गाथा ८३ मे तो यह कहा गया है कि "एक-दूसरे के निमित्त से दोनो का परिणाम जानो।" सो समयसार का कथन असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से उपचार से ही जानना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कालप्रत्यासत्तिवश एक दूसरे के कार्य के सूचक होने से उनमे परस्पर निमित्त व्यवहार किया गया है। परमार्थ से उनमे निमित्तता नही है। यही स्थिति समयसार गाथा ६१ की है। उसमे यही तो कहा गया है कि जब जीव अज्ञान आदि रूप स्वय परिणमता है, तब पुद्गल द्रव्य भी स्वय कर्मरूप परिणमता है। इससे कर्म जीव के परिणमन होने मे सहायता करता है या जीव पुद्गल के कर्मरूप परिणमन होने मे सहायता करता है यह यथार्थ रूप मे कहा सिद्ध होता है? दोनो ही अपने-अपने परिणाम एक काल में स्वय करते हैं, उस वचन से मात्र इतना ही तो सिद्ध होता है। रही १०५ सख्याक गाथा सो उसमे यह साफ कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म के होने मे निमित्त नही है, उपचार से ही उसे निमित्त कहा गया है। सो इससे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मा पौद्गलिक कर्म के होने मे निमित्त है यह कथनमात्र है, वस्तुस्थित नही है।

कथन ११ का समाधान—समयसार गाथा ३२ को ध्यान मे रखकर हमने जो आशय व्यक्त किया था वह ठीक है। मिथ्यात्व विभाव परिणति है। जब तक आत्मा उसमे एकत्वबुद्धि करता है, तभीतक वह ज्ञानभाव से आत्मा का निर्णय करने मे असमर्थ रहता है। पर जब मिथ्यात्व अबुद्धिपूर्वक वर्तता है और आत्मा अपने उपयोग के द्वारा ज्ञान-रूप भाव आत्मा को ही स्वरूप से स्वीकार कर वैसी भावना करता है, उसी समय से उसके मिथ्यात्वकर्म उदय की और मिथ्यात्वभाव दोनो ही नाम शेष होने लगते हैं। मिथ्यात्वकर्म उदय की अपेक्षा नामशेष होने लगता है, तभी तो अपूर्वकरण मे ही मिथ्यात्व कर्म स्थिति अनुभागकाण्डक के घातपूर्वक गुणश्रेणि निर्जरा द्वारा हानि होने लगती है। तथा उपयोग के स्वभाव सन्मुख होकर ज्ञायक स्वभावरूप आत्मा की भावना करने से मिथ्यात्व पर्याय भी धीरे-धीरे कृश होने लगती है। यही आशय इस गाथा और उसकी टीका मे प्रगट किया गया है। यह ठीक है कि मिथ्यात्वरूप विभाव पर्याय अभी जीवित है, वह अतिम सासें भर रहा है और मोह कर्मोदय भी नामशेष नही हुआ है। दोनो की समव्याप्ति है, फिर भी आत्मा ने मिथ्यात्व परिणाम के फलस्वरूप परमे होने वाली एकत्वबुद्धि से भिन्न आत्मस्वभाव मे एकत्वबुद्धि का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। अत उसके फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्त मे ही वह तत्वपूर्वक स्वभावरूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है और जिस समय वह इसे प्राप्त करता है, उसी समय मिथ्यात्व के उदय का अभाव रहता ही है। अत. ये दोनो कार्य एक साथ होते हैं, इसीलिये वे एक-दूसरे के कार्य सूचक होने से इनमे असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार किया जाता है। परमार्थ से कोई किसी को निमित्तकर नही होता है, स्वय होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए। यहाँ (स० पृ०४७ मे) समीक्षक ने टिप्पणी मे जो उद्धरण दिये हैं, वे हमारे इसी कथन की पुष्टि करते हैं। शेष कथन का उत्तर देना पिष्ठपेषण है।

कथन १२ का समाधान—समीक्षक हमारे स्पष्टीकरण पर ध्यान न देकर समयसार गाथा १६८ और १६९ के आधार पर जो प्रेरक कारण का समर्थन कर रहा है, सो उससे ऐसा लगता है कि वह अपनी कल्पित मान्यता की पुष्टि मे इन गाथाओ पर से यह अर्थ निकालना चाहता है कि आगम

मे उपादान का जो सुनिश्चित लक्षण कहा है, वह न भी हो तो भी प्रेरक निमित्तरूप द्रव्यकर्म के बल पर जीव को उसरूप परिणमना ही पडता है। हमे दुख है कि समीक्षक ने इन गाथाओ पर से यह अर्थ फलित करने की चेष्टा कैसे की है, जबकि इन गाथाओ द्वारा भेदज्ञान की कला को पुष्ट करने के अभिप्राय से ही जीवो के विभावभावो को परकी ओर के झुकाववश ही परभाव या कर्म के उदयजन्य कहा गया है। परमार्थ से देखा जाय तो जीव स्वय ही अज्ञानवश इन भावो का कर्त्ता होता है, पुद्गल कर्म नही। हम तो समीक्षक से यही आशा करते हैं कि वह आगम मे उद्देश्यपूर्वक की गई कथनी को ध्यान मे रखकर ही उसका फलितार्थ फलित करने की चेष्टा करेगा, ऐसे प्रसंग पर विशेष क्या सकेत करें?

कथन १३ का समाधान—हमने समयसार गाथा २८१ के आधार पर यह लिखा है कि "जिसको निमित्तकर जो भाव होता है, वह उसमे जायमान हुआ है – ऐसा कहना करणानुयोग आगम की परिपाटी है, जो मात्र किस कार्य मे कौन निमित्त है, इसे सूचित करने के अभिप्राय से ही आगम मे निर्दिष्ट की गई है"। इसलिये यह अभिप्राय हमने असद्भूत व्यवहारनय से ही व्यक्त किया था। यह सच है कि लोक मे भी यह परिपाटी प्रचलित है, परन्तु विचारकर देखा जावे तो जैनागम के अनुसार इस परिपाटी को ध्यान मे रखकर नयविशेष के अनुसार जिनागम मे इसे स्वीकार किया है। बाह्य निमित्त अन्य द्रव्य के कार्य में परमार्थ से सहायक तो नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम स्वभाव के कारण परनिरपेक्ष ही अर्थात् पर की सहायता के बिना ही परिणाम-लक्षण या क्रियालक्षण अपना कार्य करता है। इतना अवश्य है कि कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य निमित्त परद्रव्य के कार्य का व्यवहार से सूचक होता है और इसीलिए उसे निमित्त कहा जाता है।

कथन १४ का समाधान—इसी अनुच्छेद मे "उपादान मे होने वाले व्यापार को पृथक् सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकाल मे नहीं कर सकती है" हमारे इस कथन को समीक्षक ने भी स्वीकार करके लिखा है कि "इस सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि उपादान मे होने वाले व्यापार को पृथक-सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकाल में नहीं कर सकती है, यह निर्विवाद है" इसकी हमें प्रसन्नता है। ऐसा स्वीकार करने के बाद भी वह अपनी यह रट लगाये ही जा रहा है कि "बाह्य सामग्री उपादान मे होने वाले कार्य की उत्पत्ति में सहायक भी नही हो सकती है, तो यह अयुक्त है, क्योकि उपादान की कार्यरूप परिणति मे वह बाह्य सामग्री आवश्यक एव अनिवार्य रूप से होती है, उसके बिना उपादन भी पगु रहता है। दोनो की संघटना से ही कार्य होता है। सो समीक्षक का ऐसा लिखना अनावश्यक तो है ही, इसमे आगम की अवहेलना भी होती है। वस्तुत जिसे हम बाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी बाह्य निमित्तरूप द्रव्य का परनिरपेक्ष एक स्वतत्र कार्य है, जो उपादानरूप द्रव्य के कार्य से भिन्न स्वय ही हुआ है। अत इन दोनो कार्यों के एक काल में होने का नियम है, इसीलिए इनमे से एक मे प्रयोजनवश निमित्त व्यवहार किया गया है। कोई किसी के बिना पगु होता ही नहीं है। समीक्षक बाह्य निमित्त के बिना उपादान को पगु मान ले, यह उसकी आगमविरुद्ध इच्छा की बात है। दूसरी बात यह है कि उपादान के कार्य के काल मे ही आगम मे बाह्य निमित्त का स्वीकार किया गया है। पूरा कर्मशास्त्र का उदय प्रकरण प्राजल उदाहरण है।

कथन १५ का समाधान—इस अनुच्छेद के अन्तर्गत समीक्षक ने जो यह लिखा है कि –"पूर्वपक्ष उक्त बाह्य सामग्री को उपादान की कार्योत्पत्ति में जो अयथार्थ कारण मानता है,

सो उत्तरपक्ष की तरह उसमे सहायक न होने के आधार पर न मानकर आगम से प्रमाणित सहायक होने के आधार पर ही मानता है"— सो उसका यह लिखना परस्पर विरुद्ध ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक ओर तो उसे अयथार्थ कारण कहना और दूसरी ओर उसे भूतार्थरूप से सहायक भी मानना, ये दोनो बातें परस्पर मे विरुद्ध ही हैं। हाँ यदि समीक्षक अयथार्थरूप से सहायक कहना या मानना स्वीकार करले तो पूरा विवाद ही समाप्त हो जाय, क्योंकि जो अयथार्थरूप से कारण होता है, उसे अयथार्थ रूप अर्थात् नयविशेष की अपेक्षा उपचार से ही सहायक माना जा सकता है, अभी तक हमने समीक्षक का जितना भी साहित्य पढा है, उसमे कही भी इनके द्वारा उल्लिखित ऐसा आगम उपलब्ध नही हुआ, जिससे समीक्षक के अभिप्रायानुसार अन्य के कार्य मे बाह्य निमित्त भूतार्थरूप से सहायक होता है, इसकी पुष्टि की गई है।

कथन १६ के सम्बन्ध में समाधान—पचास्तिकाय गाथ १३१, १४८, व १५० की टीकाओ को और गाथा १५६ को ध्यान मे रखकर उत्तरपक्ष ने जो समाधान किया था, उसकी आलोचना करते हुए समीक्षक (स० पृ० ५२ पर) एक ओर तो यह लिखता है कि "प्रेरक निमित्त के बल से कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है" और दूसरी ओर वह यह भी लिखता है कि "पूर्व पक्ष यह कहाँ मानता है कि बाह्य सामग्री दूसरे को बलात् अन्यथा परिणामती है"—सो इस सम्बन्ध मे हमारा कहना यह है कि जब प्रेरक निमित्त के बल पर उपादान का कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो प्रेरक निमित्त के बल पर उपादान द्रव्य के कार्य का बलात् अन्यथा परिणमाना तो कहलाया ही। दुःख है कि समीक्षक अपनी मान्यता के समर्थन मे ऐसा आरोप भी करता जाता है और साथ ही यह घोषणा भी करता जाता है कि यह सब कथन हम आगम के अनुसार ही कर रहे हैं। जिसे हम बाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी किसी विवक्षित एक द्रव्य का कार्य है और जिसे हम बाह्य निमित्त से भिन्न काल प्रत्यासत्तिवश दूसरे द्रव्य का कार्य कहते हैं, ये दोनो एक काल मे बधे हुए हैं। इसीलिये यह सवाल ही नही उठता कि जबतक उपादान को प्रेरक निमित्त का सहयोग नही मिलता, तबतक उपादान अपना कार्य करने मे असमर्थ रहता है। वस्तुतः जैनदर्शन मे प्रेरक निमित्त नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। आगम मे प्रयोजनवश किये गये शब्द प्रयोगो के आधार पर हम जो दो प्रकार के निमित्त कह आये हैं — एक क्रिया द्वारा जो निमित्त होते हैं वे और दूसरे जो क्रिया के माध्यम से निमित्त नही होते ये दोनो ही उदासीनरूप मे असद्भूत व्यवहारनय से ही निमित्त कहे जाते हैं। परमार्थ से न कोइ किसी का निमित्त ही होता है, और न कोई किसी का सहायक ही होता है।

कथन १७ का समाधान—(क) मूलराधना मे (भगवतीआराधना मे) "बलयाइ कम्माइ" यह गाथा आई है। उसको ध्यान मे रखकर हमने समीक्षक के कथन का जो उत्तर दिया था, उसके सबध मे समीक्षक (स० पृ० ५३ मे) एक ओर यह भी लिखता है कि "उत्तरपक्ष ने अपने इस वक्तव्य मे जो कुछ लिखा है, वह पूर्वपक्ष के लिये विवाद की वस्तु नहीं है क्योंकि वह आगम के अनुसार है। और दूसरी ओर यह कर्मो की बलवत्ता को वास्तविक रूप मे स्वीकार करके कर्मोदय को प्रेरक रूप से यथार्थ मे कार्यकारी मानता है। पर कि वस्तुस्थिति यह है कि यदि कर्मोदय मे अनुरज्यमान भी न हो तो बाह्य वस्तु मे इष्टानिष्ट बुद्धि भी न करे तो कर्मोदय के होने पर भी स्वभाव वेदन के काल मे आत्मा की कोई हानि नही होती। मात्र इसीलिए ही क्षपकाचार्य क्षपक को कर्मोदय मे

अनुरजायमान न होने की इस गाथा द्वारा प्रेरणा दे रहे हैं। इसलिए समीक्षक ने उक्त गाथा के आधार पर जो अर्थ फलित करना चाहा है, वह उस गाथा से फलित नहीं होता, ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ मे जो पुद्गल की शक्ति का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, सो यह कथन भी जीव की अपेक्षा असद्भूत व्यहवारनय का विषय है। और असद्भूत व्यवहारनय नैगमनय का अवान्तर भेद है। इसलिये लोक मे उपचार से जितना भी कथन चलता है वह सब नैगमनय का विषय होने से भाषाशास्त्र के अनुसार आगम मे भी प्रयुक्त होता है। वस्तुत: कर्मोदय केवलज्ञान के होने मे बाधक नही है और हो भी नही सकता क्योकि वह परद्रव्य है, आत्मा की स्वतन्त्रता का घात करे ऐसी शक्ति उसमे नही है। आत्मा ही स्वय अपने अज्ञान के कारण उसकी आधीनता को स्वीकार कर परतत्र होकर केवलज्ञान को उत्पन्न नही कर पाता, किन्तु जब वह अपने स्वभाव के अवलम्बन पूर्वक स्वसम्वेदनरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के बल से आत्मा मे स्थित होकर अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान को उत्पन्न करता है, तब जिसे हम कर्म की बलवत्ता कहते हैं, वह स्वय समूल नाश को प्राप्त हो जाती है।

कथन १९ का समाधान—कथन १९ मे समीक्षक ने स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१ को आधार मानकर हमारे कथन की आलोचना की है, उससे इतना ही फलित होता है कि वह द्रव्यकर्म के उदय को जीव के शुभाशुभभावो मे भूतार्थरूप से सहायक मानकर कार्यकारी मानना चाहता है, किन्तु जब कि समीक्षक कर्मोदय को जीव के शुभाशुभभावो में अयथार्थ निमित्त कारण मानता है, इसलिये वह यथार्थ मे सहकारी निमित्त होकर कार्यकारी कैसे हो सकता है? इसका उसे स्वय विचार करना चाहिए। फिर भी ऐसी अयथार्थ बात के समर्थन मे उसने (स० पृ०५५ से लेकर ५८ तक के) तीन पेज रग डाले, इसका हमे आश्चर्य है, क्योकि कारण अयथार्थ हो और भूतार्थरूप से वह दूसरे के कार्य मे सहायक हो यह त्रिकाल मे नही बन सकता।

कथन२०, २१, २२ का समाधान—इन तीनो कथनो में समीक्षक बाह्य निमित्त को तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य का उपादान कर्त्ता, यथार्थ कर्त्ता और मुख्य कर्त्ता तो नही मानता, किन्तु वह निमित्त कर्त्ता, अयथार्थ कर्त्ता और उपचरित कर्ता अवश्य मानता है। सो इससे यही फलित होता है कि जो अयथार्थ कर्त्ता या उपचरित कर्त्ता होता है, वह उपादानकर्त्ता या मुख्य कर्त्ता के कार्य की परिणाम लक्षण या क्रिया लक्षण क्रिया तो कर ही नही सकता, और इसीलिए ही उसे निमित्तकर्त्ता या अयथार्थ कर्त्ता या उपचरितकर्त्ता समीक्षक भी स्वीकार करता है, किन्तु उसका कहना इतना अवश्य है कि "जो अयथार्थ कर्त्ता होता है वह अपने काल मे होने वाले तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य मे सहायता अवश्य करता है, अन्यथा उसमे कर्त्तापने का व्यवहार ही नही किया जा सकता है। वह अयथार्थ तो इसलिये है कि वह तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्यरूप नही परिणत होता है और उसे कर्त्ता इसलिये कहा गया है कि वह तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य मे सहायता अवश्य करता है।"

अब देखना यह है कि इस विषय मे आगम क्या है? यह तो मानी हुई बात है कि निमित्त प्रायोगिक या विस्रसा किसी प्रकार का ही क्यो न हो, कार्य के साथ उसकी बाह्य व्याप्ति होती है। यत कुम्भकार घट निष्पत्ति में घटकार्य का निमित्तकर्त्ता, अयथार्थ कर्त्ता या उपचरित कर्त्ता कहा जाता है। इसलिये यहाँ पर कुम्भकार की घटरूप कार्य के साथ बाह्य व्याप्ति होने पर भी वह (कुम्भकार)

अपना कार्य हाथ का हिलना आदि व विकल्प का करना रूप क्रिया मिट्टी से अलग रहकर ही करना है। मिट्टी स्वय स्वतत्ररूप से कुम्भकार की योग और उपयोग रूप क्रिया से अलग रहकर ही घटकार्य को उत्पन्न करती है।[1] इस प्रकार मिट्टी और कुम्भकार इन दोनो के स्वय स्वतत्र होने के कारण एक काल मे दो द्रव्य स्वतत्ररूप से स्वय एक दूसरे की अपेक्षा किये बिना दो काय उत्पन्न करते हैं। इसलिये परमार्थ से देखा जाय तो बाह्य निमित्त अन्य के कार्य की उत्पत्ति मे सहायक भी नहीं हाता। मात्र असद्भूत व्यवहारनय से यह कहा अवश्य जाता है कि इसकी सहायता से यह कार्य हुआ।

दूसरी बात यह है कि समीक्षक ने जो बाह्य निमित्त के प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद करके, उनके भिन्न-भिन्न दो लक्षण (स०पृ० १३ मे) सूचित किये हैं, वे यथार्थ नही हैं क्योकि आगम मे उपादान और उपादेय का सुनिश्चित लक्षण प्राजल शब्दो मे स्वीकार करते हुए अष्टसहस्री पृष्ठ १०१ मे लिखा है—

"यद्भावे एव कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मन. स्वरूपस्यलाभोंदतेरूपोपादानोपादेयभावोस्तु।"

जिसक होने पर ही जिसका आत्मलाभ होता है, वह उपादान है और दूसरा उपादेय है, यदि ऐसा है तो पूर्वक्षणवर्नी कारणरूप प्रागभाव के होने पर कार्यरूपप्रध्वस का स्वरूप लाभ बनता है, इसलिये उनमे उपादान-उपादेय भाव रह आवे।

इसी बात को ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से अष्टसहस्री पृ० १०० मे इन शब्दो मे स्वीकार किया गया है—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोनन्तरात्मा।"

ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से कार्य का उपादान परिणाम ही पूर्व अनन्तरस्वरूप प्रागभाव है—ऐसा माना गया है।

इसप्रकार सुनिश्चित कार्य की विवक्षा मे उसका (कार्य का) सुनिश्चित उपादानरूप लक्षण स्वीकार कर लेने पर न तो प्रेरक निमित्तो के मानने की कोई सार्थकता रह जाती है और न ही इसी आधार पर समीक्षक ने जो अनेक योग्यतावाला उपादान का लक्षण स्वीकार किया है, उसके मानने की सार्थकता रह जाती है।

इसप्रकार इतने विवेचन को ध्यान मे लेने पर यह सुनिश्चित हो जाता है कि जब उपादान स्वय पर निरपेक्ष होकर अर्थात् आलम्बन की सहायता के बिना ही स्वय अपना कार्य करता है, तब जिसे हम निमित्त कर्त्ता अयथार्थ कर्त्ता आदि कहते हैं, वह स्वय असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त कहलाता है।

कथन २३ का समाधान— हमने खानिया तत्त्वचर्चा मे लिखा था कि — "एक जीव ही क्या, प्रत्येक द्रव्य स्वय परिणमन स्वभाव वाला है, अतएव जिस भावरूप वह परिणमता

---

१ यथान्तवर्व्याप्य व्यापक भावेन मृत्तिकया कलश क्रिय माणे वहिर्याप्य व्यापकभावेन कलश सम्भवानुकूल व्यापार कुर्वाण •• कुलाल फलश करोति ••• इति लोकाकामनादिरूढोस्ति तावद्व्यवहार. (समयसार गाथा ८४ आत्मख्याति)

है, परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया, ये तीनो वस्तुपने की अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नही, इसलिये जब जो परिणमन उत्पन्न होता है, उसरूप वह स्वय परिण म जाता है। इसमे अन्य का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं।"

किन्तु इस तथ्यपूर्ण वक्तव्य को अमान्य करते हुए समीक्षक (स० पृ० ५६ पर) लिखता है कि "किन्तु उसी जिनागम मे यह भी बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्य परिणमन स्वभाववाला तो है, परन्तु उसका कोई परिणमन स्वय अर्थात् निमित्त कारणभूत वस्तु का सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने आप ही हुआ करता है और कोई परिणमन निमित्तकारणभूत वस्तु का सहयोग प्राप्त होने पर ही होता है, अपने आप नही होता। इसका कारण यह है कि जिनागम मे स्वप्रत्यय और परप्रत्यय दो प्रकार के परिणमन बतलाये गये हैं। (देखो — त० सू० अ० ५ — ७ की स० सि० टीका)"

सो समीक्षक का ऐसा मानना आँखो मे धूल झोकने के समान है, क्योकि किसी भी द्रव्य का ऐसा एक भी परिणमन आगम मे स्वीकार नही किया गया है, जिसमे बाह्य और आभ्यतर उपाधि की समग्रता नहीं रहती हो। त० सू० ५–७ सर्वार्थसिद्धि का जो वचन है, वह धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यो को लक्ष्य मे रखकर ही कहा गया है। धर्मादि तीन द्रव्यो की प्रत्येक समय जो स्वभाव पर्याय होती है, वह स्व के अवलम्बन से ही होती है, मात्र इसलिये ही उसकी षडगुण-हानि-वृद्धिरूप पर्याय को स्व-प्रत्यय कहा गया है। पर जब प्रत्येक समय मे होने वाली उसी पर्याय में निमित्त की विवक्षा की जाती है तो वही स्वप्रत्यय पर्याय पर-सापेक्ष भी अभिहित की जाती है, इसका विशेष खुलासा हम पहले ही कर आये हैं। इसलिये जिनागम मे पर्याय के विभावपर्याय और स्वभाव पर्याय ऐसे दो भेद तो दृष्टि-गोचर होते हैं, पर जैसे दो भेद समीक्षक ने सूचित किये हैं ऐसे दो भेद कही भी दृष्टिगोचर नहीं होते। सर्वार्थसिद्धि मे बाह्य अवलम्बन की अविवक्षा और बाह्य अवलम्बन की विवक्षा के रूप से पर्यायो के दो प्रकार सूचित किये गये हैं। धर्मादि तीन द्रव्यो का प्रत्येक परिणाम पर के लक्ष्य से नहीं होता, इसीलिये तो उसे स्वप्रत्यय कहा गया है। तथा निमित्त की विवक्षा में उसे परप्रत्यय भी स्वीकार किया गया है। जो असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से यहाँ गौण है।

हमने "प्रत्येक द्रव्य स्वय परिणमनस्वभाववाला है" यह लिखा है, किन्तु समीक्षक यदि इसे स्वीकार नही करेगा तो उसकी मान्यतानुसार स्वप्रत्यय परिणमन त्रिकाल मे सिद्ध नही हो सकेगा, इसलिये यह स्वीकृत करना ही आगम सम्मत है कि चाहे स्वभाव-पर्याय हो और चाहे विभाव पर्याय ही क्यो न हो, प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपने परिणाम स्वभाव के कारण परिणमता है। मात्र परलक्षी परिणाम के होने पर तो विभाव पर्याय होती है और स्वलक्षी परिणाम के होने पर स्वभाव पर्याय होती है। समीक्षक ने दूसरे पैरे मे जो कुछ लिखा है उसका भी यही समाधान है।

समयसार या अन्यत्र जिनागम मे परिणमन स्वभाव के अर्थ मे जहाँ भी स्व" या "स्वयमेव" पद आया है, वहाँ परमार्थ से देखा जाये तो उसका अर्थ "अपने आप" या "अपने आप ही" होता है, अन्य नही, इतना ही यहाँ लिखना पर्याप्त है। असद्भूत व्यवहारनय से यह भले ही कहो कि वस्तु का परिणमन पर सापेक्ष होता है।

अष्टसहस्री पृ० १०५ का वचन मीमांसक को लक्ष्य मे रखकर लिखा गया है, क्योकि मीमांसक शब्द को सर्वथा नित्य मानता है। वह उपादान-उपादेय रूप से उसे परिणामी नित्य नहीं

मानता। फिर भी शब्द जब सुनने में आता है और जब सुनने में नहीं आता — ऐसे उसके मत को ध्यान में रखकर ही आचार्य ने उसे उपालम्भ देते हुए यह कहा है कि "यदि सहकारी कारण शब्द नित्यतारूप इस सामर्थ्य का खंडन नहीं करते तो वे अकिंचित्कर क्यों नहीं हो जाते ?" इस प्रकार समीक्षक पर मत के सर्वथा एकान्त मत के मण्डन में लिखे गये ऐसे वचनों का भी स्वमत के पोषण में उपयोग करता है इसका हमें आश्चर्य है। अथवा इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है, क्योंकि जिसकी युक्ति ही कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा" की हो गई है, वह आगे चल कर और क्या क्या नहीं लिखेगा, कौन कह सकता है ?

आगे समीक्षक ने स० पृ० ६१–६२ में अन्य जितना कुछ भी लिखा है, वह उपचारनय का आश्रय लेकर ही लिखा है, क्योंकि निश्चयनय से जो कुछ कहा जाता है, उपचारनय या असद्भूत व्यवहारनय भी वही कहता है। अन्तर इतना है कि प्रथम का विषय परमार्थभूत होता है और दूसरे का विषय कल्पनाजन्य होता है। हम परमार्थ से यह जानते हैं कि आकाश, आकाश में रहता है और धर्मादि अन्य द्रव्य अपने में रहते हैं, फिर भी आकाश की व्यापकता को देखकर यह कहा जाता है कि आकाश आधार है और अन्य द्रव्य आधेय हैं। यह एक विकल्प है, जो संयोग सम्बन्ध की सृष्टि करता है। आगम में इसी आधार पर आधार-आधेय, निमित्त-नैमित्तिक आदि सम्बन्ध स्वीकार कर लिये गये हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का "तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्य-कारणभावो द्विष्ठ सम्बन्ध।" इत्यादि वचन को भी इसी आधार पर प्रतीत सिद्ध और पारमार्थिक मान लिया गया है। यदि इस द्विष्ठ सम्बन्ध को सर्वथा पारमार्थिक माना जाता है तो भी किसी भी द्रव्य की अपने गुण-पर्यायपने से उसकी रक्षा स्वतन्त्रता की रक्षा ही नहीं हो सकती। इसलिये दो को मिलाकर एक कहना या स्वतंत्र सत्ताक दो में कल्पना के आधार पर एक सम्बन्ध स्थापित करना और बात है और बाह्य दृष्टि से एक क्षेत्र में रहते हुए भी वे अपने-अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं, यह जानना और बात है। इसमें समीक्षक किसको परमार्थभूत मानता है, इसका वह स्वयं विचार करे। आगम में तो "अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा" ॥ इस वचन द्वारा दो द्रव्यों में अत्यन्ताभाव ही प्ररूपित किया गया है, इसे समीक्षक भी जानता होगा।

स० पृ० ६३ में समयसार गाथा १०७ की समीक्षक ने व्याख्या का यह तात्पर्य प्रस्तुत किया है — "आत्मा पुद्गल कर्मरूप में उत्पन्न नहीं होता या पुद्गल कर्मरूप नहीं होता, पुद्गल कर्मरूप से नहीं बंधता, पुद्गल कर्मरूप में नहीं परिणमता और पुद्गल कर्मरूप से गृहीत नहीं होता, क्योंकि कर्मरूप में उत्पत्ति, कर्मरूप में रचना, कर्मरूप में बन्ध, कर्मरूप से परिणमन और कर्मरूप से ग्रहण पुद्गल का ही होता है, तथा आत्मा की ये सभी अवस्था आत्मा के सहयोग के बिना सम्भव नहीं हैं। अतः आत्मा का पुद्गल को कर्मरूप में उत्पन्न करना या बांधना, परिणमाना और ग्रहण करना इनमें सहायक होने रूप में व्यवहारनय का ही कथन निर्णीत होता।"

अब हम देखें कि उक्त गाथा का वास्तविक अर्थ क्या है —

"आत्मा पुद्गल को कर्मरूप में उत्पन्न करता है, आत्मा पुद्गल कर्म को करता है, आत्मा पुद्गल कर्म को बांधता है, आत्मा पुद्गल कर्म को परिणमाता है और आत्मा पुद्गल कर्म को ग्रहण

करता है, यह असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य है। तात्पर्य यह है कि असद्भूत व्यवहारनय से लोक मे जो यह भाषा बोली जाती है कि एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य का कार्य किया, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य को परिणमाया, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य के कार्य को उत्पन्न किया, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य को बांधा, आदि ये सब कथन परमार्थभूत नहीं है।

हमारे कथन की उपयोगिता —

हमने जो मा० त० च० पृ० ३८ में "आत्मा मे रागादि को पौद्गलिक बतलाने का कारण" — इस शीर्षक के अन्तर्गत जो आगमानुसार पृ० ३८ से ४१ तक तत्त्व प्रस्तुत किया है, वह इसीलिये उपयोगी और सार्थक है, क्योंकि हमें भय था कि समीक्षक इस विषय मे अपना यह मत दोहरा सकता है कि कर्मोदय की सहायता से आत्मा रागादिरूप परिणमता है, इसलिये आ० कुन्दकुन्द देव ने रागादि को पौद्गलिक कहा है। और उसने अपना यह मत स० पृ० ६४ मे इन शब्दो मे व्यक्त भी किया है — "लेकिन इस विषय मे इतना मतभेद है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुद्गल को जीव की उनरूप परिणति मे नियम से सहायक होने रूप से कार्यकारी नही मानता तथा उसे अकिंचित्कर बतलाता है।"

समीक्षक ने "ट" विभाग के अन्तर्गत स० पृ० ६५ मे अपना यह अभिमत प्रगट किया है कि "इसके विषय मे मेरा कहना है कि रागानुभूति से पृथक् शुद्ध आत्मानुभूति ११वे गुणस्थान से पूर्व किसी भी जीव को होना सभव नहीं है, क्योंकि १० वें गुणस्थान तक जीवों के प्रकृति और प्रदेश बध के अलावा स्थिति और अनुभाग बन्ध भी होता है। यह बन्ध इस बात को बतलाता है कि वहाँ रागानुभूति से पृथक् शुद्ध आत्मानुभूति का होना सभव नही है। इस प्रकार पूर्व पक्ष एक ओर तो अपना उक्त अभिप्राय व्यक्त करता है और दूसरी ओर वह (ज) विभाग के अन्तर्गत यह भी लिखता है कि "पूर्वपक्ष को उत्तर पक्ष के इस कथन मे भी विरोध नहीं है कि "पारमार्थिक भाव को ग्रहण करने वाले शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत चिच्चमत्कार ज्ञायक स्वरूप आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न हुई आत्मानुभूति मे उनका भान नही होता, इसलिये वे रागादिभाव जीव के नहीं — ऐसा समयसार गाथा ५० से ५६ तक की गाथाओ मे कहा गया है तथा इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाओ की टीका मे आ० अमृतचद्र देव ने जो कुछ लिखा है और जिसे उत्तरपक्ष ने अपने कथन मे प्रमाणरूप से उधृत किया है, वह भी पूर्वपक्ष को मान्य है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वपक्ष के परस्पर विरोधी पूर्वोक्त दो वक्तव्य हैं। उनमे से प्रथम वक्तव्य मे तो यह स्वीकार किया गया है कि आत्मा मे जब राग का सद्भाव नहीं रहता तब ११वें गुणस्थान मे शुद्ध आत्मानुभूति होती है। और दूसरे वक्तव्य मे हमारे समान यह भी स्वीकार कर लिया है कि जीव मे रागादि रूप पर्याय के रहते हुए भी ज्ञायकस्वभाव आत्मा के अवलम्बन से शुद्ध आत्मानुभूति के होने मे कोई बाधा नही आती। इससे साफ जाहिर होता है कि समीक्षक अभी तक यह निर्णय ही नही कर पाया है कि परनिरपेक्ष मोक्षमार्ग क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है। साथ ही वह यह भी निश्चय नही कर पाया है कि चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्वादि तीन और अनन्तानुबधी चार, इन सात के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के होने पर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वह स्वभाव पर्याय है या नही। और यदि स्वभाव पर्याय है तो उपयोग मे किसका आलम्बन लेने पर वह होती है। हमारी समझ से समीक्षक इसी विमूचन मे पडा हुआ है और इसीलिये वह यह निर्णय नही

कर पाता है कि शुद्ध आत्मानुभूति पर्याय मे राग के रहते हुए भी, चौथे मे होती है या ७ वें मे होती है या ११ वे मे होती है। कोई कहता है कि चौथे मे होती है, कोई कहता है कि ७ वे मे होती है और कोई कहता है कि ११ वें मे होती है। समीक्षक को कम से कम इतना तो सोचना ही चाहिये कि जब चौथे मे सम्यक्त्व के विरोधी मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का उदय नही रहा, साथ ही मिथ्यादर्शन आदि आत्मा के परिणाम नही रहे और वह जीव स्वभाव का अवलम्बन भी लिए हुए है, ऐसी अवस्था मे सम्यक्त्वरूप स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी स्वभाव के अवलम्बन से शुद्धात्मानुभूति नही होवे, यह कैसे कहा जा सकता है ? समीक्षक को इसी का विचार करना चाहिये।

समीक्षक (ठ) विभाग के अन्तर्गत हमारे सब कथन को मान करके भी अन्त मे लिखता है कि "केवल इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि" जीव आप विरोधी होकर उन्हे करता हुआ भी पुद्गल के कर्म के सहयोग से ही उन्हें करता है, पुद्गल कर्म के सहयोग के विना कदापि नही करता है।" इस सम्वन्ध मे हम यहाँ इतना ही पूछना चाहेगे कि पुद्गल कर्म के सहयोग का क्या अर्थ है ? (१) क्या वह यह अर्थ करता है कि आत्मा और पुद्गल कर्म दोनो मिलकर जीव मे रागादि भाव को उत्पन्न करते हैं या (२) क्या वह यह अर्थ करता है कि जब जीव रागादि को उत्पन्न करता है, तब पुद्गल कर्म का उदय अवश्य रहता है ? (३) या क्या वह यह अर्थ करता है कि जीव रागादि को उत्पन्न करता है, तव एक कालप्रत्यासत्तिवश जीव ने रागादिरूप परिणाम किया, इसका पुद्गल कर्मोदय सूचक होता है, इसलिये वह निमित्त कहा जाता है ?

पहला अर्थ तो स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि जब जीव अपने रागादि भाव को उत्पन्न करता है, तव पुद्गल कर्म अपने उदय उदीरणारूप पर्याय को ही उत्पन्न करता है। कोई किसी का सहायक नही होता, कारण कि जहाँ अज्ञान अवस्था मे जीव के रागादि की उत्पत्ति मे कर्मोदय को निमित्त कहा गया है, वही आस्रव अधिकार (समयसार) मे पुद्गल के परिणामरूप मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ये चारो ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म के आस्रव के निमित्त होने से वास्तव मे आस्रव हैं और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामो के) कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष -मोह हैं, जो कि अज्ञानमय आत्म परिणाम हैं। इसलिये (मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामो के) आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष ही आस्रव हैं और वे अज्ञानी के ही होते हैं यह भी कहा गया है। (स० गा० १६४-१६५ आत्मख्याति टीका) इससे विवक्षाभेद से उभयता निमित्त की सिद्धि होती है, यह वात समीक्षक को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। इसलिये जहाँ पर भी असद्भूत व्यवहारनय से कथन किया गया हो, वहाँ वह कथन असत् होते हुए भी प्रयोजनवश आगम मे स्वीकार कर लिया गया है। उसे समझना चाहिये। गोम्मटसार जीवकाड मे "जनपद सम्मइ ठवणेणामे रूवे पडुच्च ववहारे।" इत्यादि रूप से जो सत्य के दस भेद किये गये हैं, वे इसी अभिप्राय से ही किये गये हैं कि यदि कोई वात असत् भी कही जाती है तो प्रयोजन के अनुसार उसे सत्य मान लिया जाता है। असद्भूत व्यवहारनय इसी अर्थ मे चरितार्थ है। इस सम्वन्ध मे और विशेष क्या खुलासा करें ?

समीक्षक कर्मोदय के सहयोग का अर्थ यदि दूसरे और तीसरे विकल्परूप स्वीकार करता है, वह हमे इष्ट है, क्योकि जीव जब भी स्वय रागादि विभाव परिणतिरूप परिणमता है, तब काल-

प्रत्यासत्तिवश कर्मोदय मे निमित्त व्यवहार होने के साथ उससे सूचना मिलती है कि इस समय जीव ने पिछली पर्याय से भिन्न स्वय ही पर की अपेक्षा किये विना रागादि रूप विभाव परिणति की। स्पष्ट है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य मे इन दो विकल्पो को छोडकर अन्य किसी भी प्रकार से सहायक नही हो सकता।

स० पृ० ६५ के अक (२) के अन्तर्गत खा० त० च० पृ० ३८ मे हमने अध्यात्म को ध्यान मे रखकर जो वक्तव्य दिया है, उसकी अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए (क) विभाग के अन्तर्गत समीक्षक कहता है कि "यद्यपि रागादि जीव के परिणाम हैं, अर्थात् जीव उनका उपादान होने से उन रूप परिणमता है, परन्तु उनका प्रधान उपादान कारणभूत जीव न होकर जीव को उनरूप परिणमित होने मे सहायता प्रदान करने वाला निमित्त कारणभूत पुद्गलकर्म का उदय है। इसमे हेतु यह है कि ये रागादिभाव उपादान कारणभूत जीव मे तभी तक उत्पन्न होते हैं, जब तक उसमे कर्म का उदय विद्यमान रहता है और जब उसमे कर्म के उदय का उस कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के आधार पर अभाव हो जाता है, तब उसमे उन रागादिभावो का अभाव भी नियम से हो जाता है।"

यह अध्यात्म की अनुपयोगिता को बतलाने वाला समीक्षक का वक्तव्य है। इसमे कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के साथ जो रागादि भावो के अभाव की समव्याप्ति बिठलाई गई है, सो यहाँ देखना यह है कि जब जीव अपने उपयोग द्वारा स्वभाव सन्मुख होकर उपयोग मे रागादि के अभावरूप से परिणमता है, तब उसके निमित्त से कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है या कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से जीव रागादि के अभावरूप से परिणमता है — ये दो विकल्प विचारणीय हैं। प्रथम विकल्प तो मोक्षमार्ग मे इसलिये ग्राह्य है, क्योकि जब जीव स्वय उपयोग द्वारा स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि परिणाम रूप से परिणत होता, तब रागादि के अभाव के साथ उसके निमित्तभूत कर्मों का स्वय उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है, इसलिये यह कहना तो सिद्ध होता नही कि कर्मोदय की सहायता के बिना जीव रागादिरूप नही परिणाम सकता, क्योकि जब जीव मे इष्टानिष्ट बुद्धिपूर्वक या उसके विना स्वय ही रागादिभाव रूप परिणमता है, तब ही कर्मोदय उसमे स्वय निमित्त हो जाता है। अब रही दूसरे विकल्प की बात सो यह कहना तो ठीक है कि जब कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है, तब रागादि का स्वय अभाव हो जाता है, परन्तु कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता कैसे है, इसकी मीमासा की जाती है, तब स्वय ही मोक्षमार्ग मे आत्मपुरुष को मुख्यता मिल जाती है, इसलिये सिद्धान्तरूप मे यही मान लेना चाहिये कि यह जीव स्वय ही परनिरपेक्ष रागादिभावरूप से परिणमता है और कर्मोदय उसमे स्वय ही असद्भूत व्यवहारनय से निमित्तपने को प्राप्त हो जाते हैं।

मुख्यता और गौणता विवक्षा मे होती है, वस्तु मे नहीं — स० पृ० ६५ मे (ख) विभाग के अन्तर्गत समीक्षक ने कही पर निमित्तकारण की मुख्यता की और कही पर उपादान कारण की मुख्यता की बात लिखी है सो वह यह भूल जाता है, कि मुख्यता या गौणता विवक्षा मे हुआ करती है, वस्तु मे नही, कारण कि कार्य-कारणभाव की दृष्टि से देखने पर प्रत्येक वस्तु स्वय ही अपने कार्य को करती है और वाह्य पदार्थ एक काल प्रत्यासत्तिवश असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त होता है। आगे अपने अभिप्राय को सिद्ध करने के लिये १, २ और ३ क्रमाक के अन्तर्गत जो उसने उदाहरण

प्रस्तुत किये हैं, वे मात्र विवक्षा को सूचित करते हैं, उनसे अन्य कोई प्रयोजन फलित नही होता, इसलिये अप्रयोजनीय अनुपयोगी जानकर उनके विषय मे हम कुछ नही लिख रहे हैं।

कथन २५ का समाधान — स०पृ० ६७ मे समयसार गाथा ६८ के माध्यम से समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "समयसार गाथा ६८ की टीका मे यह कहा गया है कि जिसप्रकार जौ से जौ उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रागादि पुद्गल कर्मों से रागादि उत्पन्न होते हैं, इसीकारण निश्चयनय से रागादिभाव पौद्गलिक हैं।" साथ ही इसका स्पष्टीकरण करते हुए समीक्षक का कहना है कि यहाँ रागादिभाव का कारणभूत पुद्गलकर्म का उदय निमित्त कारण होते हुए भी प्रधान कारण है, इसलिये वे निश्चयनय से पौद्गलिक हैं।" अपने इस मत के समर्थन मे उसने स० पृ० ६८ पर लिखा है कि "इसी प्रकार जीव मे जो रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, वे यद्यपि जीव के शुद्ध स्वभाव की विकृति मात्र होने से उपादान कारणभूत जीव की परिणतियाँ हैं, परन्तु उन्हे जीव की परिणति न बोलकर आगम मे यही बोला गया है कि वे पौद्गलिक हैं। ऐसा बोलने का कारण यह है कि जीव उन परिणतियो मे उपादान कारण होते हुए भी प्रधान कारण नही है और पुद्गल कर्म उन परिणतियो मे सहायक (निमित्त) कारण होते हुए भी प्रधान कारण है। इस तरह जीव की वे रागादिभाव रूप परिणतियाँ निश्चयनय से तो आगम मे पौद्गलिक मानी गयी हैं और व्यवहारनय से ये जीव की परिणतियाँ मानी गयी हैं।"

समयसार गाथा ६८ के खुलासा के रूप मे यह समीक्षक का वक्तव्य है, जो वस्तुस्थिति को स्पर्श नही करता, कारण कि अशुद्ध निश्चयनय से देखा जावे तो रागादि परिणतियाँ जीव ने ही पर-निरपेक्ष होकर अपने मे स्वय उत्पन्न की हैं। पुद्गल कर्म का उदय तो उसमे निमित्त मात्र है। पुद्गल कर्म का उदय प्रधान कारण है और उपादान कारणरूप जीव अप्रधान कारण है, इसलिये उन्हे (रागादि को) निश्चयनय से पौद्गलिक कहा गया हो ऐसा नही है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय त्रिकाली स्वभाव को ही स्वीकार करता है और इस विवक्षा मे अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार कोटि मे परिगणित हो जाता है। यतः शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि मे रागादि परिणतियाँ त्रिकाली स्वभाव मे भिन्न होने के कारण पर हैं, इसलिये समयसार गाथा ६८ मे शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा उन्हें नित्य अचेतन अर्थात् पौद्गलिक कहा गया है। (स० गा० ६८ तात्पर्यवृत्ति टीका देखो)

यह समयसार गाथा ६८ की दोनो सस्कृत टीकाओ के आधार पर लिखी गई तथ्यपूर्ण व्याख्या है, अत. समीक्षक ने स० पृ० ६८ से ७० तक जो कुछ लिखा है, वह उपेक्षनीय जानकर उसकी हम यहाँ पर चर्चा करना इष्ट नही मानते, क्योंकि पिष्टपेषण होने से उससे कोई फल निष्पन्न होने वाला नही है। साथ ही यहाँ भी समीक्षक को यह जान लेना चाहिये कि कहीं निमित्त प्रधान होता हो और कहीं उपादान प्रधान होता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रधानता और अप्रधानता विवक्षा मे हुआ करती है वस्तु मे नही।

कथन २६ का समाधान — समयसार गाथा ११३-११५ के आधार से समीक्षक ने खा० त० भा० पृ० १२ मे लिखा है कि जिस प्रकार उपयोग जीव से अनन्य है, उस प्रकार क्रोध जीव से अनन्य नहीं है? इसके उत्तरस्वरूप जयपुर खा० त० चर्चा पृ० ४२ मे हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि समयसार गाथा ११३-११५ में भी (गाथा ६८ के अनुसार) "यही आशय व्यक्त किया गया है" सो

यह कथन टीका के योग्य तो नही है फिर भी समीक्षक ने उसे टीका योग्य बनाया है, इसका हमें आश्चर्य है। यह तो समीक्षक को ही देखना है कि मनगढन्त कल्पना द्वारा निमित्त-नैमित्तिक भाव और कर्तृकर्म भाव ने निहित अभिप्राय को हृदयगम करने मे कौन पक्ष अवहेलना कर रहा है ? वह कि हम।

कथन २७ का समाधान —अकालमरण कालमरण का स्वरूप निर्देश—

इसके अन्तर्गत स० पृ० ७२ पर समीक्षक ने हमारे कर्मग्रथ पु० ६ की प्रस्तावना मे निर्दिष्ट "किन्तु कर्म के विषय मे ऐसी बात नही है, इसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा मे रहता है. जब तक उसमे तदनुकूल योग्यता पाई जाती है", इस कथन का विरोध करते हुए लिखा है कि "यह कथन प्रेय-प्रेरक भावरूप कार्य कारणभाव पर विचार करने की अपेक्षा असगत हो जाता है", सो इस सम्बन्ध मे हमारा इतना ही कहना है कि न तो एक द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्य का प्रेरक होता है और न वह प्रेय ही होता है। मात्र आगम मे इस प्रकार का कथन अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है, जो इस प्रकार के वचन प्रयोग की ही विशेषता है। यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का परमार्थ से प्रेरक मान लिया जावे तो उसका अर्थ होता है – एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य का कार्य किया। जो मानना "य परिणमति स कर्ता" इस सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है, क्योकि जैसे प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वय स्वभाव की अपेक्षा नित्य माना गया है, उसी प्रकार अपने परिणमन स्वभाव की अपेक्षा अनित्य ही माना गया है। यह प्रत्येक द्रव्य का स्वत. सिद्ध स्वरूप है, उसमे किसी का हस्तक्षेप नही। समीक्षक का अन्य सब कथन पिष्ट-पेषण मात्र होने से अविचारितरम्य है।

आगे स० पृ० ७५ मे हमारे द्वारा स्वीकार किये गये काल और अकाल मरण को समीक्षक आगम सम्मत और युक्ति सम्मत नही बतलाते हुए लिखता है कि "जहां आयु की विषभक्षण आदि बाह्य सामग्री के बल से उदीरणा होकर समाप्ति होती है वह काल मरण कहलाता है।" सो उसका यह कथन इसलिए सगत नही है, क्योकि जन्म और मरण जीव का होता है। इसलिये जीव की योग्यता के आधार पर जहां मरण विवक्षित होता है, वह काल मरण कहलाता है, क्योकि जीव ने स्वय अपनी योग्यता के आधार पर अपनी वर्तमान पर्याय को बदल कर अपनी अगली पर्याय को ग्रहण किया। इसलिये भुज्यमान आयु कर्म का उदय आदि भी उसके अनुकूल रहता है, किन्तु जहां आयु-कर्म के अपवर्तनपूर्वक जीव वर्तमान पर्याय को बदलकर अगली पर्याय को ग्रहण करता है, वहां निमि-पने की अपेक्षा अकालमरण या कदलीघातमरण कहा जाता है। यह आगम व्यवस्था है। तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र में अकाल मरण की आयुकर्म-के अपवर्तन के आधार पर ही व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, वहाँ आत्मा की योग्यता के आधार पर अकालमरण की व्यवस्था दृष्टि-गोचर नही होती। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि आत्मा की मात्र योग्यता के आधार पर विचार करते हैं तो वह कालमरण ही है और उसमे निमित्त होने वाले कर्म की अपवर्तनीय योग्यता के आधार पर यदि विचार करते हैं तो वही कालमरण अकालमरण कहलाता है। इस प्रकार कालमरण और अकालमरण मे आगम के अनुसार वास्तव मे भेद नही है, यह समीक्षक को समझ लेना चाहिये।

कथन २८ का समाधान:— कार्यपने की अपेक्षा बाह्य वस्तु को कारण कहना असद्भूत व्यवहार ही है— इस सम्बन्ध मे स० पृ० ७७ मे समीक्षक लिखता है कि "पूर्व पक्ष के अनुसार निमित्त व्यवहार उसी वस्तु मे होता है, जो उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक

होती है, जब कि उत्तरपक्ष मानता है कि — उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक न होते हुए भी बाह्य वस्तु मे निमित्तव्यवहार होता है।" सो समीक्षक के इस वक्तव्य पर विशेषरूप से जब ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आगम मे व्यवहार पद का अर्थ ग्रहण किया गया है, यह समीक्षक को ज्ञात ही नही जान पडता। यदि ज्ञात है तो वह अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये बदल कर उसका दूसरा अर्थ ग्रहण कर रहा है। वस्तुत यहा व्यवहार पद से असद्भूत व्यवहार लिया गया है और यह किसी मे तभी घटित होता है, जब एक वस्तु के गुणधर्म का अन्य वस्तु मे आरोप किया गया हो। मात्र कालप्रत्यासत्तिवश जो अन्य द्रव्य, कार्य द्रव्य का अविनाभावी होता है, सूचकपने की अपेक्षा उसमे निमित्त व्यवहार कर लिया जाता है। और सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा वही कार्य आरोपित करके बाह्य निमित्त का भी कह दिया जाता है। बाह्य निमित्त वास्तव मे दूसरे के कार्य मे न सहायता करता है और न वह वस्तुत उसका कारण ही है। कारणपने का तो मात्र उसमे काल-प्रत्यासत्ति वश व्यवहार ही किया जाता है। इस प्रकार इतने स्पष्टीकरण से समीक्षक के प्रथम मूल प्रश्न का जो हमने प्रथम, द्वितीय, तृतीय दौर मे उत्तर दिया है, वह न केवल समीचीन है; अपितु आगम सम्मत भी है। इसलिये समीक्षक जो बारबार यह लिखता है कि "यह हमारे प्रश्न का उत्तर नही है" सो उसका ऐसा बारबार लिखना केवल पाठको के मन मे दिशाभ्रम पैदा करना ही जान पडता है, अन्य कोई उसका दूसरा प्रयोजन नही जान पडता, क्योकि ससारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गति परिभ्रमण मे द्रव्य कर्म का उदय एक कालप्रत्यासत्तिवश निमित्त मात्र है, यह जो हमारा प्रारभिक उत्तर था वह आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। उसमे बदल करने की कोई जरूरत नही है।

आगे स पृ. ८० पर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "पूर्वपक्ष का इतना कहना अवश्य है कि यद्यपि पुरुषार्थ हीन जीव ही होता है, लेकिन कर्मोदय की सहायता मिलने पर होता है। इसी तरह यद्यपि जीव ही उत्कृष्ट पुरुषार्थी होता है, लेकिन कर्मोदय की मदता का सयोग मिलने पर ही होता है"। सो इस विषय मे हमारा इतना ही कहना है कि कर्मोदय की तीव्रता-मदता उसका (कर्म का) अपना परिणाम है और जीव का पुरुषार्थहीन या उत्कृष्ट पुरुषार्थी होना उसका अपना परिणाम है। दोनो द्रव्य स्वतत्र हैं। वे अपने परिणाम के स्वय पर निरपेक्ष होकर कर्ता हैं। अविनाभाव सम्बन्धवश असद्भूत व्यवहारनय से ऐसा कहा जावे, पर समीक्षक का उक्त प्रकार का कथन करना परमार्थ नही है।

कर्मोदय और पुरुषार्थ —

आगे समीक्षक जो यह मानता है कि कर्मोदय की तीव्रता मे होने वाला पुरुषार्थ आत्म-कल्याण का कारण है। सो यह कथन भी परमार्थ को स्पर्श नही करता। व्यवहार भी ऐसा नही है, क्योकि कर्मोदय की मदता भी बनी रहे और जीव आत्मकल्याण के मार्ग मे न लगें और कर्मोदय की तीव्रता भी बनी रहे और जीव आत्म कल्याण के मार्ग मे लगा रहे, क्वचित् कदाचित् यह सम्भव है। उदाहरणार्थ गजकुमार मुनिराज के ऊपर घोर उपसर्ग हुआ और उनके असाता वेद-नीय की तीव्र उदय उदीरणा भी बनी रही, फिर भी वे अपने आत्मकल्याण के कार्य से च्युत नही हुए।

कथन २९ का समाधान—इस कथन मे समीक्षक ने "प्रेरक कारण के वल से किसी द्रव्य मे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, "यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके समर्थन मे यह इन तीन हेतुओ को देता है—

१ उसका कहना कि प्रवचनसार मे आ अमृतचद्र देव ने जो कालनय और अकालनय तथा नियतनय-अनियतनय का कथन किया है, इससे सिद्ध होता है कि प्रेरक कारण के वल से कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।

२ प्रत्यक्ष से भी ऐसा देखा जाता है कि प्रेरक कारण मिलने पर कार्य आगे-पीछे कभी भी हो जाता है।

३ तथा किसी ने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है कि कौन कार्य किसमे कव हो, इन तीनो को वह नियत समय को छोडकर उसके आगे-पीछे होने मे कार्य के अपने पुष्ट प्रमाण मानता है।

इस विपय मे आगम क्या है, इसका हम सर्वप्रथम उल्लेख कर देना चाहते हैं। तत्वार्थ-राजवार्तिक अ ५ सूत्र १२ की व्याख्या करते हुए आ अकलकदेव लिखते हैं कि आकाश अन्य द्रव्यो का आधार है, यह व्यवहारनय(असद्भूत व्यवहारनय)की अपेक्षा कहा गया है। परमार्थ से देखा जावे तो सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ ही हैं। इसलिये आकाश अन्य द्रव्यो का आधार है और अन्य द्रव्य आधेय हैं, यह नही वनता। जैसे वहाँ कहा भी है—

परमार्थतयात्मवृत्तित्वात् ॥५॥ एवभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतयाऽऽत्मप्रतिष्ठात्वादा धाराधेयाभाव।"

परमार्थ से सभी द्रव्य अपने मे ही रहते हैं। ५। एव भूतनय के आदेश से सब द्रव्य परमार्थ से आत्मप्रतिष्ठ हैं, इसलिये आधार-आधेय भाव का अभाव है।

तव यह प्रश्न उठा है कि यदि ऐसा है तो परस्पर आधार-आधेय भाव का कथन आया है। ऐसी अवस्था मे सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ हैं, यह कहना योग्य प्रतीत नहीं होता। इसके उत्तर स्वरूप वहाँ लिखा है।—

अन्योन्याधारताव्याघात इति चेन्न, व्यवहारतस्तत्सिद्धे ॥६॥ स्यान्मत यदि सर्वाणि द्रव्याणि परमार्थतया स्वात्मप्रतिष्ठानि, ननु यदुक्तं वायोराकाशमधिकरण, उदकस्य वायु पृथिव्या उदक, सर्वजीवानां पृथिवी, अजीवा जीवाधारा जीवाश्चाजीवाधारा कर्मणामधिकरणं जीवा जीवाना कर्माणि, धर्माधर्मकाला आकाशाधिकरणा इत्येतस्यान्योन्याधारताया व्याघात इति ? तन्न, किं कारण, व्यवहारत तत्सिद्धे। सर्वमिदमुक्त अन्योन्याधारत्वं व्यवहारनयवक्तव्यवललाभादेशात् सिद्ध्यति। व्यावहारिकमेतत् आकाशे वातादीनामवगाह इत्याधारकल्पनायामनवस्थाप्रसग इति। परमार्थतस्तु आकाशवत् वातादीन्यपि स्वात्माधिष्ठानानि।

अन्योन्याधारता का व्याघात होता है, ऐसा नही है, क्योंकि व्यवहारनय से उसकी सिद्धि होती है ॥ ६ ॥ स्यात् कोई कहे कि यदि सव द्रव्य परमार्थ से आत्मप्रतिष्ठ हैं तो जो यह कहा गया है कि वायु का आकाश अधिकरण है, जल का वायु अधिकरण है, पृथ्वी का जल अधिकरण है, सव

जीवो का पृथिवी अधिकरण है, अजीव जीवो के आधार से रहते हैं और जीवअजीवो के आधार से रहते हैं, कर्मों का अधिकरण जीव है, जीवों का अधिकरण कर्म है, धर्म-अधर्म और काल का अधिकरण आकाश है, इस प्रकार परस्पर की आधारता का व्याघात होता है, तो ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि व्यवहारनय से अर्थात् असद्‌भूत व्यवहारनय से उसकी सिद्धि होती है। जो यह सव परस्पर की आधारता कही गई है, वह व्यवहारनय अर्थात् असद्‌भूत व्यवहारनय के कथन के वल से सिद्ध होती है। यह व्यावहारिक कथन है कि आकाश मे वायु आदि का अवगाह है, क्योकि आधारान्तर की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसग आता है। परमार्थ से तो आकाश के समान वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं।

यह आधार आधेय के भाव के विषय मे आगम का कथन है। निमित्त नैमित्तिक भाव के विषय मे भी इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये, क्योकि आधार-आधेय भाव निमित्त-नैमित्तिक भाव का एक भेद है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य नित्य रहकर भी परिणाम स्वभाव वाला होने के कारण एक पर्याय से दूसरी पर्याय को प्राप्त होता है। इसी को असद्‌भूत व्यवहारनय की अपेक्षा किसके निमित्त से यह हुआ, यह व्यवहार किया जाता है। इसीलिये व्यहारनय से वाह्य निमित्त एक पर्याय से दूसरी पर्याय का सूचक होने से उसमे उक्त प्रकार का व्यवहार किया जाता है। यह वस्तु स्थिति है। इसी को ध्यान मे रखकर समयसार मे यह वचन उपलब्ध होता है—

नास्ति सर्वोपि सबध परद्रव्यात्मतत्त्वयो ।
कर्तृकर्मत्व संबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

परद्रव्य और आत्मा मे कोई सम्वन्ध (आधार-आधेय भाव, निमित्त-नैमित्तिकभाव, विशेपण विशेष्यभाव आदि) नही है। तव फिर उनमे कर्त्ता-कर्म सम्वध कैसे हो सकता है? इस प्रकार जहाँ कर्त्ता-कर्म सम्बध नही है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?

इसलिये जो समीक्षक वाह्य निमित्त को उसके कार्य मे व्यवहार से सहायता करने की अपेक्षा निमित्त कारण मानता है, उसका अर्थ होता है कि वास्तव मे सहायता तो नहीं करता। वह सहायता करता है, यह कथनमात्र है, जो कालप्रत्यासत्तिवश किया जाता है।

इस प्रकार इस कथन को ध्यान मे रखकर समीक्षक ने अपने प्रयोजन की सिद्धि में जो हेतु दिये हैं, वे निरर्थक जान पडते हैं, ऐसा यहाँ समझना चाहिये। अत उनके आधार से अलग-अलग विचार नही कर रहे हैं। इतना अवश्य है कि जो प्रवचनसार मे कालनय, अकालनय तथा नियतिनय अनियतिनय का कथन दृष्टिगोचर होता है, वहाँ पर इन नयो का किस अपेक्षा से विवेचन किया गया है, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हम अवश्य कर देना चाहते हैं। यथा —

समयसार गाथा ७६ को आधार वनाकर उसकी आत्मख्याति टीका मे कार्य को तीन प्रकार निरूपित किया गया है। प्राप्यकार्य, विकार्यकार्य और निर्वर्त्य कार्य। इनमे से प्राप्यकार्य का कथन नियत काल की विवक्षा मे किया गया है, क्योकि पर्याय योग्यता के आधार पर प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय नियत काल में ही होती है, किन्तु उसी का परसापेक्ष अर्थात् वाह्य निमित्त की अपेक्षा जव कथन करते हैं तो वही पर्याय कालनय मे भिन्न पर के निमित्त से हुई कही जाती है। यही कारण है कि यही प्राप्यकार्य पर की अपेक्षा विकार्यकार्य कहलाता है। प्रवचनसार में इन दोनों नयो का जो

स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, तो उससे भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है। आम को स्वभाव दृष्टि से यदि देखा जावे तो वह उष्ण काल मे ही पकता है, किन्तु उसी को पकाने के लिए उष्ण काल के स्थान पर प्रयोगकृत उष्णता का भी प्रयोग कर लिया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि काल-नय की अपेक्षा प्रत्येक कार्य अपने-अपने नियत काल मे ही होता है। फिर भी कृत्रिम उष्णता के समान बाह्य निमित्त की अपेक्षा उसी को (काल को गौण कर) अन्य कारण से यह कार्य हुआ – यह कहा जाता है।

इसी प्रकार नियतिनय और अनियतिनय का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये, क्योकि नियति-नय मे नियत स्वभाव विवक्षित रहता है और अनियतिनय मे परसापेक्ष स्वभाव विवक्षित रहता है। दोनो सप्रतिपक्ष नययुगल हैं। अत अस्तिनय और नास्तिनय के इस प्रतिपक्षनय युगल के समान ये दोनो नययुगल भी एक ही काल मे, एक ही वस्तु में विवक्षा भेद से लागू पडते हैं, यह हम पहले ही शका एक के तृतीय दौर मे पृ ४५ मे स्पष्ट कर आये हैं फिर भी समीक्षक ऐसे स्पष्ट कथन को स्वीकार न कर अपनी जिद पर अड़ा हुआ रहकर अपनी गलत मान्यता की पुष्टि मे इन सप्रतिपक्ष नय युगलों का उपयोग कर रहा है, इसका हमे आश्चर्य है।

आगे स पृ ८८ आदि पर समीक्षक ने जितनी भी बातें लिखी हैं, वे सब केवल ग्रथ का कलेवर बढाने वाली ही हैं। मात्र उनसे जो कर्म के बन्ध होने पर बन्धावली के बाद उत्कर्षण आदि की चर्चा की है, तो ऐसा लगता है कि समीक्षक इस विषय मे हमारे कथन को पूरी तरह से स्वीकार करके भी अपना यह आग्रह कायम रखना चाहता है कि "प्रेरक कारण का कार्य किसी भी वस्तु मे बिना उपादान शक्ति के कार्य को निष्पन्न नही करता है, केवल उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तु में होने वाली कार्योत्पत्ति के प्रति प्रेरक कारण का कार्य उस वस्तु को प्रेरणा प्रदान करता है और उदासीन कारण का कार्य उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तु यदि कार्यरूप परिणत होने के लिए तैयार है तो उसे कार्यरूप परिणत होने के अवसर पर अपना सहयोग प्रदान करता है, अर्थात् प्रेरक कारण के योग से कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और उदासीन कारण यद्यपि कार्य आगे-पीछे तो नही करा सकता है, परन्तु वह कार्यरूप परिणत होने के लिए तैयार उपादान को कार्यरूप परिणति मे सहयोग प्रदान किया करता है।" (स पृ ९०)

प्रकृत विषय मे यह समीक्षक का वक्तव्य है। इसे पढने से विचार के लिये ये बात सामने आती है —

(१) प्रेरक कारण वस्तु मे उपादान की भूमिका मे आये बिना कार्य को निष्पन्न नही करता।
(२) प्रेरक कारण उपादान शक्ति युक्त विशिष्ट वस्तु मे कार्योत्पत्ति के लिये मात्र प्रेरणा करता है।
(३) इस कारण प्रेरक कारण के बल पर कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।

आगे हम तीनो बातो को ध्यान मे रखकर क्रम से विचार करते हैं –

१ (क) समीक्षक के उक्त कथन से यह जान पडता है कि उपादान शक्ति के बिना केवल प्रेरक कारण की उत्पत्ति नही होती। अतएव प्रकृत मे उपादान शक्ति क्या है, यह विचारणीय हो जाता है। विचार के लिये हम यह तो मान लेते हैं कि वह जो कुछ भी लिखता है, उसे वह आगम

को प्रमाण मानकर ही लिखता होगा; अत हमे दोनो पक्षो के लिये आगम के आधार से उपादान के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

"तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेय क्षण एवोपादानस्य प्रध्वंस"

(अष्ट स पृ. १०१)

ऋजुसूत्रनय की विवक्षा मे तो कार्य के क्षण मे ही उपादान का प्रध्वस है।

इससे ज्ञात होता है कि अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य का नाम ही उपादान है और अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य का नाम ही उपादेय है। जैसा कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे भी कहा है —

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुद तं च्चिय कज्जं हवे णियमा ।।

उक्त गाथा का अर्थ इसके पूर्व लिखा ही है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अस्टसहस्री-कारिका ५८ की टीका मे यह स्पष्ट रूप से सूचित किया गया है कि उपादान का पूर्वाकार रूप से क्षय ही कार्य का उत्पाद है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उपादान और कार्य मे एक समय का ही भेद है।[1]

इस प्रकार उपादान का लक्षण सुनिश्चत हो जाने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जैन शासन मे प्रेरक कारण नाम का कोई कारण ही नही है। कथन मे किसी को प्रेरक कारण कहना और किसी को उदासीन कारण कहना अन्य बात है। ऐसे कथन मे प्रयोजन ही दूसरा रहता है। कर्मशास्त्र के अनुसार भी उपादान का यही लक्षण फलित होता है।

(ख) कर्मशास्त्र के अनुसार उदयावलि मे आये हुए कर्म का न तो उत्कर्षण होता है, न अपकर्षण होता है और न सक्रमण ही होता है। इतना अवश्य है कि अगले समय मे मान, माया और लोभरूप परिणाम न होकर यदि आत्मा क्रोधरूप परिणाम करने वाला है तो उस मान, माया और लोभ कषायरूप कर्म के परमाणु स्वय ही स्तिवुक सक्रमण के द्वारा क्रोधरूप परिणाम जाते हैं और अगले समय जब आत्मा क्रोध कषाय रूप परिणमता है, तव क्रोध कषायरूप कर्म के परमाणु नियम से उदयरूप रहते हैं। साथ ही उस समय क्रोध कषाय की एक अपवाद को छोडकर नियम से उदीरणा होती है। जितने भी सप्रतिपक्ष कर्म हैं उनकी निरन्तर यही भूमिका वनती रहती है।

(ग) आयु कर्म की एक प्रकृति का अन्य प्रकृति मे सक्रमण नही होता है, इसलिये जब यह जीव वर्तमान आयु का उपभोग करते हुए परभव सम्बधी आयु का त्रिभाग मे बन्ध करता है, तब उस समय से लेकर शेष भुज्यमान आयु उस वध्यमान आयु का आवाधाकाल बन जाता है। इसके बाद विष का योग मिले, हथियार का वार हो, यहा तक कि श्वासोच्छ्वास का निरोध होने का भी प्रसग आ जावे तो भी भुज्यमान आयु का जितना काल शेष रहा, उसका क्रमसे उपभोग किये विना उस जीव का मरण नही होता। यह एकान्त नियम है। षट्खडागम जीवट्ठाण की चूलिका मे इस नियम को स्पष्ट करते हुए भगवान पुष्पदत-भूतवली ने स्वतत्ररूप से दो सूत्रो की रचना की है। उनमे से प्रथम सूत्र है —

आबाधा ।।२४।। जी चू पृ १६८ ।।

---

१. "उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षय..कार्योत्पाद एव"

इसका अर्थ है पूर्वोक्त आबाधा काल के भीतर निषेक स्थिति में बाधा नहीं होती। इसका विशेष खुलासा करते हुए उसकी धवला टीका में बतलाया है —

जधा णाणावरणादिसमयबद्धाण बंधावलिवदिक्कताणं ओकड्डण परपयडिसंकमेहि बाधा अत्थि तथा आऊस्स ओकड्डण-परपयडिसंकमादीहि बाधाभावपरूवणट्ठं विदियवारमाबाधाणिद्देसादो।

जिस प्रकार बंधावलि के बाद ज्ञानावरणादि कर्मों के समय प्रबद्धो मे अपकर्षण और परप्रकृति संक्रमण के द्वारा बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्म के आबाधकाल के पूर्ण होने तक अपकर्षण और परप्रकृति संक्रमण आदि के द्वारा बाधा के अभाव का कथन करने के लिए दूसरी बार "आबाधा" इस सूत्र की रचना की है।

इसी अर्थ सूचित करने के लिये २८ न का सूत्र पृ १७१ मे आया है, उसका खुलासा करते हुए भी वही बात कही गई है। जो सूत्र २४ मे कह आये हैं।

यह तो समीक्षक भी जानता है कि जो अन्त कृत केवली होते हैं, उनके ऊपर घोर उपसर्ग होने पर भी उनका अकाल मरण नहीं होने से उनकी आयु मे निषेधक हानि द्वारा स्थिति नही घटती।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारण मिलने पर अपकर्षण द्वारा उन्ही कर्मों की निषेक हानि द्वारा स्थिति घटती है, बन्धकाल मे जो कर्म निकाचित बन्ध, निधत्तिबंध और उपशमकरणरूप बन्ध को प्राप्त नही होते।

इसप्रकार उपादान और कर्मशास्त्र के इन नियमो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक मे ऐसा कोई भी सामर्थ्यवान बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर नही होता, जिसके बल पर उक्त प्रकार से उपादान अवस्था को प्राप्त हुआ द्रव्य अगले समय मे कार्यरूप न परिणम कर आगे-पीछे कभी कार्यरूप परिणमे। मिथ्याज्ञान के बल से कोई ऐसी कल्पना अवश्य कर सकता है, पर ऐसी कल्पना की किसी भी आगम से त्रिकाल में पुष्टि होना सभव नही है।

इसप्रकार इतने विवेचन से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जिसे समीक्षक प्रेरक कारण कहता है वह वस्तु मे उपादान शक्ति के बिना कार्य को निष्पन्न नहीं करता।

२ समीक्षक का दूसरा कहना यह है कि प्रेरक कारण उपादान शक्ति युक्त विशिष्ट वस्तु मे कार्योत्पत्ति के लिये मात्र प्रेरणा करता है। सो यहाँ देखना यह है कि जिस समय उपादान कार्यरूप परिणम रहा है, उस समय वह (प्रेरक कारण) प्रेरणा करता है या उपादान शक्ति जब कार्यरूप नही परिणम रही है, तब वह प्रेरक कारण उसे (उपादान को) अपनी प्रेरणा द्वारा कार्यरूप परिणमा देता है। ये दो प्रश्न हैं, आगे इनके आधार से विचार किया जाता है —

(क) जब उपादान कार्यरूप परिणम रहा है, तब अन्य के द्वारा प्रेरणा करने का कोई सवाल ही नही उठता। उपादान स्वय कार्यरूप परिणम रहा है — इसी बात को ध्यान मे रखकर समयसार गाथा १२१—१२५ की आत्मख्याति टीका मे कहा गया है —

स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, नहि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते।

जव उपादान कर्ता होकर स्वय अपने कार्यरूप नही परिणम रहा है, तब उसे अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नही होती, क्योकि वस्तु की शक्तियाँ अपने कार्य मे अन्य की अपेक्षा नही करती ।

(ख) अब दूसरी वात, सो जव उपादान कर्ता होकर स्वय नही परिणमता तो इसका अर्थ होता है कि उसमे उस समय स्वय परिणमने की शक्ति नही है और जो स्वय परिणमन की शक्ति नही रखता, उसको अन्य प्रेरक कारण परिणमा भी नही सकता। इसी वात को ध्यान मे रखकर समयसार गाथा १२१–१२५ मे भी कहा है —

न हि स्वतोऽसती शक्ति कर्तुमन्येन पार्यते ।

जिसमे जो शक्ति स्वत नही होती है, उसे अन्य कोई कर नही सकता ।

प्रेरक कारण कार्य की उत्पत्ति के लिये प्रेरणा करता है, यह भी जो समीक्षक कहता है वह भी उक्त कथन पर दृष्टिपात करने से मिथ्या ठहर जाता है ।

(३) समीक्षक प्रेरक कारण के वल पर कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, यह कहता है तो यह कहना भी युक्तियुक्त प्रतीत नही होता, क्योकि जैन शासन मे जव प्रेरक नाम का कोई कारण ही नही है, ऐसी अवस्था मे उसके वल पर कार्य के आगे-पीछे होने का सवाल ही नही उठता ।

कार्य-कारण भाव की दृष्टि से देखने पर भी काल के जितने समय हैं, उतने ही काल सहित प्रत्येक द्रव्य के कार्य हैं। इसलिये जिस काल मे जिस कार्य के होने का नियम है, उस काल मे वह कार्य स्वय ही नियम से होता है, यह अवस्था वन जाती है। वाह्य कारण का कथन किस काल मे कौन कार्य हुआ, इसकी सूचना मात्र के लिये ही किया जाता है। ऋजुसूत्रनय से देखा जावे तो अपने-अपने काल मे कार्य स्वय होता है। उसकी सत्ता परकी अपेक्षा से नही है। इसके लिये समीक्षक को दर्शन प्रभावक, आद्य स्तुतिकार स्वामी समतभद्र द्वारा रचित आप्तमीमासा कारिका ७५ की अष्टसहस्री टीका के इस वचन पर दृष्टिपात कर लेना चाहिये —

न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्ष कर्मस्वरूप वा कर्त्रपेक्षम् उभयासत्वप्रसंगात् ।

कर्ता का स्वरूप कर्म सापेक्ष नही है। उसी प्रकार कर्म का स्वरूप कर्तृ सापेक्ष नही है, क्योकि ऐसा मानने पर दोनो के असत्व का प्रसग आता है ।

यह वस्तु स्थिति है। इसे ध्यान मे रखकर ऋजुसूत्र नय से हम यह भी कह सकते हैं कि कार्य का स्वरूप उपादान कारण सापेक्ष नही है। इसी प्रकार उपादान कारण का स्वरूप कार्यसापेक्ष नही है, क्योकि ऐसा मानने पर दोनो के अभाव होने का प्रसग आता है। पर इसका यह अर्थ नही है कि इन दोनो का व्यवहार परस्पर सापेक्ष नही होता, क्योकि इन दोनो की सिद्धि एक दूसरे के आधार से होती है ।

अब रही वाह्य निमित्त की वात, सो कोई भी वस्तु अन्य द्रव्य के किसी भी कार्य का स्वरूप से कारण नही हुआ करता। मात्र कालप्रत्यासत्ति वश कारण न होने पर भी प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसमे कारणपने का व्यवहार कर लिया जाता है ।

खा त च पृ. ४६ प्रवचनसार के परिशिष्ट मे कहे गये ४७ नयो के आधार पर जो हमने वक्तव्य दिया था उसे स पृ ८४ मे समीक्षक यद्यपि स्वीकार तो कर लेता है, परन्तु उन ४७ नयो मे कालनय, अकालनय और नियतिनय, अनियतिनय के आधार पर जो व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह इस स्वीकृति के विरुद्ध होने से स्वीकार करने योग्य नही मानी जा सकती, क्योकि जहाँ उन नय वचनो से यह फलित होता है कि कालनय का जो विषय है, वही विवक्षा भेद से अकाल नय का विषय है, किन्तु समीक्षक इसे स्वीकार न कर अपनी कल्पित मान्यता को ही दोहराता जाता है, जिसकी आगम से त्रिकाल मे पुष्टि नहीं होती। लोक मे ऐसा कोई भी कार्य नही है जो अपने नियत कालको छोडकर वाह्य निमित्त के बल से आगे-पीछे किया जा सकता है। समीक्षक अपने मत के समर्थन मे जो षड्गुणि हानि-वृद्धिरूप पर्यायो का नियत क्रम से होना स्वीकार करके स्व-पर प्रत्यय पर्यायो को वाह्य निमित्त के वल से जो नियत-क्रम से और अनियत क्रम से स्वीकार करता है, सो इस सम्बन्ध मे हमारा इतना ही सकेत करना पर्याप्त है कि जिसरूप मे समीक्षक ने दोनो प्रकार की पर्यायो को स्वीकार किया है, वह आगम का अभिप्राय नहीं है। इसकी चर्चा हम पहले विस्तार से कर आये हैं,इसलिये यहाँ उनकी विशेष रूप से चर्चा नही करना है। (स पृ ८४–८५)

इसके बाद का शेष कथन पुनरुक्त होने से उसका विचार करना हमे इष्ट प्रतीत नही होता। उसकी चर्चा करें भी तो हम भी पुनरुक्त दोष के भागी होंगे।

कथन ३० का समाधान — स पृ ६१ मे समीक्षक सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहार नय इन दोनो नयो के उपचरित और अनुपचरित भेदो को स्वीकार करके लिखता है कि वे "अपने-अपने ढग से वास्तविक हैं, जिनका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इनमे से कोई भी भेद आकाश -कुसुम के समान कल्पनारोपित नही है। पूर्व मे उद्धत आ विद्यानन्दि के तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ १५१ के कथन मे उक्त सभी प्रकार के व्यवहार नयो को पारमार्थिक कहकर उनकी कल्पनारोपितता का निषेध किया गया है।"

यह समीक्षक का वक्तव्य है। अव यहाँ यह देखना है कि जो कार्य के बाह्य निमित्त हैं, उन्हे हम किस रूप मे निमित्त मानते हैं और किस रूप मे उन्हे कल्पनारोपित मानते हैं। निमित्त मानने का कारण एक कालप्रत्यासत्ति ही है। ऐसा नियम है कि जिस समय एक द्रव्य विवक्षित कार्य करता है तो उस समय उसके नियत वाह्य निमित्त एक या अनेक अवश्य होते हैं। इसी वात को स्पष्ट करते हुए उसी तत्वार्थवार्तिक मे कहा है —

यतो मृद स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुखे सति दण्ड-चक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्र भवति।

मिट्टी के स्वय भीतर से घट होने रूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष सम्वन्धी प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं।

इस प्रमाण से उन तथ्यो पर स्पष्ट प्रकाश पडता है —

(१) मिट्टी पर की अपेक्षा लिए विना स्वय ही घटरूप परिणमन के सन्मुख होती है।

(२) तभी दण्ड चक्र और कुम्भकार का व्यापार उसमे निमित्त व्यवहार को प्राप्त होता है।

(३) इससे इन दोनो काल प्रत्यासत्ति का समर्थन हाकर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय कार्य है, उस समय की अन्य वाह्य पदार्थ मे अविनाभाव सम्बन्ध वश निमित्त-व्यवहार है ।

इसप्रकार उक्त प्रमाण से दो द्रव्यो मे कार्यकरण भाव की व्यवस्था कैसे बनती है – यह स्पष्ट हो जाता है । तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ १५१ मे भी इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है और इसी आधार पर उसे दो मे स्थित कार्यकारण भाव को परमार्थ भूत कहकर कल्पनारोपितपने का निषेध किया गया है ।

अब हम वाह्य निमित्त को कल्पनारोपित किस आधार पर मानते हैं, इसे सप्रमाण स्पष्ट किया जाता है । आलाप पद्धति मे नो प्रकार के उपचार का कथन करते हुए लिखा है कि —

द्रव्ये द्रव्योपचार., पर्याये पर्यायोपचारः, गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचार॰, गुणे पर्यायोपचार॰, पर्याये द्रव्योपचारः, पर्याये गुणोपचारः, इति नवविधोऽसद्भूतं व्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्य. ।

एक द्रव्य मे अन्य द्रव्य का आरोप करना यह द्रव्य मे दव्योपचार है, द्रव्य मे गुण का आरोप करना यह द्रव्य मे गुणोपचार है, द्रव्य मे पर्याय का आरोप करना यह द्रव्य मे पर्यायोपचार है, गुण मे द्रव्य का आरोप करना यह गुण मे द्रव्योपचार है, गुण मे अन्य गुण का आरोप करना यह गुण मे गुणोपचार है, पर्याय मे द्रव्य का आरोप करना यह पर्याय मे द्रव्योपचार है, पर्याय मे गुण का आरोप करना यह पर्याय मे गुणोपचार है, पर्याय मे अन्य पर्याय का आरोप करना यह पर्याय मे पर्यायोपचार है । इस प्रकार असद्भूत व्यवहारनय का यह नो प्रकार का विषय है ।

अब यहाँ पर कार्यकारण भाव को ध्यान मे रखकर एक उदाहरण दे रहे हैं — अव्यवहित पूर्व-पर्याययुक्त मिट्टी घट का उपादान (सद्भूत) निमित्त है, किन्तु इसके स्थान मे जब यह कहा जाता है कि अमुक कुम्भकार को निमित्त कर मिट्टी घट बनी, तब यहाँ पर कुम्भकार मिट्टी का वास्तविक निमित्त तो नही है, फिर भी कालप्रत्यासत्तिवश उसमे (कुम्भकार मे) उपादान (वास्तविक) निमित्त के स्थान पर घट की निमित्तता स्वीकार कर ली है । इस प्रकार कुम्भकार मे निमित्तता आरोपित धर्म है । अतः उसमे निमित्तता असद्भूत होने पर भी कालप्रत्यासत्तिवश उसे निमित्तरूप मे स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार कल्पनारोपित का यहाँ पर यही अर्थ लिया गया है । समीक्षक यद्यपि आकाश-कुसुम के समान कल्पनारोपित नहीं है यह अवश्य कहता है पर उससे यह पता नही चलता कि प्रकृति मे उससे क्या अभिप्रेत है ? यदि वह आकाश-कुसुम के समान कल्पनारोपित का अर्थ सर्वथा अभाव लेता है, तो ऐसा तो हमारा कहना है नही । हमारा कहना यह तो है कि कुम्भकार मिट्टी के कार्य मे वास्तविक कारण नही है, आरोपित कारण है इसलिये वह मात्र विकल्प का विषय है, क्योकि कालप्रत्यासत्तिवश कुम्भकार घटकार्य का वास्तविक कारण तो नही है, क्योकि वह घटरूप तो परिणमता नही है और उसने मिट्टी के घटरूप कार्य के होने मे सहायता भी नही की है, क्योकि मिट्टी स्वयं ही उसकी अपेक्षा किये बिना घटरूप परिणमती है, इसलिये कुम्भकार के घट कार्य की निमित्तता विकल्प से ही है, परमार्थ से नही । यही जिनागम का सार है और यही हमारा कहना है ।

समीक्षक दोनो व्यवहारनयो के उपचरित और अनुपचरित के रूप मे दो-दो भेद करके भी उन्हें जो अपने-अपने ढग से वास्तविक मानना चाहता है, सो हम यहाँ यह नही समझ पाये कि उसके कथनानुसार वह अपना-अपना ढग क्या है, जिससे उपचरित कथन को भी वास्तविक माना जावे। यदि समीक्षक कृपा करके उस "अपने-अपने ढग को" स्पष्ट कर देता तो इससे तत्त्व निर्णय मे सहायता मिलती। यह तो उसके मत मे ऐसा कहना हुआ कि वास्तव में यह बात तो झूठ है, पर अपने ढग से वास्तविक है। तत्त्व निर्णय का यह तरीका तो नही है। अपने मत की रक्षा करना और बात है और तत्त्व निर्णय करना और बात है। (स० पृ० ६१)

आगे समीक्षक लिखता है कि "व्यवहारनय चाहे सद्भूत हो, असद्भूत हो, अनुपचरित हो या उपचरित हो — सभी रूपो मे अपने-अपने ढग से वास्तविक ही है अर्थात् कोई भी नय आकाश-कुसुम की तरह कल्पनारोपित नहीं हैं। यहाँ परमार्थ, वास्तविक या सद्भूत तीनो शब्दो से यही आशय ग्रहण करना है कि उक्त चारो प्रकार के व्यवहारनयो मे से कोई भी नय कल्पनारोपित नहीं है।" यह समीक्षक का कहना है तथा वह इसकी पुष्टि में तीन प्रमाण देता है —

(१) *जिस नय का जो विषय है, वह अन्य नय का विषय नहीं हो सकता। जैसे निश्चयनय* नित्य को विषय करता है और व्यवहारनय अनित्य को विषय करता है। यदि निश्चयनय की अपेक्षा से भी द्रव्य को अनित्य कहा जायेगा तो व्यवहारनय तथा निश्चयनय मे कोई अन्तर नहीं रहेगा।"

(२) *"यदि व्यवहारनय के विषय को प्रामाणिक नही माना जायेगा तो व्यवहानय मिथ्या* हो जायगा।"

(३) 'एक द्रव्य के खण्ड या दो द्रव्यो का सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है। अत दो द्रव्यों का सम्बन्ध होने के कारण निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से नहीं।" (स० पृ० ६२)

अब यहाँ यह देखना है कि समीक्षक ने जो अपने कथन के सम्बन्ध मे तीन प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे कहाँ तक ठीक हैं ?

(१) पहली बात तो यह है कि प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिकनय से नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, यह वस्तुस्थित है। इनमे से द्रव्य जैसे सत्स्वरूप है, वैसे पर्याय भी सत्स्वरूप है, कोई कल्पनारोपित नही है। फिर भी अध्यात्म मे जो अनित्यता को व्यवहारनय का विषय कहा गया है, सो उसका प्रयोजन दूसरा है। पर इस पर से जितने भी व्यवहारनय हैं, उन सबके विषयों को परमार्थभूत मान लिया जाय तो ऐसा भी नहीं है। जो सद्भूत व्यवहारनय है, उसका विषय द्रव्य का एक अश होने से है तो सद्भूत ही, पर उसमे पूरे द्रव्य का आरोप कर लेना यही व्यवहार है और इसीलिए अध्यात्म मे द्रव्य का एक अश सद्भूतव्यवहारनय का विषय माना गया है। परन्तु यह स्थिति असद्भूत व्यवहारनय की नही है। उसका विषय परमार्थभूत न होकर भी इष्टार्थ की सिद्धि मे साधक होने से प्रयोजनवश उसे सम्यक्नय मान लिया गया है, निष्प्रयोजन नहीं। इसलिये समीक्षक ने जो असद्भूत व्यवहारनय को सम्यक्नय ठहराकर उसके विषय को भी परमार्थ भूत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, सो उसे, उसका दु साहस ही कहना चाहिए। असत् को असत् कहने

वाला ज्ञान ही अप्रमाण नही हुआ करना । अतएव उसका यह तर्क नि.सार ही प्रतीत होता है कि यदि नय सम्यक् है तो उसका विषय भी परमार्थभूत ही होना चाहिये - यह कोई तर्क नही है। असद्-भूत व्यवहारनय का विषय काल्पनिक होनेपर भी, उसे प्रयोजनवश ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण हो सकता है ।

(२) क्रमाक १ मे हम जो उत्तर दे आये हैं, वही यहाँ पर भी लागू होता है ।

(३) समीक्षक ने 'एक द्रव्य के खण्ड या दो द्रव्यो का सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है" यह लिखा है। सो यहाँ उसे यह सशोधन कर लेना चाहिये कि एक द्रव्य के अश को पूरा द्रव्य कहना – यह सद्भूत व्यवहारनय का विषय है और कालप्रत्यासत्तिवश एक द्रव्य या उसकी पर्याय को अन्य द्रव्य के कार्य का निमित्त कहना, यह असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। यहाँ अन्य द्रव्य या उसकी अन्य पर्याय मे, अन्य द्रव्य के कार्य की वास्तविक कारणता नही है, फिर भी काल-प्रत्यासत्तिवश उन दोनो मे निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार कर लिया जाता है, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय का विषय माना गया है ।

स० पृ० ९३ मे समीक्षक ने जो यह लिखा है "विवाद इस बात का है कि जहाँ उत्तरपक्ष ने किसी एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य की कार्य की अपेक्षा निमित्त व्यवहार करने के लिए कोई आधार मान्य नही किया है, वहाँ पूर्व पक्ष का (समीक्षक का) कहना है कि जहाँ किसी एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के कार्य की अपेक्षा निमित्त व्यवहार होता है, वहाँ वह निमित्त व्यवहार इस आधार पर होता है कि वह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य की उत्पत्ती मे सहायक होने से कार्यकारी होता है, सो समीक्षक का यह कहना प्रकृत मे इसलिये उपयोगी नही है, क्योकि एक द्रव्य के कार्य मे दूसरा द्रव्य वास्तव मे सहायक तो नही होता है। उसे जो दूसरे द्रव्य के कार्य मे निमित्त माना गया है, सो वह काल-प्रत्यासत्तिवश ही माना गया है, वास्तविक कारक होने की अपेक्षा से नही। निमित्त मानने का यही आधार है ।

आगे समीक्षक ने जितना कुछ लिखा है वह दुहराना मात्र होने से हमने उस पर अलग-अलग विचार नही किया । आगे समीक्षक (स० पृ० ९४) यह तो स्वीकार कर लेता है कि "कुम्भकार घटोत्पत्ति मे स्वरूप से कारण या कर्ता नही है, व घटस्वरूप से कुम्भकार का कार्य नही है।" तथापि उसका कहना यह अवश्य है कि कुम्भकार मे घटोत्पत्ति के प्रति सहायक होने रूप से योग्यता का सद्भाव है और घट मे कुम्भकार के सहायकत्व मे उत्पन्न होने की योग्यता का सद्भाव है, अन्यथा घटोत्पत्ति मे कु भकार को निमित्त और घट को नैमित्तिक कहना असभव हो जावेगा। "सो समीक्षक का यह कहना भी तथ्य की कसौटी पर कसने पर यथार्थ प्रतीत नही होता, क्योकि न तो परमार्थ से एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु मे ही रहता है और न ही इस आधार पर कु भकार को घटोत्पत्ति मे निमित्त कहा ही गया है। कु भकार को घटोत्पत्ति का जो निमित्त कहा गया है वह कालप्रत्यासत्तिवश उपचार से ही कहा गया है, अन्य कोई कारण नही। आगे समीक्षक ने इसी बात को दोहराकर जो अपने मत का समर्थन करने का उपक्रम किया है वह सब पुनरुक्त होने से अविचारितरम्य ही प्रतीत होता है ।

कथन ३१ का समाधानः – समीक्षक का कहना है कि "हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्य की निष्पत्ति उपादान मे ही हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, फिर भी उपादान की उक्त कार्यरूप परिणति मे निमित्त की अपेक्षा बराबर बनी रहती है, अर्थात् उपादान की जो परिणति आगम मे स्व-पर प्रत्यय स्वीकार की गई है, वह परिणति उपादान की अपनी होकर भी निमित्त की सहायता से ही होती है। अपने आप (निमित्त की सहायता की अपेक्षा किये बिना) नही होती। चूंकि आत्मा के रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमण को आगम मे उसका (आत्मा का) स्व-पर प्रत्यय परिणमन प्रतिपादित किया गया है, अत वह परिणमन आत्मा का अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मों की सहायता से ही हुआ करता है। (स० पृ० २५)

यद्यपि समीक्षक के इस वक्तव्य का सयुक्तिक-उत्तर प्रथम शका के तीसरे दौर मे ही दे आये हैं। यह हम वहां ही बतला आये हैं कि जैसे द्रव्यसत् और गुणसत् वस्तु के स्वरूप हैं, वैसे ही पर्याय-सत् भी वस्तु का स्वरूप ही है। और पर्याय दूसरे की सहायता से उत्पन्न हो, फिर भी वह वस्तुमय हो, यह नही हो सकता। यद्यपि पर्याय के होने मे किससे हुई – यह व्यवहार अवश्य किया जाता है, पर इसे (बाह्य निमित्त को) आगम मे असद्भूत (उपचरित) ही माना गया है। वह होती तो अपने काल मे स्वय ही है, क्योकि उसके होने मे (उत्पत्ति मे) अन्य की अपेक्षा नही होती। स्वय ही द्रव्य अपने परिणाम स्वभाव के कारण पर्याय रूप परिणम जाता है इसलिये परमार्थ से वह पर-निरपेक्ष ही होती है। जैसा कि समयसार के कलश से ज्ञात होता है—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति।
कतरदपि परेषा दूषण नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो।
भवतु विदितमस्त यात्वबोधोऽस्मि बोध ।।२२०।।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के कार्य मे परमार्थ से सहायक नही होता। मात्र असद्भूत व्यवहारनय से उसमे सहायकपने का व्यवहार किया जाता है। सो भी ऐसा मानने का मूल कारण कालप्रत्यासत्ति को ही जानना चाहिये। दूसरी बात यह है कि अपेक्षा विकल्प मे हुआ करती है, वस्तु मे नही।

समीक्षक ने अपने कथन मे जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह द्रव्य को परिणाम स्वभाव के बल पर स्वरूप से कर्ता मानना ही नही चाहता। अन्यथा वह "यद्यपि कार्य की निष्पत्ति उपादान मे ही हुआ करती है" इसकी जगह "यद्यपि उपादान कार्यरूप परिणमता है", इस भाषा का प्रयोग अवश्य करता, परन्तु वह पद-पद पर इस भाषा का प्रयोग नही करना चाहता। इससे मालूम पडता है कि उसके हृदय मे कोई गांठ पडी हुई है, जिस कारण वह बुद्धिपूर्वक उक्त भाषा का प्रयोग नही करता। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह असद्भूत व्यवहार को परमार्थपना देना चाहता है, तभी तो वह बार-बार असद्भूत व्यवहारनय के कथन का परमार्थ

के कथन के रूप मे समथन करते हुए नही अघाता और आश्चर्य इसका है कि इसमे वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को परमार्थ प्रत्यक्ष मानकर उसको सगत ठहराना चाहता है।

आगे स० पृ० ९६ मे समीक्षक ने "स्वत सिद्ध" का अर्थ अनादि अनत किया है और इस आधार पर उसने द्रव्यसत् और गुणसत् को स्वत सिद्ध स्वीकार कर लिया है, इसका हमे प्रसन्नता है, किन्तु इसी अर्थ मे हमने पर्याय को स्वत सिद्ध नही लिखा है, क्योकि इसकी सिद्धि स्व और पर दोनो प्रकार से स्वीकार की गई है। हमने तो केवल "उपादान स्व है और अभेद विवक्षा मे जो उपादान है वही उपादेय है। इसलिये वह अपने से, अपने मे अपने द्वारा आप कर्ता होकर कर्मरूप से उत्पन्न हुआ इतना ही लिखा है, किन्तु समीक्षक ने इसे स्वीकार करके भी हमने पर्याय को भी स्वत सिद्ध माना है, ऐसा हम पर आरोप कर रहा है, जबकि हमने अपने कथन मे पर्याय को स्वत सिद्ध अर्थात अनादि अनन्त लिखा ही नही है। हमारा तो यह कहना है कि प्रत्येक द्रव्य अपने कार्य को अपने स्वभाव परिणाम के कारण स्वय अर्थात् पर की अपेक्षा किये विना अपने आप उत्पन्न करता है। उसका अर्थ स्वत सिद्ध अर्थात अनादि-अनन्त नही होता। इसे समीक्षक को भली भाति समझ लेना चाहिये।

इतना अवश्य है कि योग्यता की दृष्टि से प्रत्येक कार्य को ऋजुसूत्रनय से स्वत सिद्ध माना भी जाय तो उसमें भी कोई आपत्ति नही है, क्योकि प्रत्येक कार्य की योग्यता द्रव्यदृष्टि से अनादि अनन्त होती है तथा पर्यायदृष्टि से सादि-सान्त होती है और इसीलिये आगम मे उसे स्वत सिद्ध भी स्वीकार किया गया है। उपादान से कार्य हुआ यह सद्भूत व्यवहार ही है।

समीक्षक ने (स० पृ० ९७ मे) व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को अयथार्थ कारण तो मान लिया है तथा इस बात को वह पहले भी (स० पृ० ४ मे) स्वीकार कर आया है। फिर भी वह उसे अयथार्थ कारण मानते हुए भी अन्य द्रव्य के कार्य मे उसकी सहायता को भूतार्थ भी मानता जाता है। इस प्रकार उसके कथन मे यह जो विसगति है उसका परिहार ब्रह्मा भी नही कर सकता है, हमारी क्या बिसात है? समाधान के मार्ग पर उसे स्वय चलना होगा, उसमे हम व्यवहार से निमित्त हो सकते हैं।

आगे (स० पृ० ९७ से) समीक्षक ने व्यवहारनय की असद्भूतता के विषय मे दोनो पक्षो के दृष्टिकोण मे जो भेद की बात लिखी है सो व्यवहारनय यह सामान्यवचन है, उसका एक भेद असद्भूत व्यवहारनय भी है, वह स्वय ही उसे यही स्वीकार कर रहा है।

क्रमाक (ग) के अन्तर्गत समीक्षक ने जो उपादान कारणभूत वस्तु को शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय का विषय लिखा है, सो आगम ऐसा नही है, क्योकि केवल ऐसा मानना एकान्त हो जायगा। वस्तुत समर्थ उपादान न केवल द्रव्यरूप होता है और न केवल पर्यायरूप होता है, किन्तु उभयरूप ही होता है। दूसरे-शुद्ध निश्चयनय का विषय तो अनुपचरित और अभेदरूप होता है, उसे उपादान कहना युक्त नही है।

क्रमाक (छ) विभाग के अन्तर्गत समीक्षक ने असद्भूत व्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित भेदो का जो खुलासा किया है, वह ठीक नही है, क्योकि आगम के अनुसार एकक्षेत्रावगाह मे स्थित जो कर्म और नोकर्म हैं, वे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से जीव की सयोगी अवस्था होने

मे निमित्त माने गये हैं। तथा भिन्न क्षेत्र मे स्थित जो अन्य द्रव्य हैं और उनकी पर्यायें हैं, वे जीव की सयोगी पर्याय मे उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त माने गये हैं। इतनी विशेपता है कि बाह्य पदार्थों मे इष्टानिष्ट बुद्धि होने पर ही उनमे निमित्तता स्वीकार की गई है। अन्यथा उनमे उपचरित निमित्तता भी नही बनती। यह इष्टानिष्ट बुद्धि सर्वत्र अनुभव मे आती है, नही आवे तो भी वह रहती अवश्य है।

आगे (स० पृ० ६६ मे) समीक्षक ने "कुम्भकार घट का कर्ता है" इस वचन को लेकर जो यह लिखा है कि "पूर्वपक्ष (समीक्षक) की मान्यता के अनुसार वह (असद्भूत व्यवहारनय का विपय) अपने ढग से परमार्थ, वास्तविक और सत्य सिद्ध होता है," तो हम यह नही समझ पाये कि उसके मतानुसार यह "ढग" क्या है, जिसके आधार पर वह असद्भूत व्यवहारनय के विषय को भी परमार्थ वास्तविक और सत्य सिद्ध करता है। लौकिक दृष्टि से कहे तो बात दूसरी है, क्योकि लौकिक दृष्टि से जो जिसका नही होता, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश वह उसका कहा जाता है।

आगे हमने जो लिखा कि "कुभकार यद्यपि घट का कर्ता नही होता, तथापि उसको घट का कर्ता कहने से इष्टार्थ अर्थात् निश्चयार्थ का ज्ञान हो जाता है, तो इतने मात्र कथन से कुभकार घट की उत्पत्ति मे परमार्थ से सहायक सिद्ध नही हो जाता, क्योकि यदि किसी एक वस्तु से दूसरी वस्तु की सूचना मिलती है, तो वह सूचना मात्र देने मे कारण हुई। इतने मात्र से उसे अन्य के कार्य की क्रिया करने मे परमार्थ मे सहायक कैसे माना जाय? मिट्टी ने जो घट की उत्पत्तिरूप क्रिया की, वह तो कुभकार की सहायता के बिना अकेले ही की है। आगम मे इस विषय को स्पष्ट करते हुए सर्वत्र जो "स्वय" पद आया है, वह इसी अर्थ मे आया है। समीक्षक हमारे इस कथन को आकाश-कुसुम के समान लिखे या और जो उसके मन मे आवे तो लिखता रहे, तब भी वस्तुस्थिति मे कोई फरक नही पडता।

कथन ३२ का समाधान —समीक्षक ने तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ १५१ के "यदनन्तर[1]" इत्यादि —वचन के हमारे द्वारा किये गये अर्थ को असगत बतलाते हुए लिखा है कि "सहकारी कारण के सद्भाव मे भी बाधक कारण के उपस्थित हो जाने पर अथवा विवक्षित वस्तु मे कार्य की उपादान शक्ति का अभाव रहने पर कार्य की उत्पत्ति नही होती है।" तथा इसके समर्थन मे एक उदाहरण उसने १३वें गुणस्थान के प्रथम समय का देकर लिखा है कि '१३वें गुणस्थान के प्रथम समय मे मोक्षमार्ग की पूर्णता हो जाने पर भी बाधक कारणभूत योग और अघातिया कर्मों का सद्भाव रहने के कारण तथा कुभकार के घटानुकूल व्यापाररूप सहायक कारण के सद्भाव में भी उपादान शक्ति रहित बालू मिश्रित मिट्टी से घटोत्पत्ति नही होती है, अत उक्त वचन का अर्थ यह करना चाहिए कि जिसके अनन्तर ही जो नियम से होता है, वह उसका सहकारी कारण है, और दूसरा कार्य है।"

तो समीक्षक का यह कथन युक्तियुक्त नही है, क्योकि तत्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त वचन मे "जिसके अनन्तर जो नियम से होता है – यह कहा है, जबकि १३वें गुणस्थान के प्रथम समय मे मोक्षमार्ग की पूर्णता नही होती, इसलिए उसकी पूर्णता न होने के कारण ही वहा बारहवें गुणस्थान

1 यदनन्तर हि यदवश्य भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति।

के अनन्तर समय मे मोक्ष की प्राप्ति नही होती। वाह्याभ्यन्तर कारणो की समग्रता हो और कार्य न हो, ऐसा नही होता। समीक्षक ने अपनी वुद्धि से यह मान लिया है कि १३वें गुणस्थान के प्रथम समय मे मोक्षमार्ग की पूर्णता है, जव कि १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय मे मोक्षमार्ग की पूर्णता होती है। जैसा कि तत्वार्थश्लोकवार्तिक (मूल) पृ ७१ मे भी कहा है-

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तर मोक्षोत्पादस्देव मुख्य मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिरत्नत्रयमिति।

निश्चयनय का आश्रय करने पर तो जिसके अनन्तर मोक्षकार्य की उत्पत्ति होती है वही अयोग केवली के अन्तिम समय मे रहने वाला रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है।

समीक्षक १३ वें गुणस्थान के प्रथम समय मे रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी मोक्ष की उत्पत्ति न होने का कारण जो प्रतिवधक का सद्भाव मानता है, सो उसका ऐसा मानना युक्तियुक्त नही है, क्योकि १३ वें गुणस्थान के प्रथम समय के वाद भी अघातिकर्मों का ध्वस करने रूप से पूर्ण सम्यक्चारित्र का उदय होता है और तभी रत्नत्रय की पूर्णता वनती है और तभी वह मोक्ष कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है, उसके पहिले नही। आगम मे यथाख्यात चारित्र को जो पूर्ण कहा गया है, सो वह क्षायिकपने की अपेक्षा ही पूर्ण कहा गया है। वस्तुत उसकी पूर्णता १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय मे ही होती है, इसके पहले नही। इसलिए "१३ वें गुणस्थान के प्रथम समय मे वाधक कारण के होने से मोक्षमार्ग की पूर्णता होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नही होती है" यह जो समीक्षक ने विधान किया है, सो उसका ऐसा लिखना आगम से समर्थित नही होने के कारण मनीषियो के द्वारा ग्राह्य नही माना जा सकता। (त श्लो वा पृ ७० मूल)

समीक्षक ने धूल मिश्रित मिट्टी को ख्याल मे रखकर अपने पक्ष के समर्थन मे जो दूसरा उदाहरण दिया है, वह इसलिये युक्तियुक्त नही है, क्योकि वहा पर जव उपादान का ही अभाव है, तो ऐसी अवस्था मे यह लिखना कि "यहा प्रतिवधक कारण का सद्भाव होने से कार्य नही हुआ, युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। समीक्षक का कहना तो यह है कि "वाह्य-आभ्यन्तर सामग्री के रहने पर भी यदि प्रतिवधक कारण का सद्भाव हो तो कार्य नही होता, परन्तु जो उदाहरण उसने उपस्थित किया है, उसमे वह वाह्याभ्यतर सामग्री की समग्रता दिखलाने मे असमर्थ रहा। अत यह उदाहरणाभास है, इसे अपने मत के समर्थन मे उदाहरण मानना किसी भी प्रकार योग्य प्रतीत नही होता।

आगे समीक्षक ने अष्टसहस्री पृष्ठ १०५ का वचन[1] उपस्थित कर जो वाह्य वस्तु मे कार्यकारिता के समर्थन करने का उपक्रम किया है, वह उचित प्रतीत नही होता क्योकि आ विद्यानन्द ने यह उपालम्भ ऐसे सम्प्रदाय को दिया है, जो शब्द को सर्वथा नित्य मानकर भी तालु आदि के

---

1 तद्सामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्कर किं सहकारिकारण स्यात् ?

निमित्त से शब्द की श्रुति तो स्वीकार करता है, फिर भी शब्द मे विकृति नही मानता। हमे दुःख है कि वह ऐसे वचनो को भी उपस्थित कर अपने मत का समर्थन करना चाहता है।

खा त चर्चा पृ ३८५ मे जो हमने प्रमेयकमलमार्तण्ड के वचन को उद्धृत करके निमित्त कारणता का समर्थन किया है सो वह असद्भूत व्यवहारनय का वचन है। और असद्भूत व्यवहारनय से किसी निमित्त कारण को कार्यकारी कहने का अर्थ होता है कि वह वास्तव मे कार्यकारी तो नही होता, मात्र असद्भूत व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है। (स पृ १०५)

कथन ३४ के सम्बन्ध मे खुलासा —खा त च पृ ५३ मे समयसार गाथा १०५ की आत्मख्याति टीका मे आये हुए "स तूपचार एव, न तु परमार्थ" ।। वाक्य का जो हमने अर्थ किया वही ठीक है। प प्र जयचन्दजी छावडा ने भी इस वाक्य का यही अर्थ किया है। क्षुल्लक सहजानन्द (मनोहरजी वर्णी) महाराज ने भी यही अर्थ किया है। श्री प पन्नालालजी साहित्याचार्य ने भी लगभग यही अर्थ किया है। प. पन्नालाल के शब्दो मे फर्क है, किन्तु आशय मे अन्तर नही है, क्योंकि जहा पूर्वोक्त विद्वानो ने विकल्प को उपचार कहा है, वही प पन्नालालजी ने उक्त प्रकार से कहने को उपचार कहा है। अत समीक्षक ने "आत्मा द्वारा पुद्गल का कर्मरूप किया जाना यह उपचार ही है" जो यह लिखा है वह उक्त वाक्य का अर्थ नही है, क्योकि उक्त वाक्य के पहिले "परेषामस्ति विकल्प" यह वचन आया है। अतएव उक्त वाक्य मे आये हुए "स" पद से "विकल्प" इस पद का ही अनुवर्तन होता है। इसीलिये इस पर से समीक्षक को जो अर्थ फलित करना चाहिये था, वह फलित नही होता, ऐसा यहा समझना चाहिये। (स पृ १०६-१०७)

आगे स पृ १०७ मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि—"उपचरित की स्थिति भिन्न-भिन्न स्थलो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्मित होती है" ऐसा लिखकर इसकी सिद्धि मे उसने तीन हेतु दिये हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) उसका कहना है कि "निमित्तकारण को कार्य के प्रति जो उपचरित कारण कहा जाता है उसमे हेतु यह है कि निमित्त कारण उपादान कारण की तरह कार्यरूप परिणत न होकर कार्योत्पत्ति मे सहायक मात्र हुआ करता है।"

(२) "निमित्त कारण को कार्य के प्रति जो उपचरित कहा जाता है, वह आलाप पद्धति के उपचार लक्षण के अनुसार उसमे मुख्य कर्तृत्व का अभाव और वास्तविक रूप मे सहायक होने रूप से निमित्त कारणता का सद्भाव होने से कहा जाता है।"

(३) "पृथ्वी, अग्नि, जल व वायु, इन चारो वस्तुओ को उपचरित वस्तु कहा जाता है, इसका कारण यह है कि ये चारो वस्तुएँ नाना अणुओ के पिण्डरूप होने से सखण्ड हुआ करती हैं तथा सखण्ड होकर भी स्कधरूप से अखण्ड होती है।"

अब आगे इन सब का क्रम से विचार करते हैं।

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि कार्य के प्रति बाह्य वस्तु मे निमित्तता कालप्रत्यासत्तिवश ही स्वीकार की गई है और इसी आधार पर उसमें (बाह्य वस्तु मे) सहायकपने का

असद्भूत व्यवहार किया जाता है। कार्यरूप परिणति मे उसका सहायक होना वास्तविक नही है। यह कहना मात्र असद्भूत व्यवहार ही है कि इसके निमित्त से यह हुआ। अत समीक्षक का कार्यरूप परिणति मे निमित्त को वास्तविक सहायक मानना मिथ्या ही है, यथार्थ नही है। प्रयोजन के अनुसार निमित्त कहना और बात है और उसे वास्तविक कहना और बात है।

(२) समीक्षक ने उपचरित कर्ता का जो यह अर्थ किया है कि "जहा मुख्य कर्तृत्व का अभाव हो और वास्तविक रूप मे सहायक होने रूप से निमित्त कारण का सद्भाव हो, वहां उपचार से कर्तृत्व का प्रयोग किया जाता है।" सो उसका ऐसा लिखना उचित नही है, क्योकि कार्य हो और उसका मुख्य कर्ता न हो और मात्र निमित्त से कार्य हो जाय, ऐसा न कभी हुआ और न होगा ही। आगम के अनुसार जिन कार्यों मे बुद्धिपूर्वक निमित्तता स्वीकार की जाती है, उन्ही कार्यों मे निमित्तमात्र मे निमित्त कर्तापने का व्यवहार किया जाता है। उदाहरणार्थ समयसार गाथा १०० की आत्मख्याति टीका मे घटकार्य के प्रति कुम्भकार को जो निमित्त कर्ता कहा गया है, वह इसी अभिप्राय से ही कहा गया है। वहा मिट्टी है और वर्तमान मे वही घटरूप परिणमी भी है, वहा मुख्य कर्ता का अभाव नही है। मात्र मुख्य कर्ता की अविवक्षा अवश्य है और इसीलिए कुम्भकार के योग और उपयोग मे उपचरित निमित्तपने से कर्ता का व्यवहार किया जाता है। आलाप पद्धति का जो "मुख्याभावे सति" इत्यादि वचन है, सो उसका भी आशय प्रकृत मे यही समझना चाहिये। बाह्य निमित्त कार्यरूप परिणति मे वास्तव मे सहायक होता है, ऐसा न आगम का अभिप्राय है और न ऐसा अभिप्राय फलित करना चाहिए।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जैसे घटोत्पत्ति के प्रति निमित्तकारणभूत कुभकार घट का मुख्य कर्ता तो नही है, क्योकि कुम्भकार घटरूप परिणत नही होता, फिर भी मिट्टी की घटरूप परिणति मे वह वास्तविक रूप मे सहायक होता है। अत उसे घट का उपचरित कर्ता कहा जाता है।" सो यदि आलाप पद्धति के उक्त वचन का यही अर्थ किया जाय तो भी वह आगमानुकूल नही है, क्योकि आगम के अनुसार कार्य के प्रति बाह्य वस्तु मे कालप्रत्यासत्तिवश ही निमित्त व्यवहार किया जाता है, वास्तविक सहायक रूप से नही। किन्तु समीक्षक कुम्भकार को कार्य के प्रति वास्तविक रूप से सहायक मानता है, जिसका अर्थ होता है कि कुम्भकार ही घट की उत्पत्ति का दूसरा उपादान कर्ता है, किन्तु समीक्षक का ऐसा कहना ही आगम की अवज्ञा है।

(३) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सयोगी कार्य द्रव्य है, मात्र इसीलिये उनको उपचरित कहा गया है। श्लेष सम्बन्ध से इनकी जो उत्पत्ति हुई है, वह "द्वयधिकादिगुणानातु" सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है। इसलिये इनमे कार्यकारण भाव का नियम बन जाता है। समीक्षक ने अन्य जितना कुछ भी लिखा है, वह सब प्रकृत मे उपयोगी नही है।

मिट्टी के घडे को घी का घडा कहना भी इसी नियम के अन्तर्गत अर्थात् कार्यकारण भाव के अन्तर्गत ही कहा जाता है। अन्न ही प्राण है यह कहना भी इसी नियम को ध्वनित करता है। कही निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण, कही आधार-आधेय भाव के कारण, और कहीं विशेषण-विशेष्य भाव आदि के कारण उपचार की प्रवृत्ति होती है ऐसा यहां समझना चाहिये।

इतना अवश्य है कि बालक को सिंह कहना यह 'मुख्याभावे' का इस अपेक्षा से उदाहरण हो सकता है कि वहा बालक के समीप सिंह का सद्भाव उपलब्ध नही है। फिर भी यदि कोई कहे कि सिंह के सर्वथा अभाव मे बालक को सिंह कहा गया है, सो बात नही है। सिंह भी है और बालक भी है। पर दोनो इन्द्रियगम्य क्षेत्र मे अवस्थित नही हैं। फिर भी बालक मे सिंह का उपचार किया गया है। इसी प्रकार अन्य जितने भी उदाहरण यहा समीक्षक ने दिये हैं उन सबको विविध दृष्टिकोणो से घटित कर लेना चाहिये।

यदि समीक्षक बाह्य निमित्त को कार्य के होने में वास्तविक सहायक कहना मानना-छोड दे और प्रत्येक वस्तु स्वय ही अपने परिणाम स्वभाव के कारण परिणमती है अर्थात् परिणमन करती है, यह हृदय से मानले तो इस सम्बन्ध का सारा ही विवाद समाप्त हो जावे। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि समीक्षक बाह्य निमित्त को वास्तविक सहायक मानकर प्रत्येक वस्तु को सर्वथा पराधीन ही बना देना चाहता है, जब कि प्रत्येक वस्तु के कार्य मे बाह्य निमित्त को असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह है कि बाह्य निमित्त न तो किसी अन्य वस्तु के कार्य का निर्माण ही करता है और न उसके निर्माण मे परमार्थ से सहायक ही होता है। प्रत्येक वस्तु को जो "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक" स्वीकार किया गया है, सो वह इसी आधार पर ही स्वीकार किया गया हैं, क्योंकि जैसे प्रत्येक वस्तु स्वरूप से ध्रौव्य है उसी प्रकार वह स्वरूप से उत्पाद और व्ययरूप भी है। इसको विशेष रूप से समझने के लिए आप्तमीमासा श्लोक १०५ और उसकी टीका अष्टशती और अष्टसहस्री का अध्ययन कर लेना जरूरी है। वहा स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से स्वय है। एक दूसरे की सिद्धि के लिये परस्पर की अपेक्षा अवश्य लगती है, परन्तु चाहे कर्ता हो या कर्म, ये स्वरूप से स्वय हुआ करते हैं। अपेक्षा का कथन व्यवहार अर्थात उपचार से किया जाता है और स्वरूप स्वय ही हुआ करता है, यह इसका तात्पर्य है।

कथन न ३५ का समाधान :—समीक्षक ने "जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमे या जिसका परिणमन होता है" यह अर्थ "य परिणमति" का जगह-जगह किया है। इस पर हमने सशोधन सुझाया था कि "य परिणमति" का वास्तविक अर्थ होता है, "जो परिणमता है या परिणमन करता है, किन्तु दु ख है कि समीक्षक अपने पक्ष के समर्थन मे ही लीपापोती करके उक्त वास्तविक अर्थ को स्वीकार नही कर रहा है। वह भले ही इसे सामान्य अशुद्धि कहे, और बात का बवण्डर बताये पर यह सामान्य अशुद्धि नही है। उसे तो अपना इष्ट प्रयोजन अर्थात् बाह्य निमित्त को वास्तविक सहायक बताना है, इसीलिये बुद्धिपूर्वक उसके द्वारा यह अर्थ किया गया जानना चाहिये। इस समीक्षा मे भी इस प्रवृत्ति को वह नहीं छोड रहा है, इसका हमे खेद है।

कथन ३६ का समाधान —हमने जो खा त च पृ ५४ मे बाह्य निमित्त को असद्भूत व्यवहारनय का विषय बतलाया है, सो उसका कारण यह है कि बाह्य निमित्त कार्यद्रव्य का अश ता नही ही होता, इसलिए तो वह कार्यद्रव्य मे असद्भूत है, परन्तु कालप्रत्यासत्तिवश उसे कार्यद्रव्य का निमित्त कहा जाता है, यह व्यवहार है अर्थात् उपचार है। इसप्रकार बाह्य वस्तु कार्यद्रव्य की

असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त कही जाती है। फिर भी समीक्षक यह तो मानता है कि कार्यद्रव्य मे वाह्य निमित्त का सद्भाव तो नही पाया जाता, इसलिए कार्यद्रव्य का वह अश तो नही माना जा सकता है, परन्तु वह व्यवहार का अर्थ सद्भूत व्यवहार करके उसे वास्तविक सहायक कहता है, उसका यही कहना मिथ्या है, क्योकि सद्भूत व्यवहार एक द्रव्य मे गुणगुणी आदि की अपेक्षा भेद व्यवहार करने पर ही होता है। दो द्रव्यो मे किसी अपेक्षा सद्भूत व्यवहार की कल्पना, यह समीक्षक के मस्तिष्क की ही उपज है।

कथन न ३७ का समाधान—समीक्षक ने खा. त च पृ १६ "जो परिणमित होता है अर्थात् जिसमे या जिसका परिणमन होता है, वह कर्त्ता है। कर्त्ता का यह लक्षण- उपादान उपादेय भाव को लक्ष्य मे रखकर ही माना गया है" इत्यादि लिखकर हमारे कथन का निरसन करते हुए समीक्षक ने जो निमित्त कारण के लक्षण के समर्थन मे उद्धरण उपस्थित किये हैं, वे वस्तुत निमित्त कारण के लक्षण की पुष्टि करने मे असमर्थ हैं, क्योकि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक का जो उद्धरण समीक्षक ने दिया है, वह वस्तुत उपादान के लक्षण का ही समर्थन करता है, क्योकि कारण-कार्य भाव मे क्रमभाव का नियम सर्वत्र उपादान-उपादेय भाव मे ही घटित होता है, निमित्त-नैमित्तिकभाव मे नही। निमित्त-नैमित्तिकभाव की अपेक्षा कार्यकाल मे ही कालप्रत्यासत्तिवश अन्य द्रव्य मे निमित्तता स्वीकार की गई है, दोनो मे समयभेद नही है। उदाहरणार्थ जिस समय क्रोध कषाय कर्म का उदय होता है, उसी समय जीव के क्रोध कपायरूप परिणाम होता है। इसीप्रकार जिस समय जीव के क्रोध कपायरूप परिणाम होता है, उसीसमय ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रवपूर्वक वन्ध होता है।

(१) यदि कहा जाय कि श्लोकवार्तिक पृ १५१ मे सहकारी-कारण का "यदनतर" इत्यादि लक्षण क्यो किया गया है? सो उसका समाधान यह है कि इससे पूर्व उपादान-उपादेय भाव की लक्षणपरक व्यवस्था की गई है। इसके वाद यह प्रश्न किया गया है कि सहकारी कारण के साथ कार्य की यह व्यवस्था कैसे वनेगी? क्योकि उनमे एक द्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव है। इसका समाधान करते हुए यह कहा गया है कि उन दोनो मे कालप्रत्यासत्ति पायी जाती है, इसलिए उनमे कार्यकारणभाव वन जावेगा। उसके वाद "यदनतर" इत्यादि वचन द्वारा सहकारी कारण का लक्षण दिया गया है। सो मुख्य दृष्टि से देखने पर यह लक्षण उपादान-उपादेयभाव मे ही घटित होता है,[1] क्योकि सहकारी कारण का अर्थ उपादान कारण भी होता है। गौणरूप से यहा इस लक्षण द्वारा निमित्त-नैमित्तिक भाव का परिग्रह कर लिया गया है।

(२) समीक्षक ने दूसरा उदाहरण अष्टसहस्री पृ १०५ का—"तदसामर्थ्यमखण्डयद्" इत्यादि रूप से दिया है। सो इस विषय मे हम यह अनेक वार लिख आये हैं कि भट्टाकलकदेव ने यह वचन ऐसे मीमासको के लिए कहा है जो शब्द को सर्वथा नित्य मानते हैं। उनके मत मे शब्द सर्वथा नित्य होने से (उनके मतानुसार) उसमे विकृति नहीं आती, फिर भी तालु आदि को निमित्त कर ध्वनि सुनाई देती है - यह एक ऐसी वात है जो तर्कसगत नहीं है। इसी वात को ध्यान मे

---

1 परीक्षामुख सूत्र अ. 3 सू. 14 (प्रमेयरत्नमाला)

रखकर श्री भट्टाकलकदेव ने मीमासको के ऊपर दोप का उद्भावन करते हुए यह वचन कहा है, किन्तु समीक्षक इसे अपने मत के समर्थन मे मानकर पद-पद पर इसे उद्धृत करता रहता है, इसका हमे खेद है। जैनदर्शन मे उपादान न सर्वथा नित्य वस्तु स्वीकार की गई है और न सर्वथा अनित्य ही, किन्तु नित्यानित्यात्मक वस्तु ही उपादान के योग्य मानी गई है। यदि मीमासक भी शब्द को कथचित् नित्यानित्यात्मक मानकर उपादान की कोटि मे रखता तो निश्चित था कि भट्टाकलकदेव को इस दोष के उद्भावन करने का प्रसग ही उपस्थित नही होता, फिर भी समीक्षक अपने मत के समर्थन मे इस वचन को वार वार उद्धृत करता रहता है, यह आश्चर्य की वात है।

(३) आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के पृ १७८ मे "यच्चोच्यते" इत्यादि वचन द्वारा जो वाह्य निमित्त का उल्लेख किया है, सो वह असद्भूत व्यवहारनय से ही किया है और असद्भूतव्यवहारनय से प्रयोजनवश ऐसा कहना आपत्ति योग्य नही माना गया है (देखो कथन न ३६ का स्पष्टीकरण)

(४) आ विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ १५१ मे जो "व्यवहारनयसमाश्रयणे" इत्यादि वचन कहा है, सो वह नैगमनय की अपेक्षा से व्यवहारसत्य को ध्यान मे रखकर ही कहा है। सग्रहनय और ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा देखने पर तो कल्पना को छोडकर किसी का किसी के साथ सम्बन्ध वन ही नही सकता, इसलिये निमित्त-नैमित्तिक-भाव को कल्पना का विषय ही जानना चाहिये। यह वात यहाँ स्पष्टरूप से खोल दी गई है।[1]

इस प्रकार उक्त चारो कथनो के आधार पर यह निश्चित होता है कि आगम मे उपादान और उपादेय भाव के लक्षण अवश्य ही दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव के लक्षण कही भी नही दिये गये हैं, यह जो हमारा लिखना है, वह यथार्थ है। मात्र वाह्य निमित्त का कथन इष्टार्थ की सिद्धि मे साधक अवश्य होना है, इसीलिए प्रयोजनवश उसे आगम मे स्वीकार कर लिया गया है। यदि समीक्षक निमित्त कथन का इतना ही अर्थ करता है और इसे ही वह निमित्त की कार्यकारिता स्वीकारता है, तो ऐसा स्वीकार करने मे हमे कोई आपत्ति नहीं है।

और यदि वह (समीक्षक) उपादान अपना कार्य करने मे पगु है, इसलिये उपादान और वाह्य निमित्त दोनो मिलकर कार्य करनेरूप परिणामलक्षण और क्रियालक्षण व्यापार करते हैं तो यह आगम विरुद्ध होने से कोई भी आर्हतमनीषी इसे स्वीकार करने मे असमर्थ है। (स पृ ११२)

आगे समीक्षक ने जल का उदाहरण देकर अपने मत के समर्थन का जो प्रयत्न किया है और साथ ही उसको ध्यान मे रखकर जो निश्चय-व्यवहार से उसे घटित करने का प्रयत्न किया है, वह सव प्रयत्न आगमवाह्य होने से स्वीकार करने योग्य नही है। (स पृ ११२)

उपादान कर्तृत्व इसलिये परमार्थभूत है, क्योंकि वह स्वय परनिरपेक्ष होकर कार्यरूप परिणमता है और निमित्त कर्तृत्व इसलिये अपरमार्थभूत है, क्योंकि वह विवक्षित कार्य का वास्तविक

---

1. सग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सबधोऽन्यत्र कल्पनामात्रात्।

कर्त्ता न होकर उसमे कर्तापने का प्रयोजनवश आरोप किया जाता है। यह परमार्थ को न जानने-वाले अज्ञानियो का लोकव्यवहार ही है। यद्यपि ज्ञानीजन भी प्रयोजनवश ऐसा व्यवहार करते हैं और आगम मे भी इसे स्वीकार किया गया है, पर ज्ञानीजन उसे उपचार कथन जानकर ही स्वीकार करते हैं और आगम मे इष्टार्थ के समर्थन मे साधक जानकर प्रयोजनवश यत्र-तत्र इसका उल्लेख भी किया गया है। देखो समयसार गाथा ८४ से ८६ और उनकी आत्मख्याति टीका (स पृ ११३)

आगे समीक्षक ने खा त च पृ ५४ मे हमारे द्वारा कर्ता का जो सप्रमाण लक्षण दिया है, सो हमने वह इस अभिप्राय से दिया था कि जब एक वस्तु के दो कर्ता होते ही नही, ऐसी अवस्था मे उसे कर्ता का सामान्य लक्षण भी जानना चाहिए और विशेपरूप से भी कर्ता का लक्षण जानना चाहिए। समीक्षक भी इसे समझता है, फिर भी वह निमित्त कर्ता को अयथार्थ कर्ता मानकर भी उसे कार्यरूप परिणति मे यथार्थ सहायक रूप मे मानने की अपनी मान्यता को नही छोडना चाहता। मानना ही नही चाहता कि जो अयथार्थ कर्ता होगा वह परमार्थ से कार्य मे कुछ भी सहायता नही करेगा, अन्यथा उसे अयथार्थ कर्ता कहना उपयुक्त नही होगा। हम यहा इतना अवश्य खुलासा कर देना चाहते हैं कि समीक्षक भले ही निमित्त कर्ता को अयथार्थ कर्ता लिखता रहे, परन्तु हम ऐसा कभी भी नही लिखेंगे, क्योकि प्रयोजनवश जब बाह्य-वस्तु मे निमित्त कर्ता का व्यवहार करते हैं तो उसे उपचरित कर्ता कहना ही योग्य ठहरता है, अयथार्थ कर्ता कहना योग्य नही ठहरता, क्योकि अयथार्थ वचन मे और उपचरित वचन मे यही अन्तर है कि उपचरित वचन को असद्भूत व्यवहारनय से कथचित् सत्य मान लिया जाता है, जब कि अयथार्थ वचन लोक मे सर्वथा अयथार्थ ही माना जाता है। (स पृ १५३-१५४)

आगे समीक्षक ने अन्य जितना कुछ लिखा है उसका उक्त कथन से ही समाधान हो जाता है, इसलिए उस विपय मे विशेप ऊहापोह करना प्रयोजनीय न जानकर हम इस कथन से विराम लेते हैं।

कथन न ३८ का समाधान—प्रमेयरत्नमाला समुद्देश ३ सूत्र ५३ के वचन को लेकर समीक्षक ने जो निमित्त कारणो को अपने ढग से वास्तविक सहायक लिखा है, सो वह ढग क्या है यह वह नही लिखना चाहता। आगम मे कही भी "अपना ढग" यह वचन दृष्टिगोचर नही होता। आगम से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि बाह्य व्याप्तिवश बाह्य निमित्त मे विवक्षित कार्य के प्रति निमित्तता स्वीकार की जाती है, परमार्थ से वह निमित्त नही होता। यह भी उसमे आगम से ज्ञात होता है कि उपचार कथन का अर्थ है प्रयोजनवश किया गया कथन। जो कथन असत् होकर के भी प्रयोजनवश असद्भूत व्यवहारनय से कथचित् सत्य मान लिया जाता है, उसके लिये प्रयोग किया जाता है। (स पृ १५५)

हमने खा त च पृष्ठ ५५ मे जो यह लिखा है कि "यह तो अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक द्रव्य मे एक काल मे एक ही उपादान-कारण-धर्म होता है और उस धर्म के अनुसार वह अपना कार्य भी करता है। जैसे कुभकार जब अपनी क्रिया और विकल्प करने रूप कारण धर्म बनता है, तब वह अपनी क्रिया और विकल्प करता है, मिट्टी मे घट निष्पत्ति रूप क्रिया नही करता।

ऐसी अवस्था मे कु भकार को घट का कर्ता उपचार से ही तो कहा जायगा।" समीक्षक ने इसे मान्य करते हुए भी लिखा है कि "पूर्वपक्ष को इसमे कोई विवाद नही है, वह भी ऐसा ही मानता है इत्यादि।" अन्त मे समीक्षक इस पूरे कथन को ध्यान मे रख करके लिखता है कि "यहा पर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि कु भकार की उस क्रिया के साथ घट कार्य का जो अन्वय-व्यतिरेक वनना है, वह इस आधार पर वनता है कि कु भकार की वह क्रिया घटकार्य के प्रति सहायक होती देखी जाती है।" सो इस सम्वन्ध मे ऐसा समझना चाहिए कि कु भकार की वह क्रिया घटकार्य के प्रति सहायक होती है, यह कथन उपचार मात्र है, परमार्थ नही। आगे इस सम्वन्ध मे समीक्षक ने जो कुछ लिखा है, वह पिष्टपेषण मात्र है, अत उसे पुन दोहराना उपयोगी नही है।

कथन न ३९ का समाधान —धवला पु १३ पृ ३४९ के वचन का हमने जो अर्थ किया है, उसे समीक्षक स्वीकार करके भी जो यह लिखता है कि "जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्य स्वप्रत्यय रूप मे वास्तविक है, उसी प्रकार स्वप्रत्यय कार्य भी स्व-पर प्रत्यय रूप मे वास्तविक ही है, कल्पनिक नही।" सो यह ठीक ही है कि जो स्व-पर प्रत्यय कार्य रागादिरूप होते हैं, वे वास्तविक ही होते हैं। इतना अवश्य है कि उनमे जो परप्रत्ययपने से होना माना गया है, वह उपचरित होने पर भी प्रयोजनवश ही स्वीकार किया गया है। सर्वत्र उपचार का अर्थ है कि जो वस्तु जैसी न हो, उसको प्रयोजनवश वैसी कहना या मानना।

कथन न. ४० का समाधान —खा त च पृ २० के सम्वन्ध मे "मुख्याभावे" इत्यादि वचन को लेकर हमने जो आशय व्यक्त किया था, उसे समीक्षक ने स्वीकार करके भी हमे जो यह सलाह दी है कि "वाल की खाल न निकाले, वक्ता के अभिप्राय को समझे" सो इसके लिए हम समीक्षक के हृदय से इसलिये आभारी हैं कि उसने हमारे द्वारा दिये गये उत्तर को स्वीकार कर लिया है।

खा त च पृ ५६ मे जो हमारे "प्रकृत मे कार्यकारण भाव का विचार प्रस्तुत है" इत्यादि कथन को स्वीकार करके भी समीक्षक ने हमको लक्ष्य करके जो यह लिखा है कि उत्तरपक्ष का यह कथन वच्चो जैसा है और पिसे को पीसता है, क्योकि उसमे हमे विवाद नहीं है। यह सव तो हम स्वीकार करते ही हैं" सो उसका ऐसा लिखना हमे इसलिये बच्चों जैसा खेल लगा, क्योकि समीक्षक निमित्त कथन को हमारे कथन के अनुसार मानकर भी उसे "वास्तविक" कहने की हठ को नही छोडना चाहता। यदि वह वास्तविक के स्थान मे उसे उपचरित लिखना स्वीकार कर ले तो पूरा विवाद ही समाप्त हो जाय। (स पृ ११७)

आगे वही पर हमने जो यह लिखा है कि "प्रत्येक समय मे निश्चय षट्कारक रूप से परिणत हुआ प्रत्येक द्रव्य स्वय अपना कार्य करने मे समर्थ है।" सो इसे अस्वीकार करते हुए समीक्षक लिखता है कि "सो यह ठीक नही है, क्योकि यह कथन द्रव्य के प्रतिसमय होने वाले स्वप्रत्ययरूप कार्य के विषय मे ही लागू होता है, स्व-पर प्रत्यय कार्य के विषय मे नही - इत्यादि।" सो इस सम्वन्ध मे ऐसा समझना चाहिये कि आगम के अनुसार चाहे स्वप्रत्यय कार्य हो या स्व-पर प्रत्यय कार्य हो, प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वय पर निरपेक्ष होकर ही करता है, ऐसा ही आगम है। जैनदर्शन के

अनुसार परमार्थ से कोई भी पररूप निमित्त नही होता, बाह्यवस्तु मे प्रयोजनवश उपचार से निमित्त व्यवहार अवश्य किया जाता है। (स पृ ११७)

आगे समीक्षक ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ ४१० के उद्धरण को ख्याल मे रखकर जो यह लिखा है कि "व्यवहारनय भी व्यवहारकथन मे उसी प्रकार वास्तविक सिद्ध होता है, जिस प्रकार निश्चयनय निश्चय के कथन मे वास्तविक है।" सो इस सम्बन्ध मे उसे यह समझ लेना चाहिये कि निश्चयनय वस्तु के स्वरूप को कहता है, जबकि व्यवहारनय वस्तु मे आरोपित धर्म का कथन करता है अर्थात् वस्तु मे अन्य के धर्म का जो आरोप किया गया है, ऐसा कहना यथार्थ है, इतना ही असद्भूत व्यवहारनय स्वीकार करता है। और यही कारण है कि निश्चयनय प्रतिषेधक माना गया है और व्यवहारनय उसके द्वारा प्रतिषेध्य माना गया है। अतएव गोलमाल के शब्दो द्वारा व्यवहार को भूतार्थ (वास्तविक) सिद्ध करने का प्रयत्न करना उपयोगी नही कहा जा सकता।

आगे समीक्षक ने आ अमृतचद्रदेव के "जइ जिणमय पवज्जह" इत्यादि वचन को उद्धृत कर जो अपने मत के समर्थन का प्रयत्न किया है, सो उसे यह समझ लेना चाहिये कि सद्भूत व्यवहार भी व्यवहार कहलाता है और यहां मुख्यतया उसी से प्रयोजन है। हमने जहा भी व्यवहार को पराश्रित विकल्प कहा है, वहा मुख्यतया असद्भूत व्यवहारनय से ही प्रयोजन रहा है। आशा है समीक्षक इस तथ्य को हृदयगम करेगा। (स पृ ११७-११८)

आगे खा. त च पृ. ५७ मे आये हुए त श्लो वा पृ ४१० के "व्यवहारनयादेव" इत्यादि वचन को उद्धृत कर समीक्षक ने यह लिखा है कि "परन्तु प्रश्न फिर भी असमाहित रहता है" इत्यादि सो उसे यह ध्यान मे ले लेना चाहिए कि जैसे एक पुरुष से दूसरे पुरुष को भिन्न समझने मे बेत निमित्त हो जाता है, और उसी आधार पर हम बेतवाले व्यक्ति को दडी कहते हैं। उसी प्रकार निमित्त भी विशेषण होकर एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे वह भेद का सूचक होता है। तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक के उक्त वचन से यही तथ्य फलित किया गया है। उक्त वचन का अन्य कोई प्रयोजन नही है। (स पृ ११८.)

आगे इसी पृष्ठ मे जो समीक्षक ने स्व-पर प्रत्यय कार्य की चर्चा की है, तो स्व-पर प्रत्यय कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक प्रायोगिक और दूसरा वैस्रसिक। जो प्रायोगिक कार्य होते हैं, वे बुद्धिपूर्वक होते हैं और जो वैस्रसिक कार्य होते हैं, वे पुरुष के प्रयत्न के बिना ही होते हैं। इन दोनो प्रकार के कार्यों मे बाह्य निमित्त का स्थान समान ही रहता है। स्वरूप से कोई भी निमित्त प्रेरक नही होता, इस सम्बन्ध मे समीक्षक ने यत्र-तत्र जो कुछ भी टीका टिप्पणी की है, वह आगम विरूद्ध होने से ग्राह्य नही मानी जा सकती।

समीक्षक ने हमारे अनेक वक्तव्यो का विचार करते हुए अन्त मे जो बाह्य निमित्त को अन्य के कार्य मे सहायक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तो यहा भी वही प्रश्न उपस्थि होता है कि बाह्य निमित्त अन्य के कार्य मे स्वरूप से सहायक होता है या उसमे सहायकपने का उपचार किया जाता है। स्वरूप से यदि सहायक माना जाता है तो कार्यद्रव्य से उसे अभिन्न मानना पडेगा, और ऐसी अवस्था मे दो द्रव्यो मे एकता माननी पडेगी। और यदि उसमे सहायकपने का उपचार किया

जाता है, ऐसा माना जाता ह तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह अन्य के कार्य मे सहायक तो नहीं होता, मात्र कालप्रत्यासत्तिवश उसे सहायक कहा जाता है। आगे समीक्षक ने यह लिखा है कि "परन्तु इस उपचार को वह पराश्रित के आधार पर उपचार मानता है व इसके आधार से उसी निमित्त मे अन्य वस्तु के कर्तृत्व का उपचार वह आलाप पद्धति के पूर्वोक्त वचन के आधार पर स्वीकार करता है" सो अपने इस वचन का उपसहार करते हुए जो समीक्षक ने यह लिखा है कि "जहाँ उत्तरपक्ष इन दोनो ही उपचारो को कल्पनारोपित मात्र मानता है, वहा पूर्वपक्ष इन्हे कल्पनारोपित नही मानता, इत्यादि "सो इस सवध मे हम जो इसके पहले उत्तर दे आये हैं, वह यहा भी लागू होता है।

आगे समीक्षक ने आलाप पद्धति के "मुख्याभावे सति" इत्यादि वचन को ध्यान मे रखकर जो टीका की है, वह युक्त नही है, क्योकि उपचार की प्रवृत्ति दोनो अर्थो मे होती है। कही हमारे द्वारा सुझाए गए अर्थ मे होती है और कही समीक्षक ने जो अपना आशय व्यक्त किया है, उस अर्थ में भी होती है। घी का घडा कहना, यह है तो मिट्टी आदि का घडा, मात्र घी के निमित्त से उसे घी का घडा कहा गया है। इसलिए मुख्य जो मिट्टी आदि हैं उसका घडा न कहकर, उसे घी के निमित्त से घी का घडा कहना, यहा मुख्य मिट्टी को गौण किया गया है। यदि प्रकृत मे ऐसा अर्थ लिया जावे तो इसमे क्या आपत्ति है ? कोई आपत्ति नही है। यहा इसी पैरा मे आगे जितनी बातें समीक्षक ने लिखी है, वे सव उक्त कथन मे समाहित हो जाती है, इसलिए उन सबकी अलग-अलग चर्चा करना उपयुक्त नही है।

कथन नं ४१ का समाधान —खा त च पृष्ठ २१ मे समीक्षक ने जो उपादान और निमित्त दोनो शब्दो के अर्थ को स्पष्ट किया था और उस पर हमने आपत्ति की थी, उसे (आपत्ति को) स्वीकार करते हुए समीक्षक ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि उपादान कार्य का कर्ता होता है और वही उसका मुख्य कर्ता होता है। साथ ही वह यह भी लिखता है कि वाह्य निमित्त उपादान की कार्यपरिणति मे सहयोग प्रदान करता है। तो यह सहयोग क्या वस्तु है, यही मुख्य विवाद का प्रश्न है। क्या वह भिन्न रहकर उपादान के कार्य मे सहयोग करता है या उपादान से एकरस होकर उसके कार्य मे सहयोग करता है और जब अपना कार्य करता है तव वाह्य निमित्त अपना कार्य छोडकर उपादान के कार्य मे सहयोग भी करता जाता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका अर्थ स्पष्ट होने पर ही वास्तव मे सहयोग का क्या स्वरूप है, इसे समझा जा सकता है, किन्तु समीक्षक इन प्रश्नो का समाधान न करते हुए भी अपनी रट लगाये जाता है, इसका हमे क्या, सभी को आश्चर्य होगा।

अभीतक आगम के अभ्याम से हमने यही समझा है कि उपादान के कार्य और वाह्य निमित्त – इन दोनो मे कालप्रत्यासत्तिवश वाह्य व्याप्ति पायी जाती है, इसलिए यह असद्भूत व्यवहार हो जाता है कि इसके निमित्त से यह कार्य हुआ, यह उपचरित होने से अभूताथ है। इस विषय को हम पहले और भी कई वार स्पष्ट कर आए हैं। (स पृ ११२)

कथन न ४२ का समाधान :—खा त. च पृ ६० मे हमारे द्वारा समयसार कलश ६३ के आधार से लिखे गये विशेष स्पष्टीकरण को ध्यान मे रखकर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "बाह्य पदार्थ की उपचार हेतुता को वास्तविक क्यो मानता है, इसका आगम प्रमाण के आधार पर उसने अपने वक्तव्यो मे बारबार स्पष्टीकरण किया है और इस समीक्षा मे भी उसका बारबार स्पष्टीकरण किया गया है, उसकी उत्तरपक्ष जानबूझकर उपेक्षा कर रहा है।" सो उसका ऐसा लिखना इसलिए असगत है, क्योकि अभीतक इस विषय के समर्थन मे उसने जितने भी प्रमाण दिये है, उनको जो भी अर्थ वह फलित करना चाहता है, वह फलित नही होता। प्रत्युत उन प्रमाणो से आगम के अनुसार हमारे कथन की ही पुष्टि होती है। इसका स्पष्टीकरण हम बारबार कर आये हैं।

इसी सिलसिले मे समीक्षक ने निमित्त कर्त्ता और बाह्य निमित्त मानने मे क्या प्रयोजन है। यह जानने की जिज्ञासा करते हुए अपने मतानुसार उसका स्पष्टीकरण किया है। सो यद्यपि हम बाह्य निमित्त और निमित्तकर्त्ता मानने मे क्या प्रयोजन है, इसे अनेक बार स्पष्ट कर आये हैं, फिर भी समीक्षक के चित्तक्षोभ को दूर करने के अभिप्राय से हमारे द्वारा यहाँ पुन. स्पष्ट किया जाता है कि उपादान की कार्यपरिणति मे जो उपचार हेतु को जिस प्रयोजन से स्वीकार किया गया है, वह इष्टार्थ की सिद्धि मे साधक होता ही है। साथ ही बाह्य निमित्त को जो निमित्तकर्त्ता कहा जाता है, वह अज्ञानियो के व्यवहार को सूचित करने के अभिप्राय से ही कहा जाता है।

कथन न ४३ का समाधान :—समीक्षक का कहना है कि—"निमित्त उपादान का सहायक होने रूप मे कार्यकारी होता है। निमित्त का कार्य वहाँ पर केवल हाजिरी देना मात्र नही है।" इसी प्रसग को लेकर स पृ १२५ मे वह लिखता है कि "फलत उत्तरपक्ष की मान्यता मे बाह्य सामग्री उपादान की कार्योत्पत्ति मे सर्वथा अकिंचित्कर रहती है और उसमे निमित्त-व्यवहार आकाशकुसुम की तरह कल्पनारोपित मात्र सिद्ध होता है।" सो इस सम्बन्ध मे आगम के अनुसार हमारा कहना यह है कि जिसे हम उपादान की कार्योत्पत्ति मे निमित्त कहते हैं, वह स्वय उपादान होकर उस समय अपना कार्य करता है। अकिंचित्कर होकर फालतू नही बैठा रहता है। द्रव्य का यह स्वभाव ही नही कि वह अपना कार्य तो करे नही और अन्य के कार्य मे सहायता करने लगे। अन्य के कार्य मे सहायता करता है, यह वस्तुत मानना अज्ञानी का विकल्प है, जो उपचरित होने से आगम मे असद्भूतार्थ ही माना गया है। भूतार्थ की सिद्धि का साधक होने से उसे प्रयोजनीय अवश्य कहा गया है।

आगे समीक्षक लिखता है 'व्यवहार (उपचारनय) से बाह्य सामग्री उपादान के कार्य का अनुरंजन करती है, उपकार करती है और उसमे सहायक होती है।" सो समीक्षक का यह सब मानना कल्पनारम्य कथन मात्र है, क्योकि यद्यपि असद्भूत व्यवहार ऐसा माना या कहा अवश्य जाता है पर आगम मे उपादान के कार्यकाल मे ही बाह्य निमित्त को स्वीकार किया गया है, इसलिये व्यवहार से मात्र उससे यह सूचना तो अवश्य मिलती है कि इस समय उपादान ने क्या कार्य किया,

पर वह उसमे परमार्थ से सहायक नही हो सकता, उसका अनुरजन नहीं कर सकता और उसका उपकार नही कर सकता, इतना स्पष्ट है। और यह आगम से ही स्पष्ट है कि जो जिसका स्व-चतुष्टय नही होता, वह उससे सर्वथा भिन्न ही रहकर स्वय अपना कार्य करता है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य एक काल मे एक ही क्रिया कर सकता है। आशा है समीक्षक इस तथ्य को स्वीकार कर एकान्त से स्वीकार की गई अपनी मान्यता को कल्पनाजन्य ही मान लेगा। इसी में जैनशासन के हार्द की रक्षा है, अन्यथा जैनदर्शन मे भी ईश्वरवाद का प्रवेश अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पडेगा। स पृ १२५)

कथन नं ४४ का समाधान :—खा त च पृ ६१ के आधार पर हमने जो निमित्त के दो भेद लिखे थे उनके विषय मे समीक्षक टिप्पणी करते हुए लिखता है कि "प्रेरक और उदासीन निमित्तो के जो पृथक्-पृथक् लक्षण उत्तरपक्ष ने दिये हैं, उनसे दोनों निमित्तो मे प्रयोग भेद सिद्ध होनेपर भी उनका कार्यभेद सिद्ध नही होता, जब कि इनमे प्रयोगभेद और कार्यभेद दोनो हैं। पचास्तिकाय के कथन से भी ऐसा ही निर्णीत होता है।" सो इस सम्बन्ध मे हमारा कहना इतना ही है कि समर्थ उपादान का लक्षण आगम मे स्पष्टरूप से दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ उपादान का लक्षण आगम मे पाया नही जाता। एकान्त का आश्रय कर द्रव्यार्थिकनय से समीक्षक ने जो उपादान का लक्षण लिखा है, वह समर्थ परमार्थभूत उपादान का लक्षण नही है और उस आधार से आगम मे उपादान के कार्य का विचार भी नही किया गया है। हम इसी शका-समाधान मे आप्तमीमासा की कारिका १० और ५८ तथा उनकी टीका अष्टसहस्री के आधार से उपादान-उपादेय भाव का सागोपाग विचार कर आये हैं। त श्लो वा पृ १५१ के आगे लिखे जाने वाले वचन से भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक समय में अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान होता है और अव्यवहित उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य कर्म होता है। त श्लो वा का वचन इसप्रकार है—

"क्रमभुवो पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।"

अर्थ .—क्रम से होनेवाले दो पर्यायो मे एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होने से उपादान-उपादेयपने का वचन पाया जाता है।

इसप्रकार उपादान और उपादेय के वास्तविक लक्षणो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षक ने अपने मतानुसार प्रेरक निमित्त का जो लक्षण दिया है, वह सर्वथा आगम-विरुद्ध होने से मान्य नही हो सकता। दूसरी बात यह है कि पर्याय-निरपेक्ष केवल द्रव्य को उपादान माना जाता है – तो एकान्त मान्यता जन्य दोष मुह बाये सामने खडा हो जाता है। अत आगम के अनुसार उपादान का जो सुनिश्चित लक्षण है, उसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये।

पचास्तिकाय के कथनानुसार भी दोनो प्रकार के निमित्तों मे मात्र प्रयोगभेद ही सिद्ध होता है, कार्यभेद सिद्ध होना असभव है। जब समीक्षक ही मानता है कि "उपादान कर्त्ता ही मुख्य कर्त्ता होता है और वही स्वय कार्यरूप परिणमता है" ऐसी अवस्था मे उपादान के कार्य मे निमित्त को

कार्यभेद की अपेक्षा प्रेरक मानकर उपादान के कार्य को निमित्त के बल पर आगे पीछे होते हुए लिखना, यह ऐसी खोटी मान्यता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि उपादान को परिणमाना यह निमित्त का कार्य है। उपादान तो अपने कार्य को करने मे आकाशफूल के सम न अकिंचित्कर ही है।

परन्तु वस्तुस्थिति यह नही है। सभी कार्य हो रहे हैं और अपने-अपने समय मे हो रहे हैं। कोई किसी के कार्य मे हस्तक्षेप नही करता, फिर भी वे क्रमानुपाती होने के कारण, जिसके कार्य के साथ तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य की बाह्य व्याप्ति बन जाती है, वह उस कार्य का निमित्त कहा जाता है। अब यदि परिणाम लक्षण या परिस्पद लक्षण क्रिया द्वारा जो निमित्त होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है और बुद्धिपूर्वक परिस्पद लक्षण क्रिया द्वारा जो निमित्त होता है, उसमे निमित्तकर्ता, हेतुकर्ता आदि शब्दो का व्यवहार किया जाने लगता है (देखो समयसार गाथा १००) इतना अवश्य है कि निमित्तपने की अपेक्षा कोई भी निमित्त हो, वह उपादान के कार्योत्पत्ति के प्रति उदासीन ही होता है। (स पृ १२६-१२७)

समीक्षक ने अपने मनानुसार प्रेरक निमित्त की कल्पना अवश्य की है और उसकी पुष्टि मे वह आगम की दुहाई भी देता है, जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि प्रेरक निमित्त के बलपर अन्य द्रव्य मे आगे-पीछे कभी भी कार्य करा सकता है, किन्तु आगम मे अन्त कृतकेवलियो के उदाहरण आते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के काल मे ऐसे अन्त कृतकेवली दस-दस होते हैं। मोक्ष जाने के पहिले घोर उपसर्ग होने पर भी वे अपनी अनपवर्त्य आयु के अन्त मे ही मोक्ष जाते हैं। ऐसा नही होता कि वे आयुकर्म को छेद करके मोक्ष जाने के काल के पूर्व ही मोक्ष चले जायें। अब रहे शेष जीव, सो उनके भी परभव सम्बन्धी आयुबन्ध के बाद भुज्यमान आयु का छेद नही होता, ऐसा जिनागम से स्पष्ट ज्ञात होता है।[1] इसलिये आगम से ऐसा सिद्ध करना अशक्य है कि प्रेरक कारण के बल से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा एकान्त से स्वीकार किये गये उपादानरूप द्रव्य मे किसी भी कार्य का आगे-पीछे होना सभव है। अज्ञानी ऐसा विकल्प अवश्य कर सकता है कि जो कार्य दो दिन मे होना था, उसे एक दिन मे कर लिया। उससे यदि पूछा जाय कि यह काम दो दिन मे होना था, यह तुमने कैसे जाना ? तो वह इसका क्या उत्तर देगा, क्योकि उसके पास इस बात का कोई उत्तर नही है, इसलिये अज्ञानवश बोले गये वचनो के प्रयोग भेद से निमित्त को दो प्रकार का कहना तो बन

---

1 परभविआउएबद्धे पच्छा भुजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि जहा सरूवेण चेव वेदेदित्ति जाणा-वणट्ठ कमेण कालगदोत्ति उक्त। पर भवियाउसबधिय भजमाणाउए घादिज्जगो को दोतो त्तिओण, णिज्जिण्ण भजमाणाउअस्स अपत्तवरभविआउस्स उदयस्स चउगहबाहिरस्स जीवस्स अभावपसगादो। ध पु १० पृ २२७

जधा णाणावरणादिसमयपबद्धाण बधावलिय वदिक्कताण ओकड्डुण परपयाडिसक भेदिन्नाधा अत्थि, तधाआउअस्स ओकडुण-परपयडिसकमादीहि बाधाभवपरूवणट्ठविदियवार माबाधाणिकेसादो। स जी चू पृ. १६८

जाता है। कार्यभेद से उनको दो प्रकार का मानना या कहना नही वनता, ऐसा कहना मिथ्या ही है।

आगे उसने इस सम्वन्ध मे जो कुछ भी लिखा है, वह सव उसकी अपने घर की मान्यता ही है।

कथन न. ४५ का समाधान —इस कथन मे भी समीक्षक ने हमारे कथन का आलोचन करते हुए अन्त मे जो यह लिखा है कि "परन्तु निमित्तभूत वाह्य सामग्री को लक्ष्यकर – आलवन कर अर्थात् सहयोग से करता है तो ऐसा स्वीकार करने मे भी पूर्वपक्ष को कोई आपत्ति नही है, लेकिन वास्तव मे वात यह है कि उत्तरपक्ष अपने उक्त कथन के आधार पर उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्त कारणभूत वाह्य मामग्री को सर्वथा अकिंचित्कर मान लेना चाहता है, इसलिये ही पूर्वपक्ष को उसके उक्त कथन मे आपत्ति है।" सो इस सम्वन्ध मे आगम के अनुसार हमारा कहना यह है कि "सामग्री का लक्ष्य कर – आलबन कर" ऐसा कहना या लिखना मात्र असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योकि अचेतन पदार्थों मे ऐसा कहना वनता ही नही, चेतन पदार्थों मे बुद्धिपूर्वक जो काम होते है उनमे ही यह कहना वनना है। ऐसा होने पर भी समीक्षक निमित्त के सहयोग को भूतार्थ मानने पर तुला हुआ है। वह अपने कथन द्वारा इसकी पुष्टि मे आगम का विपर्यास भी कर रहा है। इतना ही नही, प्रेरक कारण का अपने मनोनुकूल अर्थ करके यह भी लिखने से नही चूकता कि प्रेरक कारण के वलपर अन्य द्रव्य का कार्य आगे-पीछे भी हुआ करता है। यह तो उसकी एक महाभूल है ही, इसके आगे वह और भी ऐसी महाभूलें करने से नही चूकता, जिनके आधार पर वह अपने मनोनुकूल उपादान का लक्षण लिखकर पूरे आगम को ही मटियामेट कर देना चाहता है।

वह यदि यह मानता है कि निश्चय का एकान्त कर रहे हैं तो उसका काम इतना ही था कि वह हमारे उस निश्चय कथन को स्वीकार करके उसका सद्भूत और असद्भूत व्यवहार क्या होता है और वह लोक मे और आगम मे क्यो प्रयोजनीय माना गया है, इस पर विशद् प्रकाश डालता, परन्तु वह ऐसा करने मे सर्वथा असमर्थ रहा। न तो वह निश्चय का ही समर्थन कर सका और न सद्भूत और असद्भूत व्यवहार को ही स्पष्ट कर सका। निश्चयनय के स्वीकार करने के साथ दोनो व्यवहारो के कथन मे सगति कैसे वैठती है, यही उसके लिखने का मुख्य प्रयोजन था। यथासभव हमने इसका ख्याल रखा है। समीक्षक किस वहाव मे वह गया, यह हम अभीतक नही जान सकें। (स पृ १२८-२९)

समीक्षक का कहना है कि "यदि निमित्तभूत वाह्य सामग्री को ऐसी हालत मे भी उपादान के कार्यरूप परिणति मे सर्वथा अकिंचित्कर माना जाता है, तो उस निमित्तभूत वाह्य सामग्री के अभाव मे उपादान का कार्यरूप परिणत होने का प्रसग उपस्थित हो जायगा, जा उत्तरपक्ष को भी मान्य नही है।" सो इस सम्वन्ध मे आगम के अनुसार समीक्षक को यह जान लेना चाहिये कि काल-प्रत्यासत्ति के आधार पर निमित्त मे अन्य द्रव्य के कार्य की असद्भूत व्यवहार से निमित्तता स्वीकार की गई है। अन्य द्रव्य के कार्य मे वह भूतार्थ से सहायक होता है, इस आधार पर निमित्तता नही स्वीकार की गई है और कालप्रत्यासत्ति के आधार पर ही उन दोनो के एक काल मे होने का नियम

स्वीकार किया गया है, इसलिये 'निमित्तभूत बाह्य सामग्री के अभाव मे भी उपादान का कार्यरूप परिणत होने का प्रसग उपस्थित हो जायगा" यह सवाल ही नहीं उठता। उसके इस सवाल को देखकर ऐसा लगता है कि वह इन दोनो मे आगमसम्मत कालप्रत्यासत्ति को स्वीकार ही नही करना चाहता, अन्यथा वह ऐसा सवाल ही नही उपस्थित करता। (स पृ १३०)

प्रत्येक कार्य मे जो वैशिष्ट्य आता है, वह द्रव्य की अपनी द्रव्य-पर्याय की योग्यता के बलपर ही आता है। जब प्रेरक कारण नाम का कोई निमित्त ही नही है, तब उस आधार पर – उसके बलपर अन्य द्रव्य के कार्य मे वैशिष्ट्य की कथा करना आगमानुकूल नहीं कही जा सकती है। इसका विशेष खुलासा हम पहिले कर ही आये हैं।

कथन न ४६ का समाधान :—आगे समीक्षक पुन प्रेरक निमित्त की वकालात करते हुए लिखता है कि "मैं इसी प्रश्नोत्तर की द्वितीय दौर की समीक्षा मे इस सम्बन्ध मे विस्तार से यह स्पष्ट कर आया हूँ कि प्रेरक निमित्त के बल से उपादान शक्ति विशिष्ट किसी भी द्रव्य के कार्य को आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।" सो इस सम्बन्ध मे हमे इतना ही कहना है कि उसने जिस रूप मे उपादान को स्वीकार कर रखा है, उसका उभयनय के प्रतिपादक आगम से समर्थन नही होता, क्योकि कार्य कारण के प्रसग मे केवल पर्यायनिरपेक्ष द्रव्यशक्ति विशिष्ट द्रव्य स्वय अपना कार्य करने मे असमर्थ है, क्योकि प्रतिसमय पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्य ही प्रतिसमय अपने कार्य का उपादान होता है – ऐसा बुद्धिगम्य आगम वचन है। अत लोक मे ऐसा कोई भी निमित्त कारण नहीं है, जो अपने से भिन्न द्रव्य के कार्य को आगे-पीछे उत्पन्न कर दे।

कथन नं ४७ का समाधान —समीक्षक "कर्म की नानारूपता भावसंसार के उपादान की नानारूपता को तथा भूमि की विपरीतता बीज की वैसी उपादानता को ही सूचित करती है" सो यह जो हमारा कहना है, उसे स्वीकार करके भी पुन वह लिखता है कि "परन्तु विचारणीय यह है कि ऐसी सूचना तभी प्राप्त हो सकती है; जब कि कर्म को भावसंसार की उत्पत्ति मे और भूमि की विपरीतता को बीज की विपरीत परिणति मे सहायक होनेरूप निमित्त मान लिया जावे।" सो यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि बुद्धि के क्षेत्र मे ही यह विकल्प होता है, किन्तु प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वत होता है। दोनो का सहज योग होता है ऐसा स्वीकार करना ही कार्यकारी है।

लोक मे अनन्त पदार्थ हैं और उनके अनन्त प्रकार के कार्य हो रहे हैं। और उनके लिये नाना प्रकार के योग भी मिलते रहते हैं। इन कार्यों मे कौन किसको क्या देता है। यह बात तो गम्भीर मीमांसा के समय ही कही जाती है। वस्तुत सभी के अपने-अपने परिणमन स्वतंत्र हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है। योग भी स्वयं बनते रहते हैं, उन्हें कोई बनाता नहीं। फिर भी अन्य के सहयोग से कार्य हुआ, ऐसा कहना या मानना असद्भूत व्यवहार ही है। उसे यथार्थ कहना यही दूर है।

कथन नं. ४८ का समाधान :—त च. पृ ६२ मे जो चर्चा आयी है, उसके सम्बन्ध मे समीक्षक स पृ १३३ मे कहता है कि "जब उपादान की अपनी विभिन्न कार्यरूप परिणति

के अनुकूल निमित्त का योग मिलता है, तब ही उपादान की वह विवक्षित कार्यरूप परिणति होती है और न मिलने पर नही होती। इस तरह इस व्यवस्था के अनुसार निमित्त उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होने रूप से कार्यकारी सिद्ध होता है।" यह समीक्षक के पूरे वक्तव्य का सार है, किन्तु यहाँ इस वक्तव्य मे समीक्षक ने कालप्रत्यासत्ति और समर्थ उपादान को भुलाकर ही अपनी उक्त मान्यता बनायी है। वह यह भूल जाता है कि उपादान के कार्य और बाह्य निमित्त - इन दोनो मे आगम ने कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है। उसके आधार पर निश्चय से यह व्याप्ति बनती है कि प्रत्येक समय मे जैसा-जैसा उपादान अपने विवक्षित कार्य के सन्मुख होता है, प्रत्येक समय मे वैसा-वैसा उसके अनुकूल बाह्य निमित्त का योग बनता ही है। इसी को असद्भूत व्यवहारनय से ऐसा भी कह सकते है कि प्रत्येक समय मे असद्भूत व्यवहारनय से जैसा-जैसा अनुकूल बाह्य निमित्त का योग मिलता है, वैसा-वैसा उपादान अपने विवक्षित कार्य को करता है। कार्यकारणभाव मे यह निश्चय-व्यवहार की युति है समीक्षक इसी युति का निषेध करके अपनी मान्यता की पुष्टि कर रहा है। वह यहाँ यह भूल जाता है कि इससे सर्वज्ञ प्रणीत आगम का घोर अपलाप हो रहा है। पर उसे तो यह धुन लगी है कि यदि आगम का घोर अपलाप होता है तो होओ, हमे तो अनियतवाद की पुष्टि करनी है।

आगे समीक्षक ने लिखा है कि "यदि निमित्त को वास्तविक कारण न मानकर केवल कल्पनारोपित कारण माना जावे तो जीव की मोक्ष की व्यवस्था भग हो जायगी, क्योकि ससार और मोक्ष की व्यवस्था व्यवहाररूप होने से उत्तरपक्ष की दृष्टि मे अवास्तविक ही सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि ससार और मोक्षरूप परिणमन जीव के ही परिणमन हैं, इसलिये वास्तविक है तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय से ही उसके व्यवहृत होते हैं, क्योकि शुद्ध निश्चयनय से अनादि, अनिधन, स्वाश्रित, और अखण्ड शुद्ध (पर सयोग रहित) पारिणामिक भावरूप तत्त्व ही वास्तविक है अत जीव की ससार और मोक्षरूप परिणतियाँ व्यवहारनय से सिद्ध होती हैं। इसतरह वे व्यवहाररूप होने पर भी, कल्पनारोपित होकर अवास्तविक नही हैं। अत निमित्त कारणता व्यवहाररूप होते हुए भी उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के रूप मे वास्तविक मानना ही युक्तिसगत है, कल्पनारोपित मानना युक्तिसगत नही है आदि।"

यह प्रकृत मे समीक्षक का वक्तव्य है। वह समयसार का स्वाध्याय करने के बाद उसका किस रूप मे अर्थ ग्रहण करता है और सामने बैठे जिज्ञासु बन्धुओ को उसका आशय किसरूप मे समझाता है, उक्त कथन से उसका पता लग जाता है। न तो ससार पर्याय ही जीव से सर्वथा भिन्न है और न मोक्ष पर्याय ही जीव से सर्वथा भिन्न है। जीव ही स्वय ससार रूप होता है और जीव ही स्वय मोक्षरूप होता है। समयसार मे जीव को जो स्वत सिद्ध अनादि अनन्त विशदज्योति और उद्योतरूप एक ज्ञायक कहा गया है, वह केवल द्रव्यार्थिकनय से ध्यान के विषयभूत ध्येय को सामने रखने के अभिप्राय से या परभाव से भिन्न मूल आत्मा को लक्ष्य मे लेने के अभिप्राय से ही कहा गया है और वहाँ जो जीवादि पर्यायरूप नौ पदार्थों को गौण कराया गया है, वह केवल वर्तमान पर्याय मे आसक्ति छुडाने के अभिप्राय से ही कराया गया है। यह वस्तुस्थिति है।

समीक्षक इसका विपर्यास करके ही अपने अभिप्राय को पुष्ट करना चाहता है, यह दुर्भाग्य का विषय है। मालूम पडता है कि शुद्ध निश्चयनय किसे कहते हैं, इसे उसने ख्याल मे लिया ही नहीं

है। और इसीतरह व्यवहारनय के जो भेद आगम मे उपलब्ध होते हैं, उनके विषय मे भी अपनी मनगढत कल्पना करके उनसे अपने मत की पुष्टि करना चाहता है।

उसने जो शुद्ध निश्चयनय से "अनादि, अनिधन, स्वाश्रित अखण्ड शुद्ध पारिणामिक भावरूप तत्त्व ही वास्तविक है", लिखा है, सो उसका और सब लिखना तो ठीक है, पर एक तो उसे "स्वाश्रित" लिखना प्रयोजन विशेष से है, क्योकि जो पर्याय स्वाश्रित होती है, उसका अभेद करके वस्तु को ही शुद्ध निश्चयनय से स्वीकार किया जाता है। अत निश्चयनय केवल पारिणामिक भाव को शब्दो मे व्यक्त किया जाय तो वह स्वत सिद्ध, अनादि-अनन्त, अखण्ड और एकरूप ही कहा जायगा, यह आगम परपरा है।

समयसार मे जितना भी कथन है वह सब नयदृष्टि से ही किया गया है, क्योकि प्रमाण ज्ञायक होता है और नय, विवक्षित दृष्टि से ज्ञान कराने के साथ कथचित् प्रापक भी होता है। अत• बाह्य निमित्त के सम्बन्ध मे इस आधार पर भूतार्थता का कथन करना अपने पैरो पर कुल्हाडी मारने के समान ही प्रतीत होता है। हम बारबार लिख आये हैं कि उपादान की कार्योत्पत्ति मे जो बाह्यवस्तु की निमित्तता स्वीकार की गई है, वह यह कार्य किसका काम है – इसकी सिद्धि का निमित्त होने से कालप्रत्यासत्तिवश ही स्वीकार की गई है। उसमें निमित्तता स्वीकार करने का और कोई दूसरा कारण नही है। समीक्षक उपादान की कार्योत्पत्ति में निमित्त का भले ही बोलवाला मानता रहे, परन्तु आगम में उसे कालप्रत्यासत्तिवश ही स्वीकार किया गया है। वैसे कार्य में उसका बोलवाला तो है, पर यह कार्य किस उपादान का है, इसकी प्रसिद्धि करने में ही बोलवाला है। (स पृ १३३)

यहाँ समीक्षक ने स्वकल्पित उपादान का लक्षण देने के साथ आगम सम्मत उपादान का लक्षण लिखकर अपने पक्ष के समर्थन मे लिखा है कि "परन्तु उसका (हमारा) यह कहना इसलिये निरर्थक है कि पूर्व मे प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि आगम प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि "उपादान की वह कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय निमित्त का सहयोग मिलने पर ही होती है, उसके अभाव मे नही। इसतरह कार्योत्पत्ति मे कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय का बोलवाला सिद्ध न होकर निमित्त का ही बोलवाला स्पष्ट सिद्ध होता है।" सो इस सम्बन्ध में पहिले तो हम उस प्रमाण को दे देना चाहते हैं जिस द्वारा समीक्षक अपने मन का समर्थन कर रहा है। वह प्रमाण इसप्रकार है –

पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव कार्यकारित्वप्रतीते। तत्परिणतिश्चसहकारिकारणापेक्षयैव इति, पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसग सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यंच।

पर्याय शक्ति से समन्वित ही द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी होती है, क्योकि विशिष्ट पर्याय से परिणत ही द्रव्य में कार्यकारीपने की प्रतीति होती है और पर्यायशक्ति समन्वित द्रव्यशक्ति की कार्यरूप परिणति सहकारी कारण सापेक्ष ही होती है, क्योकि पर्यायशक्ति उसीसमय होती है, इसलिये सर्वथा कार्योत्पत्ति का प्रसग नही आता और न ही सहकारी कारण की अपेक्षा की व्यर्थता सिद्ध होती है।

यह प्रमेयकमल मार्तण्ड के उक्त उद्धरण का अर्थ है। समीक्षक ने अपने इष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने के अभिप्राय से एक तो "तत्परिणतिश्च" का अर्थ पूरा नही दिया है। दूसरे "पर्याय-शक्तेस्तदैव" से लेकर शेष वाक्य के अर्थ के करने मे भी गोलमाल कर दिया है, क्योकि उसमे "तदैव" पद को छोडकर अपने अभिप्रायनुसार किसी तरह अर्थ विठाने की चेष्टा की गई है, यह सभी तत्वज्ञ जानते हैं कि चाहे मोहरूप कार्य हो और चाहे ससाररूप कार्य हो, कार्यकारणभाव मे निश्चय-व्यवहार की युति नियम से होती है। प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में कार्य होता है और प्रत्येक समय मे उसके अनुरूप निश्चय साधन के साथ व्यवहार साधन का योग भी बनता रहता है। आगम मे जो नियत उपादान का सुनिश्चित लक्षण दिया गया है, वह इसी अभिप्राय से ही दिया गया है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिन दोषो की हम कल्पना नहीं कर सकते, वे दोष उपस्थित हो जाते हैं। यथा –

(१) चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी अनन्तरसमय मे चार अघातिया कर्मों की क्षयरूप अवस्था न होने से जीव का मोक्षमार्ग नही होना चाहिए।

(२) भट्टाकलकदेव ने तत्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २० में जो यह लिखा है कि – "मिट्टी के स्वय भीतर से घटभवन रूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषप्रयत्न निमित्तमात्र होते हैं, सो उनका ऐसा नियम करना नहीं वन सकता, क्योकि समीक्षक के मतानुसार उक्त उपादान रहे, परन्तु वाह्य सामग्री न हो तो घटकार्य नही होना चाहिये।

पर ऐसा नही होता, क्योकि प्रत्येक वस्तु उपादान भाव को प्राप्त होती रहती है और प्रत्येक समय मे कालप्रत्यासत्तिवश उस समय के उपादान के अनुसार होनेवाले कार्य के अनुकूल द्रव्यपर्यायरूप वाह्य सामग्री का योग भी मिलता रहता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के उक्त वचन का भी यही आशय है। उसमे यही तो कहा गया है कि उपादान से कार्य होते समय सहकारी कारण की अपेक्षा रहती है, क्योकि पर्यायशक्ति उसी समय होती है, इसलिये सर्वदा कार्य होने का प्रसग नही आता है। यहाँ जो सहकारी कारण की व्यर्थता का निषेध किया गया है, सो उससे यह सहज ही सूचित हो जाता है कि उपादान की व्यर्थता स्वीकार नहीं की गई है, वैसे ही सहकारी कारण की व्यर्थता भी नही माननी चाहिये। जहाँ उपादान निश्चय से सार्थक है, वही सहकारी कारण असद्भूत व्यवहारनय से साधक हैं। समीक्षक जो सहकारी कारण की सहायना को भूतार्थ रूप से यथार्थ मानता है, उसी का आगम मे निषेध किया गया है, असद्भूत व्यवहारनय से उसे सहायक कहने मे वाधा नही आती, क्योकि परमार्थ नही होते हुए भी ऐसा व्यवहार लोक मे किया ही जाताहै कि उससे यह कार्य हुआ, जब कि होता है तो स्वय अपने उपादान से ही होता है।

इसप्रकार प्रमेयकमल मातण्ड के उक्त वचन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विवक्षित उपादान मे विवक्षित कार्यरूप परिणत होने की योग्यता केवल एक समय तक ही पायी जाती है, सर्वथा नही पायी जाती। हाँ यदि उक्त मात्र द्रव्यशक्ति को उपादान कहा गया होता तो समीक्षक का स पृ १३३ मे यह कहना ठीक होता कि – "उपादान मे विवक्षित कार्यरूप परिणत होने की योग्यता स्वभावत विद्यमान रहने पर भी उसकी वह परिणति तभी होती है, जब उसे

अनुकूल प्रेरक या उदासीन या दोनो प्रकार के निमित्तो का सहयोग प्राप्त होता है और तवतक वह परिणति रुकी रहती है, जवतक उसे उसका सहयोग प्राप्त नही होता।" परन्तु उसका आगम मे केवल द्रव्यशक्ति को उपादान मानने का स्पष्ट शब्दों मे निषेध करके पर्याय-शक्ति विशिष्ट द्रव्य शक्ति को ही उपादान स्वीकार किया गया है। इसलिये समीक्षक ने यहाँ जो कुछ भी लिखा है, वह केवल अपने मन के समर्थन मे आगम का अपलाप करके ही लिखा है।

यहाँ यह अवश्य स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उक्त वचन मे जो "सहकारिकारणापेक्षयैव" पद आया है, वह असद्भूत व्यवहार से ही कहा गया है। परमार्थ से तो प्रत्येक द्रव्य परनिरपेक्ष होकर स्वय अपना कार्य करता है, ऐसा वस्तुस्वभाव है।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "उपादान की वह कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय निमित्त का सहयोग मिलने पर ही होती है, उसके अभाव मे नही। इसतरह कार्योत्पत्ति मे कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय का बोलवाला सिद्ध न होकर निमित्त का ही बोलवाला स्पष्ट सिद्ध होता है।" सो यहाँ पूछना यह है कि समीक्षक यह सब कथन असद्भूत व्यवहारनय से कर रहा है या निश्चयनय से। यदि वह कहे कि वह कार्य मे परसापेक्षपने का कथन असद्भूत व्यवहारनय से कर रहा है, तो आगम के अनुसार इस कथन मे हमे कोई आपत्ति नही दिखाई देती, क्योकि यह नय पराश्रित होता है – ऐसा आगमवचन है। यदि वह यह सब कथन निश्चयनय से कर रहा है, तो उसका ऐसा लिखना आगम-बाह्य है, क्योकि निश्चयनय स्वाश्रित होता है, ऐसा आगमवचन है। इसलिये परमार्थ से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपने कार्य का उपादान होकर पर की अपेक्षा किये विना स्वय अपना कार्य करती है। परकी सहायता से कार्य होता है, यह केवल असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है।

समीक्षक ने यह लिखा है कि "यत उपादान को निमित्त का सहयोग प्रायोगिक या प्राकृतिक रूप मे सतत् मिलता ही रहता है, अत उसकी कार्योत्पत्ति सतत् होती रहती है, उसमे कोई वाधा उपस्थित नही होती।" सो उसका यह लिखना इसलिये ठीक है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य पर्यायशक्ति से समन्वित होने के कारण प्रतिसमय उपादान है, अत प्रतिसमय वह स्वय अपनी परिणाम शक्ति के कारण कार्यरूप परिणमता है, चाहे वह कार्य अर्थ पर्यायरूप हो और चाहे व्यजनपर्यायरूप हो। तथा कालपत्यासत्तिवश उक्त दोनो प्रकार के कार्यो मे असद्भूत व्यवहार से यथासभव प्रायोगिक या वैस्रसिक अनुकूल वाह्य निमित्तो का योग भी होता ही रहता है। (स पृ १३४)

जिससमय उपादान कार्यरूप परिणमता है, उसीसमय उसका वाह्य निमित्त है। इसमे व्यवधान नही पडता, अतएव इसी का नाम कालप्रत्यासत्ति है। इसप्रकार समीक्षक के उक्त कथन से यही सिद्ध होता है फिर भी समीक्षक व्यवहार की सिद्धि के अभिप्राय से अन्य जो कुछ भी लिखता रहता है, इसका हमे खेद है।

आगे समीक्षक ने अपने उक्त कथन के समर्थन मे यह लिखा है कि – "इस तरह यही मानना युक्तिसगत है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब उपादान मे कार्योत्पत्ति उसकी अपनी योग्यता के आधार पर उन निमित्तो के सहयोग के अनुसार ही होती है" सो उसका ऐसा लिखना निश्चयनय के पक्ष का अपलाप करना ही कहा जायगा, क्योकि परमार्थ से उपादान कर्ता होकर स्वय कार्यरूप परिणमता है और कालप्रत्यासत्तिवश उक्त कार्य की अविनाभावी बाह्य वस्तु उक्त कार्य की परमार्थ कारण न होकर भी निमित्त कही जाती है। तथा इसके सहयोग से यह कार्य हुआ ऐसा प्रयोजनवश असद्भूत व्यवहार कर लिया जाता है। इसप्रकार परमार्थ और असद्भूत व्यवहार की विवक्षित कार्य के प्रति युति कैसे बनती है यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उपादान कारण कार्योत्पत्ति के लिये केवल आधार ही नही है, वह स्वय कर्ता होकर कार्यरूप परिणमता भी है। यदि कार्योत्पत्ति के समय छह कारकरूप उसे स्वीकार किया जाय तो ऐसा स्वीकार करना परमार्थ ही होगा। उसमे असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त का कथन तो प्रयोजनवश ही किया जाता है, जो मोक्षमार्ग मे गौण है। मात्र ससारमार्ग मे अज्ञानीजन ही उसके बोलवाले को स्वीकार करते हैं। मोक्षमार्ग मे जो उसकी प्ररूपणा है, वह मात्र प्रयोजनवश ही की गई है।(स प्र १३४)

उपादान स्वय कर्ता होकर कार्यरूप परिणमता है। कालप्रत्यासत्तिवश बाह्यवस्तु उसमे निमित्त होती है। यहाँ यदि समीक्षक निमित्त की कार्यकारिता असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा हृदय से स्वीकार कर लेता है तो इसमे हमे कोई आपत्ति नही, पर उसका ऐसा स्वीकार करना कि बाह्य निमित्त उपादान के कार्य की उत्पत्ति मे भूतार्थ रूप से सहायक है, आगमविरुद्ध तो है ही, पर्यायान्तर से जैनदर्शन में कर्तारूप मे ईश्वरवाद को घुसेडना ही कहा जायगा। (स पृ १३४)

आगे शकाकार समीक्षक ने १, २ आदि सख्या देकर जो कुछ लिखा है, सो उनके सक्षेप मे आगम क्या है – इसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है। यथा –

(१) समर्थ उपादानकर्ता स्वय अर्थात् अपने आप ही पर की अपेक्षा किये बिना कार्यरूप परिणमता है – यह परमार्थ है, क्योकि अपेक्षा विकल्प मे होती है, उसे छोडकर अपेक्षा वस्तु मे नही होती। और परमार्थ परनिरपेक्ष होता है – ऐसा आगमवचन है – "स्वाश्रितो निश्चयनय।" व्यवहार से पराश्रित कथन अवश्य किया जाता है, परन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप वस्तु पराश्रित नही होती। अज्ञात और ज्ञात दोनो अवस्थाओ मे वह स्वाश्रित ही रहती है। मान्यता मे पराश्रित मानना दूसरी बात है। उस आधार पर वस्तु को ही पराश्रित मानना कल्पना के सिवाय और क्या कहा जा सकता है।

(२) असद्भूत व्यवहारनय से यह तो कहा जाता है कि इसकी सहायता से यह कार्य हुआ, पर बाह्य निमित्त का सहायक होना भूतार्थ है, यह जो समीक्षक का मानना है, यही आपत्तियोग्य है। एक ओर निमित्त को समीक्षक असत् कारण कहता है और दूसरी ओर उसकी सहायता को भूतार्थ भी मानता है। सो उसके ऐसे अनर्गल कथन को आगम सम्मत कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् नही कहा जा सकता है।

(३) पर मे "ममेद" इस असद्भूत व्यवहार का नाम ही सयोग है। अन्यथा दो वस्तुओ मे स्वरूप मे सयोग सबध नही बनता। ऐसी अवस्था मे समीक्षक का यह लिखना कि "उसीप्रकार उपादान कारणभूत वस्तु की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर कार्य के प्रति निमित्त कारणभूत वस्तु मे स्वीकृत कारणता भी वास्तविक है।" सो उसका ऐसा लिखना इसलिये हास्यास्पद प्रतीत होता है, क्योकि एक ओर तो बाह्य निमित्त मे कारणता को वह अयथार्थ स्वीकार करता है। (स पृ. ४ पैरा ७) और दूसरी ओर यहाँ उसकी कारणता को वह वास्तविक मान लेता है। इस प्रकार उसके इस परस्पर विरुद्ध कथन को कौन विवेकी यथार्थ मानेगा, इसका उसे स्वय विचार करना चाहिये।

यद्यपि समीक्षक यहाँ यह कह सकता है कि पहले हम (स पृ. ४ मे) निमित्त मे जो अयथार्थ कारणता लिख आये हैं, वह निमित्त उपादान के कार्यरूप नही 'परिणमता", इस आधार पर नही। सो उसका ऐसा लिखना या कहना इसलिये आगमविरुद्ध है, क्योकि एक स्वर से आगम यही स्वीकार करता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वय अपने आप ही कार्यरूप परिणमता है। जैसा कि आगम मे कहा है –

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्ते पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

इसकी व्याख्या करते हुए पडित प्रवर टोडरमलजी लिखते हैं –

"जब जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमन करता है, तब उन भावो का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वय ही कर्मरूप अवस्था को धारण करता है।"

इसलिये यही निश्चय करना चाहिये कि उपादान कर्त्ता होकर अपने कार्य को स्वय (अपने आप या परनिरपेक्ष होकर) उत्पन्न करता है, किन्तु कालप्रत्यासत्तिवश अन्य वस्तु मे निमित्त व्यवहार होकर असद्भूत व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि इसको निमित्तकर यह कार्य हुआ। (स पृ १३५)

(४) समीक्षक द्वारा की गई व्याख्या से मालूम पडता है कि वह बाह्य निमित्त के प्रेरक और उदासीन ये दो भेद परमार्थ मे मान लेता है और इस आधार पर वह यह भी मान लेता है कि प्रेरक निमित्तो के बलपर कार्य, कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य के होनेपर न होकर प्रेरक निमित्तो के बलपर उपादान मे आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और इसके लिये वह उपादान को अनेक योग्यतावाला भी मान लेता है। और इस आधार पर वह यह भी मान लेता है कि उपादान से कार्य होकर भी उपादान की उन अनेक योग्यताओ मे से जिस योग्यता के अनुकूल निमित्त होते हैं उस रूप उस उपादान मे परिणाम की उत्पत्ति निमित्तो के बलपर होती है। उसके मत से इसे ही यदि उपादान के परमुखापेक्षी होने के आधार पर प्रेरक निमित्तों का बोलबाला कहा जाय तो कोई आपत्ति नही है, परन्तु वस्तुस्थिति यह नही है। इस सम्बन्ध मे विशेष खुलासा हम पहले ही कर आये हैं। फिर भी यहां प्रयोजन के अनुसार लिखते हैं –

यह समीक्षक द्वारा प्रकृत मे किये गये पूरे वक्तव्य का सार है। यदि इसके द्वारा उक्त तीन दौरो के साथ इस समीक्षा मे किये गये कथन का सार माना जाय तो कोई अयुक्ति नही होगी। उसके अनुसार –

(१) वस्तुत इस द्वारा समीक्षक ने उक्त कथन द्वारा निश्चय पक्ष को पराश्रित और व्यवहारपक्ष को स्वाश्रित मानकर पूरे जिनागम को उलट कर रख दिया है।

(२) उसे उसकी चिन्ता नही कि हमारा ऐसा लिखना जैनदर्शन न होकर पराश्रित नैयायिक दर्शन हो जायगा, उसे तो जैनधर्म द्वारा स्वीकृत सम्यक् नियति को कैसे असत्य ठहराया जाय, इसकी चिन्ता है, आगम की नही।

(३) इस द्वारा वह समीक्षक निश्चयपक्ष को पराश्रित और व्यवहार पक्ष को स्वाश्रित बनाने का प्रयत्न तो कर ही रहा है, साथ ही वह द्रव्य स्वभाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है, इसका निषेध कर उसे पराश्रित रूप से उत्पाद व्यय-ध्रौव्य स्वरूप सिद्ध करने का भी असफल प्रयत्न कर रहा है।

इतना लिखने के बाद अब हम देखें कि यह "प्रेरक" शब्द का प्रयोग मुख्यता से आगम मे कहाँ-कहाँ आया है –

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः।
वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी ।। (स अ ५ सू १९)

यह सर्वार्थसिद्धि का उदाहरण है। इसमे पुद्गल शब्द परिणत हो, इस कार्य मे उसप्रकार की सामर्थ्य से युक्त क्रियावान् आत्मा को प्रेरक कहा गया है।

यह पहला उदाहरण है, सो इसका तो इतना ही अर्थ है कि सकर्मा आत्मा के इच्छापूर्वक की गयी क्रिया को निमित्तकर वहाँ स्थित पुद्गलवर्गणायें स्वय ही शब्दरूप परिणम जाती हैं। इसके लिये आप्तमीमासा के "बुद्धिपूर्वापेक्षाया" इत्यादि वचन पर दृष्टिपात करना चाहिये।

समीक्षक हमारे इस कथन को आगमानुकूल न माने तो वही हम उससे पूछना चाहेंगे कि आ अमृतचद्रदेव ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे जो "जीवकृत परिणाम" इत्यादि वचन कहा है, सो वहाँ यह समीक्षक ही बतलावे कि जीव के रागादि परिणाम यदि उक्त न्याय के अनुसार कर्म की प्रेरणा से होते हैं तो फिर उन परिणामो को आचार्य ने जीवकृत क्यो कहा ?

यदि वह कहे कि उन परिणामो का कर्त्ता तो स्वय जीव ही है, कर्मों का उदय नही, उनका उदय तो निमित्तमात्र है। यदि ऐसा है तो हम कहते हैं कि समीक्षक को प्रकृत मे ऐसा मानने मे क्या आपत्ति है अर्थात् कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिये।

तो यहाँ हमारा पूछना है कि आत्मा ने इच्छा स्वय की कि कर्म के उदय की प्रेरणा से हुई ?

यदि वह कहे कि आत्मा ने इच्छा स्वय नही की, किन्तु कर्म के उदय की प्रेरणा से हुई, तो हम कहेंगे कि कर्म तो जड हैं, इसलिये जब वह प्रेरणा कर ही नही सकता, ऐसी अवस्था मे कर्म के उदय की प्रेरणा से इच्छा हुई, यह कहने की अपेक्षा यह कहना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि आत्मा ने स्वय की, कर्म का उदय उसके होने मे निमित्तमात्र है।

अत "प्रेर्यमाण" पद को असद्भूत व्यवहारनय का कथन मानकर प्रकृत मे यही समझना चाहिये कि वास्तव मे क्रियावान् आत्मा पुद्गल को शब्दरूप परिणमाने की सामर्थ्य से रहित है, फिर भी उसमें उसप्रकार की सामर्थ्य का आरोप करके उसे उपचार से शब्दरूप परिणमने मे प्रेर्यमाण कहा गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा उदाहरण पचास्तिकाय गाथा ८८ की समय व्याख्या का है —

यथा हि गतिपरिणतः प्रभजन वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते, न तथा धर्मः। खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते।

जैसे कि गति परिणत वायु ध्वजाओ के गति परिणाम का हेतु कर्त्ता देखा जाता है, उसप्रकार धर्मद्रव्य नही, क्योकि वह निष्क्रिय होने से गति परिणाम को कभी प्राप्त नही होता।

इस उदाहरण मे कहा गया है कि क्रियावान् पदार्थ अन्य के कार्य मे हेतुकर्त्ता अर्थात् प्रेरक होता है, निष्क्रिय द्रव्य नही, क्योकि वह कभी भी गति परिणाम को नही प्राप्त होता। यत वायु गति परिणाम करता है और उसे निमित्त कर ध्वजा भी गति परिणामस्वरूप परिणमने लगती है। सो यह क्रियावान् दोनो द्रव्यो को लक्ष्य मे रखकर उदाहरण मात्र है। वायु जानकर क्रिया परिणाम रूप नही परिणम सकता है। इससे यह सूचित होता है कि जितने भी कार्य वर्तमान मे हुई चेष्टापूर्वक होते हैं, उनमे आगम के अनुसार आत्मा ने यह कार्य पुरुषार्थपूर्वक किया ऐसा व्यवहार होता है, उन्हे ही प्रायोगिक कहा जाता है, अन्य को नही; क्योकि अन्य को हेतुकर्त्ता कहना उपचार का उपचार मात्र है।

इष्टोपदेश मे यह वचन उपलब्ध होता है —

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

इसकी टीका मे प० आशाधरजी ने लिखा है —

भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वे तत्त्वज्ञत्व धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति।

अर्थ —हे भद्र ! तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदि जीव को धर्माचार्यादि के हजारो उपदेश मिलने पर भी वह विज्ञपने को नही प्राप्त हो सकता।

आशय यह है कि उपादान मे कार्यरूप परिणमने की योग्यता होने पर वह स्वय कार्यरूप परिणमता है और वाह्य सामग्री उसमे उसीसमय निमित्त होती है, क्योकि निमित्तपने को प्राप्त हुई वाह्य सामग्री और उपादानभूत द्रव्य के कार्य मे नियम से वाह्य व्याप्ति होती है, इसी को काल-प्रत्यासत्ति कहते हैं। यदि वाह्य सामग्री मे कारणता भूतार्थ मानी जाय तो जैसे शुक अपनी सहज योग्यतावश वाह्य सामग्री के सद्भाव मे पढने लगता है, उसीप्रकार सहज योग्यता के अभाव मे भी वाह्य सामग्री के वल से वक को भी पढ लेना चाहिये, किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वाह्य निमित्त के वल से वक नही पढ सकता और शुक पढ़ लेता है। इससे मालूम पडता है कि वाह्य सामग्री तो कार्य मे निमित्त मात्र है, जो भी कार्य होता है, वह द्रव्य मे पर्याय-योग्यता के प्राप्त होने पर ही होता है। इसीकारण भट्टाकलकदेव ने दैव का लक्षण करते हुए अपनी अष्टशती टीका मे लिखा है कि **"पुराकृत कर्म योग्यता च दैवम्'** अर्थात् पहले किया गया कर्म और योग्यता, इन दोनो को दैव कहते हैं। देखो १४वें गुणस्थान मे असातावेदनीय का उदय तो है, पर तज्जन्य दु:ख और उसका वेदन नही है, क्योकि उस समय उस जीव मे द्रव्य पर्याययोग्यता का अभाव हो गया है। इसलिये सिद्धान्त यह फलित होता है कि वाह्य सामग्री का सद्भाव या क्रिया-शीलता कार्य की नियामक नही होती। उपादानगत द्रव्य-पर्याय योग्यता ही कार्य की नियामक होती है, क्योकि ऐसे उपादान के अनन्तर समय मे नियम से कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये समीक्षक को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वाह्य पदार्थ मे,कार्य के काल मे मानी गई किसी प्रकार की भी निमित्तता उदासीन निमित्त के समान एक ही प्रकार की होती है। वह समीक्षक के मतानुसार प्रेरक और उदासीन के भेद से दो प्रकार की नही होती। विवक्षाभेद से उसे दो प्रकार का कहना या लिखना और वात है। होती है वह एक ही प्रकार की। यही इष्टोपदेश के वचन के अनुसार पचास्तिकाय के उक्त वचन का आशय है।

आगे स पृ १३६ मे जो समीक्षक ने दोनो के कथनो मे समानता दिखाने का प्रयत्न किया है, सो उपहास मात्र है, क्योकि हम वाह्य निमित्त आगमानुकूल जो अर्थ करते हैं, उसे समीक्षक स्वीकार ही नही करता। इसीप्रकार हमने उपादान का जो आगमानुसार अर्थ किया है कि प्रत्येक द्रव्य के उपादान की स्थिति मे पहुँचने पर अनतर समय मे उसके अनुसार नियम से कार्य होता है, सो इसको भी समीक्षक स्वीकार नही करता। फिर दोनो के कथनो मे समानता कैसी ? समीक्षक की एक आदत है कि वह मन्तव्य की पुष्टि मे तो विधान तो करता है, पर इसके समर्थन मे आगमप्रमाण नही उपस्थित कर पाता। उससे चारो दौरो मे जो कुछ लिखा है, वह आगम को सामने रखकर नही लिखा है। आगम का काल्पनिक अर्थ करके उसे वह आगमप्रमाण माने, यह दूसरी वात है। उसने जो कुछ भी लिखा है, वह अपने कल्पित मत का प्रचार करने के अभिप्राय से ही लिखा है। विशेष क्या लिखें ?

कथन न ४६ का समाधान—लौकिक दृष्टि से ससारी प्राणी जो मान्यता वनाता है, उस मान्यता को यदि आगम कहा जाय तो अज्ञान और सम्यग्ज्ञान मे अन्तर ही क्या रहेगा ? मालूम पडता है कि समीक्षक आगम के स्थान मे अपनी मान्यता को आगम वतलाकर आप जनता को दिशा-भूल करना चाहता है। आगम तो उपादान की अपेक्षा अव्यहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य

मे उसके अनुसार ही कार्य होता है। आगम मे वहाँ भी कार्यकारण भाव का सूक्ष्म विचार किया गया है। वहाँ जितने कार्य बुद्धिपूर्वक होते हैं, उन्हे प्रायोगिक कार्य कहा गया है और शेष सब कार्यों को विश्रसा कहा गया है।[1] यद्यपि आगम मे बाह्य कारण के विषय मे उदासीन कारण-और प्रेरक कारण ये नाम अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इनका उक्त दो कारणो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए हम पूर्व मे तत्त्वचर्चा के प्रसग मे आगम के अनुसार जो अभिप्राय व्यक्त कर आये हैं, वही ठीक है, इसमे सन्देह के लिए कोई स्थान नही है। हम समझते हैं कि समीक्षक अपनी मान्यता को आगम पर लादने की अपेक्षा आगम के अनुसार अपने ज्ञान मे सशोधन कर लेगा।

कथन न. ४७ का समाधान —जिसे अपर पक्ष प्रेरक कारण कहता है, वह अयथार्थ कारण है – ऐसा समीक्षक स्वय स पृ ४ मे लिख आया है। फिर भी वह उक्त कारण के बलपर कार्य को सुनिश्चित उपादान के अनुसार होना न मानकर कार्य का आगे-पीछे कभी भी होना बतलाने से विरत नही होता, इसका हमें ही क्या, सभी को आश्चर्य होगा।

समीक्षक इस कथन के अन्तर्गत लिखता है कि "यह बात दूसरी है कि वस्तु मे उपादान शक्ति का अभाव रहने पर कोई भी निमित्त उस शक्ति को उत्पन्न नही कर सकता है।" सो यहाँ यह देखना है कि समीक्षक उपादान से किसको ग्रहण करके यह अभिप्राय व्यक्त कर रहा है। यदि वह द्रव्यशक्ति को उपादान मानकर यह अभिप्राय व्यक्त करता है तो अकेली द्रव्यशक्ति तो उपादान हो ही नही सकती, क्योकि बालू भी पुद्‌गल है और मिट्टी भी पुद्‌गल है। यदि घटकार्य की उत्पत्ति मे मात्र पुद्‌गल होना चाहिए, भले हो वह किसी भी पयाय मे क्यो न हो, तो बालू भी घट बन जाना चाहिए, क्योंकि वह भी पुद्‌गल है। यदि कहो कि बालू मे घटकार्य को उत्पन्न करने की द्रव्य-शक्ति नही पायी जाती, इसलिए बालू मे घटकार्य की उत्पत्ति नही हो सकती। तो अधिक विवाद मे न पडकर हम कहते हैं कि जो मिट्टी प्रायोगिक निमित्तरूप कुभकार को निमित्तकर चाकपर रखी हुई है, उसमे पिण्ड की भूमिका मे ही घट बन जाना चाहिए, क्योकि उस समय उसमे द्रव्यशक्ति बराबर मौजूद है। यदि कहो कि जब वह मिट्टी प्रायोगिक बाह्य कारण को निमित्तकर अव्यवहित पूर्वपर्याय-रूप अवस्था को स्वय बना लेती है, तभी वह घट पर्यायरूप परिणमति है, तो वहाँ हम कहेगे कि उनमे भी वह अपने परिणाम स्वभाव के कारण ही परिणमती है, प्रायोगिक बाह्य निमित्त के कारण नही। ऐसा वस्तुस्वभाव है, इसलिए समीक्षक को सर्वप्रथम आगम के अनुसार उपादान का निर्णय ले लेना चाहिए। यदि वह निर्णय ले ले तो हमे विश्वास है कि उसके द्वारा ऐसा आगमविरुद्ध लिखना स्वय बद हो जायगा।

लोक और आगम मे जिसे अनुकूल निमित्त कहते हैं, वह कार्यकाल मे नियम से होता है - ऐसी उनमे बाह्य व्याप्ति है। इसी अर्थ मे स्वामी समन्तभद्र ने स्वयभूस्तोत्र मे **"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय"** इस वचन का निर्देश किया है। अधिक क्या लिखें, और इसी अर्थ मे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे यह सूत्रवचन उपलब्ध होता है –

---

1 त वा अ ५ सू २४ पृ २३२-बधोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोग भेदात्।

पुव्वपरिणामजुत्त, कारणभावेण वट्टदे दव्व ।
उत्तरपरिणामजुद ते कज्ज हवे णियमा ।।

कथन न ४८ का समाधान :—यहाँ पर स पृ. १६३ मे अनेक बातो का निर्देश करने के बाद समीक्षक ने दो बातो का मुख्यरूप से उल्लेख किया है —

(१) "इस मान्यता का आशय यह है कि जब उपादान को अपनी विवक्षित कार्यरूप परिणति के अनुकूल निमित्त का योग मिलता है, तब ही उपादान की वह विवक्षित कार्यरूप परिणति होती है और न मिलने पर नही होती है।"

(२) यदि कहा जाये कि ससार और मोक्षरूप परिणमन जीव के ही परिणमन हैं, इसलिए वास्तविक हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से तो वे जीव के नहीं है। व्यवहारनय से ही उसके व्यवहृत होते हैं।"

क्रम से इन दोनो का समाधान इसप्रकार है—

(१) उपादान अव्यहित पूर्वपर्यायियुक्त द्रव्य को कहते हैं और वह नियम से प्रतिसमय कार्य को जन्म देता है – ऐसा वस्तु का स्वभाव है। और उसी आधार पर बाह्य निमित्त कारण भी यथा-योग्य अवश्य रहता है, ऐसी कार्यकारणभाव की त्रैकालिक व्यवस्था है। इसलिए उपादान को बाह्य निमित्त मिले, तब उपादान अपना कार्य करता है, यह समीक्षक का लिखना एकान्त होने से भ्रम को उत्पन्न करने वाला होने से आगम के अनुसार मान्य नही हो सकता, क्योकि इससे निश्चयनय के कथन की उपेक्षा होती है।

(२) ससार और मोक्षरूप परिणमन निश्चय पर्यायार्थिकनय से जीव की पर्यायें हैं। जहाँ भी इन्हे व्यवहारनय से जीव की कही गई है – वहाँ भेदविवक्षा मे सद्भूतव्यवहार ही लिखा गया है, किन्तु जहाँ शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा रहती है, वहाँ भेद गौण होकर अभेद मुख्य हो जाता है और इस अपेक्षा से परसापेक्ष आत्मा को ही बधरूप और परनिरपेक्ष स्वभावरूप परिणत आत्मा को ही मोक्षरूप कहा जाता है। इसके लिए समयसार गाथा १४ और उसकी आत्मख्याति टीका का अवलोकन करना चाहिए।

एक बात यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि जहाँ भी बाह्यवस्तु को कार्य के काल मे निमित्तरूप से विवक्षित करके सहायक कहा जाता है, वहाँ वह उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है। इसलिए निमित्त उपादान की कार्यरूप परिणति में कार्यकारी होकर सहायक होता है, यह कहना उसीप्रकार उपचरित है जिसप्रकार कि निमित्त कथन को आगम मे उपचरित स्वीकार किया गया है। वैसे देखा जाए तो सहायक और बाह्य निमित्त इन दोनो मे से किसी एक के उपचरित स्वीकार कर लेने पर उसी को सहायक कहना स्वय उपचरित हो जाता है। फिर भी समीक्षक स पृ १३३ पैरा २ मे उसे वास्तविक सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है। यह विडम्बनापूर्ण स्थिति है।

म पृ. १३४ मे समीक्षक ने प्रमेयकमलमार्तण्ड का नाम लेकर जिस अपनी बात का समर्थन करने का प्रयत्न किया है, सो हम उससे निवेदन करेंगे कि वह अपनी मान्यता को अपने तक ही सीमित रहने दे, आगम पर लादने का प्रयत्न न करे, क्योंकि वह अपनी मान्यता को प्रमेयकमलमार्तण्ड ना नाम लेकर यदि आगमपर लादेगा तो आगे दिए जानेवाले उद्धरण से जो आपत्ति उपस्थित होती है, उसका वह निवारण नही कर सकेगा। यथा —

"नहि द्रव्यादिसिद्धिक्षणे सहयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्य-कारणभावे विचारयितुमुत्क्रांत येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि ? प्रथम-सिद्धक्षणेन सह तत्र च तत्समर्थमेव इति असच्चोद्यममेतत्। कथमन्यथाग्नि प्रथमधूमक्षण-मुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात् ? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेप्यसामर्थ्यप्रसच्येः। तथा च न किंचित्कस्याचित्सामर्थ्यं कारणम्, न च असमर्थत्कारणादुत्पत्तिरिती क्वेय वराकी तिष्ठेत्कार्यकारणता। (श्लोक वा. ७०-७१)

अर्थ :—सिद्धो के दूसरे आदि सिद्धक्षणो के साथ अन्तिम समयवर्ति अयोगकेवली के रत्नत्रय के कार्यकारणभाव का विचार करने के लिए प्रस्तुत नही है, जिससे वहाँ उसकी (समर्थ-उपादान की) असामर्थ्य की आपत्ति प्राप्त हो।

शंका —तो क्या है ?

समाधान —प्रथम सिद्धक्षण के साथ यहाँ पर कार्यकारणभाव विवक्षित है और वहाँ पर समर्थ उपादान प्रथम सिद्धक्षण को उत्पन्न करने मे समर्थ ही है, इसलिए शकाकार ने जो पहले कहा है, वह समीचीन नही हैं, अन्यथा अग्नि प्रथम धूमक्षण को उत्पन्न करती हुई वहाँ समर्थ कैसे हो सकती है ? यदि प्रथमादि धूमक्षण से द्वितीयादि धूमक्षणो के उत्पन्न होने पर उनको उत्पन्न करने मे प्रथम धूमक्षणादि से असमर्थ होने के अग्नि के द्वारा भी प्रथम धूमक्षण के उत्पन्न करने मे असमर्थ होने का प्रसग प्र प्त होता है।

आगे समीक्षक ने स पृ १३५ (४) में जो बाह्य निमित्त के प्रेरक और उदासीन ये दो भेद किए हैं, इनके सम्बन्ध मे हम पहले ही इसी कथन ४७ मे स्पष्टीकरण कर आए हैं। बाह्यनिमित्त को प्रेरक और उदासीन कहना यह कथन मात्र है। प्रायोगिक और वैस्त्रसिक कहना आगम के अनुसार है।

हमारे और समीक्षक के मध्य जो उपादान और बाह्य निमित्त के विपय मे भेद हैं, यह पूर्वोक्त कथन से ही स्पष्ट हो जाता है, उसको पुन पुनः दोहराने से कोई लाभ नही। समीक्षक का समर्थ उपादान का आगमसम्मत जो लक्षण है, उसे स्वीकार करने मे ही लाभ है और उसी मे आगम की मर्यादा है।

कथन न ४९ का समाधान :—इस कथन मे समीक्षक ने बाह्य निमित्त को अयथार्थ कारण मानकर भी उसके सहायक होने को यथार्थ मानने का निर्देश किया है, सो वह उसकी अपनी

मान्यता है, क्योंकि जो अयथार्थ कारण हो, उसका सहायक हो जाए यह त्रिकाल में सभव नही है। विचार कर देखा जाए तो समर्थ उपादान के द्वारा होने वाले कार्यकाल में बाह्य व्याप्तिवश बाह्य वस्तु को चाहे निमित्त कहो या सहायक – दोनो का अर्थ एक ही है। इससे यह अपने आप ध्वनित हो जाता है कि बाह्य निमित्त वास्तव मे निमित्त नही है, उपचार से निमित्त अर्थात् उपचार से सहायक है। बाह्य वस्तु है तो सत्, उसमे निमित्तपना या सहायकपना प्रयोजनवश आरोपित है।

कथन न ५० का समाधान —इस कथन मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जब कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय निमित्त कारणभूत बाह्य सामग्री की सहायता से भी निष्पन्न होती है – ऐसा आगम है तो अपरपक्ष के उक्त कथन के पूर्वपक्ष के प्रश्न का समाधान नहीं होता – वह तदवस्थ बना रहता है।" इसके उत्तर मे हमारा यही कहना है कि समर्थ उपादान से होनेवाले कार्य के साथ बाह्य व्याप्ति नियम से होती है। उदाहरणस्वरूप कर्मोदय से होनेवाली कोई भी पर्याय उक्त बात का समर्थन करती है, क्योंकि जिस समय क्रोधादि कर्म का उदय होता है, उसी समय क्रोधादि कषाय होती है – ऐसा इन दोनों मे अविनाभाव सम्बन्ध है। दूसरी बात यह है कि केवल कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय उपादान न होकर कार्याव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान होता है। ऋजुसूत्रनय से कार्याव्यवहित केवल पूर्व पर्याय को उपादान कहना दूसरी बात है – तथा कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय को गौण कर द्रव्य को उपादान कहना भी दूसरी बात है, परन्तु वह द्रव्य कार्य का अव्यवहित पूर्व समयवर्ती होना चाहिये।

कथन नं ५१ का समाधान —इस कथन मे समीक्षक ने जिस कथन को उद्धृत कर अपना पक्ष प्रस्तुत किया है – उससे हमारे वक्तव्य का समाधान नही होता। आगम तो हमारे वक्तव्य का समर्थन करता है। आगम का उद्धरण हम कथन न ४८ के समाधान मे दे आये हैं। रही युक्ति की बात, सो आगम मे आगम के विरुद्ध अनुभव और युक्ति उपयोगी नही हो सकती। यहाँ उसके कथन के समाधानस्वरूप जो कुछ लिखा जा रहा है, वह आगम के अनुसार ही लिखा है, इसलिये प्रकृत मे युक्ति, अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्ष की दुहाई देना अपनी अनभिज्ञता को ही सूचित करता है।

कथन न. ५२ का समाधान —जब समीक्षक पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति ही कार्योत्पत्ति मे कार्यकारी होती है, उसे पूर्वपक्ष भी नही झुठलाता है, ऐसा स्वीकारता है तो उसे उक्त उपादान के अनुसार कार्य की उत्पत्ति के समय अनुकूल बाह्य निमित्त की निमित्तता भी स्वीकार कर लेनी चाहिये, क्योंकि इन दोनो मे कालप्रत्यासत्ति का नियम है।

कथन न ५३ का समाधान —समीक्षक ने हरिवश पुराण के श्लोक न ७१-७२ के आधार पर दैवशक्ति को जो द्रव्यशक्ति के रूप मे अभिप्रेत किया है, पर्यायशक्ति के रूप में नही, सो यह उस पक्ष का स्वकल्पित कथन मात्र है, क्योंकि हम यह इसी कथन मे बतला आये हैं कि केवल द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्ति मे समर्थन नही होती और केवल पर्यायशक्ति भी कार्योत्पत्ति मे समर्थ नही होती। इसलिये प्रत्येक कार्य मे पर्यायविशिष्ट द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी मानी गई है। यही अर्थ

हरिवशपुराण श्लोक न ७१-७२ प्रकृत मे अभिप्रेत है। इसे समीक्षक को झुठलाना नही चाहिये। पद-पद पर वह बाह्य निमित्त की सहायता की घोषणा करता है, परन्तु उस पक्ष को यह ध्यान मे रखना चाहिये कि जिस समय उपादान अपना कार्य करता है, उसी समय जिसे बाह्य निमित्त कहते हैं, वह स्वय भी उपादान होकर अपना कार्य करता है। यह एक योग है कि एक के कार्य मे काल-प्रत्यासत्तिवश दूसरे को निमित्त कहा जाता है। व्यवहार-निश्चय की यही युक्ति है, अन्य सब एकान्त है।

कथन नं ५४ का समाधान —इस कथन मे समीक्षक ने यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष के लेख को मैं गलत इसलिये कहता हूँ कि उसने पूर्वपक्ष पर कार्योत्पत्ति के प्रति कार्यकारी अतरग योग्यता को न मानने का उपर्युक्त प्रकार मिथ्या आरोप लगाकर लिखा है" सो उसका ऐसा लिखना इसलिये असगत है, क्योकि वह अनेक जगह यह विधान कर आया है कि उपादान हो और अनुकूल निमित्त का सहयोग न मिले तो कार्य आगे-पीछे कभी भी होता है। सो उसके इस कथन से मालूम पडता है कि समीक्षक अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य समर्थ उपादान है और जिस समय प्रत्येक वस्तु इस उपादान की भूमिका मे पहुँचती है, उस समय उसके अनन्तर समय मे नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है और कार्योत्पत्ति के समय अनुकूल बाह्य निमित्त का योग नियम से रहता है। इस कार्यकारण की सम्यक् व्यवस्था को समीक्षक स्वीकार ही नही करना चाहता और अपने मिथ्या विकल्पो के अनुसार आगम की इस सम्यक् व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न इस समीक्षा मे करता आ रहा है, जैसा कि इस कथन मे किया है, अन्यथा उसका भाव इस समीक्षा के लिखने का ही नही होता। इसी कथन मे समीक्षक ने क्रोध पर्याय का उदाहरण देकर जो उसके अनन्तर समय मे मान पर्याय के होने का उदाहरण उपस्थित किया है, सो कार्य-कारण की दृष्टि से वहाँपर समर्थ उपादान कारण क्रोधपर्याययुक्त आत्मद्रव्य ही है। इसमे आगम से कोई बाधा नही आती। इसकी पुष्टि मे हम तत्वार्थश्लोकवार्तिक का एक उद्धरण उपस्थित कर रहे हैं। उससे उक्त बात को स्पष्ट करने मे समीक्षक को सहायता मिलेगी, ऐसी हम आशा करते हैं—

दर्शनपरिणामपरिणतो आत्मा दर्शनम्। तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्ते। पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादि द्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादनत्वायोगात् कूर्मादिरोमवत्। (पृ. ७५)

अर्थ —नियम से दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा दर्शन है। वह उपादान है, क्योंकि उससे विशिष्ट ज्ञान परिणाम की उत्पत्ति होती है। ऐसा नियम है कि निरन्वय परिणाम मात्र को और जीवादि द्रव्यमात्र को सर्वथा उपादान होने का अयोग है। जैसे कछुवे आदि के रोम नही पाये जाते, वैसे ही अन्वयरहित पर्याय को तथा पर्यायरहित द्रव्य को उपादानता नही बनती।

इतने स्पष्ट आगमप्रमाण के रहते हुए भी कर्मशास्त्र की दुहाई देकर अपनी मान्यता के अनुसार समर्थ उपादान के कार्यरूप परिणति में बाह्य सामग्री की बलवत्ता को सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न यह बतलाता है कि वह पक्ष अपनी मान्यता के आगे आगम को कोई महत्व नही देता। इससे अधिक हम उस पक्ष के ऊपर और टिप्पणी क्या करें?

कथन न ५५ का समाधान :—समीक्षक ने निष्कर्षरूप मे जो यह लिखा है कि "कपडे की अपनी कार्यकारी अतरग योग्यता व प्रायोगिक ढग से प्राप्त दरजी के व्यापार आदि वाह्य सामग्री के आधार पर निष्पन्न हुई कोट पर्याय, उस वाह्य सामग्री की क्षण-क्षण मे होती हुई अन्य रूपता के आधार पर अन्य-अन्य रूप ही होती है।" सो इस कथन मे समीक्षक सशोधन करके आगे कहे अनुसार लिखे तो उक्त कथन आगमानुसार हो जावेगा। कपडा जब प्रत्येक समय मे अपने समर्थ उपादान के अनुसार कर्ता होकर अपनी प्रत्येक समय मे होनेवाली कोट पर्याय को निष्पन्न करता है तब दर्जी उसके होने मे स्वय प्रायोगिक निमित्त हो जाता है, क्योकि इस कथन मे कपडेरूप कर्ता की स्वतत्रता के साथ दर्जीरूप निमित्त की स्वतत्रता अक्षुण्ण बनी रहती है और इस प्रकार इस कथन मे व्यवहार-निश्चय कथन की आगमानुसार सगति बैठ जाती है। इसके सिवाय समीक्षक के उक्त कथन मे ऐसी कोई और बात नहीं है, जिसका हम यहाँ खुलासा करें।

कथन न. ५६ का समाधान :—समीक्षक जब व्यवहारनय के कथन को अभूतार्थ कहता है तो उसे परद्रव्य के कार्य मे निमित्त की सहायता को अभूतार्थ ही मान लेना चाहिये। उस पक्ष का वह कौन सा ढग है, जिसके अनुसार व्यवहारनय के कथन को वह भूतार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। यह तो आगम की चर्चा है, इसमे ऐसा ढग मान्य नही हो सकता, जो स्वरूप से सत् न हो या उपचार सत् न हो।

कथन न ५७ का समाधान – समीक्षक ने इस कथन मे हमारे जिस वक्तव्य का उल्लेख किया है, वह यथार्थ है। हमने वह वक्तव्य निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिये नही लिखा है, क्योकि जितने भी वाह्य निमित्त हैं, वे परके कार्य करने मे स्वरूप से ही असमर्थ होते हैं। उनको परके कार्य करने मे अकिंचित्कर सिद्ध करने का हमारा कोई प्रयोजन भी नही था। हमने तो केवल उस वक्तव्य मे निश्चयनय की व्यवस्था को ही स्पष्ट किया है। समर्थ उपादान स्वय कर्ता होकर निरपेक्ष होकर ही अपना कार्य करता है और जिसे हम वाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी स्वय कर्तारूप से परनिरपेक्ष होकर अपना कार्य करता है। इसप्रकार स्वतत्र होकर दोनो ही अपना-अपना कार्य करते हैं। कालप्रत्यासत्तिवश यह तो तत्काल योग की वात है कि एक के कार्य मे दूसरे को वाह्य निमित्त कहा जाता है। इसलिये परको अपने से भिन्न परके कार्य मे किसी भी ढग से कार्यकारी अर्थात् भूतार्थ रूप से सहायक मानना ही मिथ्यात्व है। असद्भूत व्यवहारनय से सहायक कहने मे कोई आपत्ति नही।

कथन न ५८ का समाधान .—इस कथन मे समीक्षक ने अपने वक्तव्य द्वारा निश्चय कथन को जो पराश्रित वनाने का प्रयत्न किया है, यही उसका आगम विरुद्ध कथन है, क्योकि चाहे प्रायोगिक वाह्य निमित्त ही क्यो न हो, निश्चय को उसके आश्रित मान लेने से निश्चय, निश्चय ही नही रह जाता, वह व्यवहार हो जाता है और जो व्यवहार से वाह्य निमित्त है, वह निश्चय का स्थान ग्रहण कर लेता है। उसने आगमविरुद्ध अपनी मान्यता का समर्थन करते हुए आगमविरुद्ध इस कथन को जो वल दिया है, वह युक्तियुक्त नहीं है, आगमविरुद्ध तो है ही।

कथन न ५९ का समाधान —स पृ ६५-६६ पर समीक्षक के द्वारा लिखा गया यह वचन देखने मे नही आता कि "अपरपक्ष इष्टोपदेश के नाज्ञो विज्ञत्वमायाति इत्यादि श्लोक को द्रव्यकर्म के विषय मे स्वीकार नही करता, क्यो स्वीकार नही करता, इसका उसकी ओर से कोई कारण नही बतलाया गया है।" अत इस आधार पर समीक्षक द्वारा इस कथन मे जितनी समीक्षा की गई है, वह हमारे उपर लागू नही होती।

स पृ ६५-६६ को देखने से इतना सकेत हम अवश्य कर देना चाहते हैं कि कार्यकाल मे कौन कारण गौण होता है और कौन कारण मुख्य, यह सवाल ही नही उठता। यह तो विकल्प का विषय है। कहाँ हम किसको गौण या मुख्य कहते हैं, यह विवक्षा के उपर निर्भर है।

कथन न ६० का समाधान —विवक्षित पर्याय विशिष्ट द्रव्य ही विवक्षित कार्य का समर्थ उपादान होता है यह कथन हम पहले स्पष्टीकरण करते हुए सप्रमाण सिद्ध कर आये हैं। यह जैनदर्शन की सम्यक् व्यवस्था है। ऐसी अवस्था मे समीक्षक द्रव्ययोग्यता को उपादान मानकर निमित्त के बलपर यदि कार्य की उत्पत्ति की मान्यता की हठ नही छोडता है तो त च. पृ २५ पर हमने जा यह आपत्ति उपस्थित की है कि यदि केवल द्रव्य-योग्यता को उपादान मानकर उससे निमित्त के बलपर घट की उत्पत्ति के समान उससे पट की उत्पत्ति भी हो जानी चाहिये, क्योकि पुद्गल सामान्य की अपेक्षा घट और पट दोनो ही पुद्गल के के कार्य हैं। यदि वह कहे कि मिट्टी मे पट कार्यरूप द्रव्य योग्यता नही पायी जाती, इसलिये मिट्टी से पट नही बन सकता। सो समीक्षक का यह कहना भी युक्तियुक्त नही है, क्योकि जिसप्रकार मिट्टी मे पट बनने की योग्यता नही पायी जाती, क्योकि उस मिट्टी से घट की उत्पत्ति न होकर स्थूल दृष्टि से स्यास पर्याय की ही उत्पत्ति होती है, अत यह मानना ही उचित प्रतीत होता है कि जिस पर्याय विशिष्ट मिट्टी से अनन्तर समय मे घटपर्याय निष्पन्न होती है, वह मिट्टी घट पर्याय का समर्थ उपादान हो सकती है, अन्य मिट्टी नही।

आगे चलकर पृ १४७ मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "कोई भी द्रव्य किसी भी विवक्षित पर्याय के परिणमन के सन्मुख तभी होता है, जब प्रेरक निमित्त कारणभूत अन्य सामग्री के सहयोग उसे प्राप्त हो जाता है" सो उसका यह कथन भी इसलिये आगम विरुद्ध है, क्योकि विवक्षित कार्यकाल मे ही विवक्षित अन्य सामग्री निमित्त मात्र होती है, ऐसी आगमिक परम्परा है, इसलिये जभी और तभी का सवाल ही नही उठता। जैसा कि छहढाला ढाल–४ पद–१ मे कहा है –

सम्यक् साथे ज्ञान होय पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान दुहू में भेद अबाधो॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तें होई॥

तथा इसी अर्थ को तत्वार्थवार्तिक मे भी स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है –

यदा मृद· स्वय अन्तर्भवन्घटपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेय-प्रयत्नादि निमित्तमात्र भवति।

यथा-मिट्टी के स्वय भीतर से घट परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष का प्रयत्न विशेष निमित्त मात्र होते हैं।

इन उल्लेखो से यह अच्छीतरह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे समीक्षक प्रेरक कारण कहता है, उसके बलपर मिट्टी घटपर्याय के सन्मुख नही होती, किन्तु जब मिट्टी घटपर्याय के सन्मुख होती है, तभी प्रायोगिक (प्रेरक) कुम्भकार आदि बाह्य पदार्थ निमित्तमात्र होते हैं और यह ठीक भी है, क्योकि कुम्भकार प्रभृत्ति कोई भी पदार्थ अपने से भिन्न किसी भी कार्य का परमार्थ से कारयिता नही होता, अन्य पदार्थ के कार्य मे बाह्य द्रव्य मात्र निमित्त होता है। (देखो समयसार गाथा १०७)

कथन न ६१ का समाधान:—समीक्षक जब यह मानता है कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य का परमार्थ से कर्ता नही होता, तब वह अपने इस आग्रह को क्यो नहीं छोड देता कि सम्यक उपादान के रहते हुए भी यदि बाह्य निमित्त न मिले तो कार्य आगे-पीछे कभी भी हो सकता है, बाह्य-निमित्त के बलपर। उसका ऐसे आग्रह को छोडे बिना कोई चारा नही, क्योकि समर्थ उपादान और उपचार से समर्थ निमित्त का योग एक काल मे होता ही है।

कथन नं ६२ का समाधान:—चाहे निमित्त निष्क्रिय या क्रियासहित द्रव्य क्यो न हो, पर के कार्य करने मे स्वरूप से वह अकिंचित्कर ही है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य स्वय अपना ही कार्य करता है, कोई किसी का कार्य नही करता। किसी कार्य का असद्भूत व्यवहार से निमित्त होना और बात है और उसका परमार्थ से कर्ता होना या सहायक होना दूसरी बात है।

कथन न ६३ का समाधान:—इस कथन मे तत्त्वचर्चा पृ २५ के अपने कथन का उल्लेख करते हुए समीक्षक ने जो अनेक विपरीत मान्यतायें बना रखी हैं, उनको लक्ष्य मे रखकर पृ ६६ मे दिया गया हमारा उत्तर यथार्थ है, वह यहाँ पर अविकल लागू होता है, किन्तु हमे खेद है कि वह इस कथन का ऐसा विपर्यास करता है, जिसका प्रकृत मे कोई प्रयोजन नही। इसका विशेष विचार हम छठी शका के तीसरे दौर के उत्तर मे करनेवाले हैं, इसलिये इस आधार से इसकी विशेष चर्चा करना हम यहाँ इष्ट नही मानते। "जिसप्रकार विवक्षित कार्य की विवक्षित बाह्य सामग्री ही नियत हेतु होती है, उसप्रकार उसकी विवक्षित उपादान सामग्री ही नियत हेतु होती है। अतएव प्रत्येक कार्य प्रत्येक समय मे प्रतिनियत आभ्यतर बाह्य सामग्री को निमित्त कर ही उत्पन्न होता है—ऐसा समझना चाहिये। स्व-पर प्रत्यय परिणमन का अभिप्राय भी यही है। इसपर से उपादान को अनेक योग्यता-वाला कहकर बाह्य सामग्री के बलपर चाहे जिस कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना मिथ्या है।" समीक्षक को इसे हृदयगम कर लेने की आवश्यकता है।

कथन न ६४ का समाधान:—समीक्षक के इस कथन मे विशेष कोई वक्तव्य देने की आवश्यकता नही है, क्योकि यहाँ भी उन्ही बातो को दुहराया गया है।

कथन न ६५ का समाधान.—समीक्षक स्व-पर प्रत्यय परिणमन से विभावपर्याय और स्वभावपर्याय दोनो को ग्रहण करता है, जो युक्तियुक्त नही है। ऐसा लगता है कि वह अपनी भूल को समझ गया है, इसलिये वह इसकी विशेष चर्चा नही करना चाहता। हमने कार्योत्पत्ति मे बाह्य सामग्री

को एक तो अकिंचित्कर लिखा नही, यदि कही पर अकिंचित्कर लिखा भी है तो वह समर्थ उपादान का कार्य नही कर सकता – इसी अर्थ मे लिखा है। समर्थ उपादान के कार्य मे वह किसी प्रकार की परमार्थ से सहायता पहुँचाता है, यह तो नही है। मात्र समर्थ उपादान ने इस समय क्या कार्य किया, उसका वह सूचक है। इसी अर्थ मे उसको (वाह्यनिमित्त की) सार्थकता है। वैसे असद्भूत व्यवहार से उसकी सहायता से यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहार अवश्य होता है।

कथन न ६६ का समाधान :—समीक्षक का जो यह कहना है कि "वाह्य सामग्री उपादान के कार्य मे सहयोग करती है" उसके इस कथन को ध्यान मे रखकर हमने तीन विकल्प उठाये थे –

(१) विकल्प एक मे हमने पूछा था कि "दोनो (दो द्रव्य) मिलकर एक कार्य करते हैं, यह सहयोग का अर्थ है।" इसकी समीक्षा करते हुए समीक्षक का कहना है कि "दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नही कर सकते, यह तो सामान्यतया निर्विवाद है,, परन्तु उपादान और निमित्त दोनो मिलकर इस रूप मे स्व-पर-प्रत्यय कार्य सम्पन्न किया करते हैं कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादान को उस कार्यरूप परिणत होने मे प्रेरक एव उदासीनरूप से बलाधायक होता है। यह वात पद्मनन्दिपर्चावंशतिका के" द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचन से सिद्ध होती है। "सो उसके इस कथन से तो ऐसा मालूम पडता है कि कार्य उपादान मे अवश्य होता है, किन्तु उसका कर्ता कौन, इसका उसकी ओर से खुलासा दृष्टिगोचर नही होता। पद्मनन्दिपर्चविंशतिका का उक्त वचन निश्चय-व्यवहार का दोनो नयो की अपेक्षा प्ररूपण करनेवाला है। सो इससे यही सिद्ध होता है कि निश्चयनय से स्वय उपादान ही अन्य निरपेक्ष होकर अपना कार्य करता है और असद्भूत व्यवहारनय से वाह्य निमित्त को उसका बलाधायक या सहायक आदि कहा जाता है, क्योकि अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय को अन्य द्रव्य के कार्य मे जो असद्भूत व्यवहार से सहायक कहा गया है वह कालप्रत्यासत्तिवश ही कहा गया है। अन्यथा परमार्थ से कोई किसी की सहायता नही करता, यह निर्विवाद है।

(२) विकल्प दो मे हमने यह पूछा था कि क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया कर देता है – यह सहयोग का अर्थ है "सो समीक्षक ने यह लिखकर कि – इस कथन मे कोई विवाद नही है" हमारे कथन को स्वीकार कर लिया है। इसका अर्थ समीक्षक ने कि मान लिया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया नही कर सकता, तथा वह परमार्थ से दूसरे द्रव्य के कार्य मे सहायक भी नही हो सकता।

(३) विकल्प तीन मे हमने पूछा था कि क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय मे विशेषता उत्पन्न कर देता है, साथ ही इसका खुलासा करते हुए यह भी सकेत कर दिया था कि एक द्रव्य के गुणधर्म जव दूसरे द्रव्य मे सक्रमित ही नही होते तो यह कहना बनता ही नही कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय मे विशेषता उत्पन्न कर देता है, किन्तु समीक्षक हमारे इस सप्रमाण कथन को पूरी तरह से मानने के लिये तैयार नही है। वस्तुत वह एक द्रव्य के कार्य के प्रेरक और उदासीन निमित्त

के रूप मे सहायतारूप कार्य को परमार्थभूत ही मानता है, जैसा कि उसका कहना है – "परन्तु उपादान के कार्य के प्रति निमित्त का कार्य उपरोक्त प्रकार प्रेरक और उदासीन रूप से सहायक होने रूप से यह परमार्थभूत ही है तो वैसा कहना कल्पनारोपित मात्र नही है।"

यहाँ समीक्षक ने 'परके सहयोग को परमार्थभूत मानकर वह कल्पनारोपित मात्र नहीं है, यह लिखा है।' सो इसमें सदेह नही कि नासमझ को जो ऐसा विकल्प होता है, ऐसा कहना तो परमार्थभूत अर्थात् यथार्थ है। ऐसा कहना कल्पनारोपित मात्र नही है, किन्तु उस विकल्प का जो विषय है, वह अयथार्थ है, क्योंकि कार्य के प्रति वाह्य निमित्त के कहने की क्या उपयोगिता है इसे न मानकर समीक्षक अन्य के कार्य मे अन्य द्रव्य वास्तव मे सहयोग करता है, यह मानता है।" सो उसके इस कथन से सभी द्रव्यो को परमार्थ से पराश्रित मानने का प्रसग आता है, जो युक्तियुक्त नही है।

समयसार गाथा ६१ मे तो जिस समय आत्मा धर्मादिक द्रव्यो मे आत्मविकल्प करता है, उस समय वह उस विकल्प का कर्ता होता है, इतना ही कहा गया है। इसमे धर्मादिक द्रव्यो ने आत्मविकल्प करने मे सहयोग किया ऐसी कोई वात तो दृष्टिगोचर नही होती। समीक्षक ने समयसार गाथा ६१ लिखकर जिस वात का उल्लेख किया है, वह वात इस गाथा मे कही दृष्टिगोचर नही होती।

गाथा १०५ (समयसार) मे जीव ने कर्म को किया, इस विकल्प को उपचरित ही वतलाया है अर्थात् असद्भूत ही कहा है। इसमे से यह विकल्प परमार्थभूत है, यह अर्थ समीक्षक ने कहाँ से फलित कर लिया यह तो वही जाने। गाथा १०६ का भी यही अभिपाय है। जो वात उपचार से कही गई है, उसे परमार्थभूत कहना यही भ्रम है। गाथा १०७ मे भी अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य को उत्पन्न करता है, इसे भी असद्भूत व्यवहार कहा गया है। यहाँ पर समीक्षक का कहना है कि – "आत्मा पुद्गल को उत्पन्न करता है आदि कथन निश्चयनय से परमार्थभूत न होकर भी व्यवहारनय से तो परमार्थ ही होता है।" इससे ऐसा मालूम पडता है कि अभीतक समीक्षक ने निश्चय-व्यवहार की कथनी के भेद को ही ख्याल मे नही लिया है। यदि वह यह कहे कि यहाँ व्यवहार से मतलव हमारा सद्भूत व्यवहार से है, तव भी हम कहेगे कि उसने अभीतक सद्भूत व्यवहार और सद्भूत व्यवहार के भेद को ख्याल मे नही लिया है। अरे भाई! आगम कहता है कि अन्य अन्य का कार्य करता है, यह अज्ञानी का कोरा विकल्प है। इसलिये हम तो यही कहेंगे कि जो ऐसे विकल्प को परमार्थ कहता है, वह अपने जीवन को ही मटियामेट करता है। उपचार (असद्भूतव्यवहार) उपचार ही रहता है, वह उपचार से भी परमार्थभूत होने की शक्ति नही रखता। प्रयोजन को गौण कर देने पर उसकी (उपचार की) परिगणना झूठ मे ही की जाती है।

(४) समीक्षक से पूछा गया कि जव "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिये वाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य करने मे ही प्रवृत्ति करती रहती है। इस सबध मे उसका कहना है कि "मैं कहना चाहता हूँ कि यद्यपि विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य ही कार्यकारी होता है, परन्तु इस विशिष्ट पर्याय की उत्पत्ति वाह्य सामग्री का सहयोग मिलनेपर ही होती है (देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड २-२ पत्र-शास्त्र या निर्णय सागरीय प्रकाशन)

इसतरह कहा जा सकता है कि समीक्षक की "उपादान अनेक योग्यतावाला होता है और वाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य मे प्रवृत्त करती है, यह तर्कणा असंगत नही है।" इसप्रकार यह जो समीक्षक का कहना है कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसकी सिद्धि उसे स्पष्ट प्रमाण देकर करनी थी, परन्तु आगम मे विवक्षित पर्याय विशिष्ट द्रव्य को ही उपादान कहा गया है, ऐसी अवस्था मे उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, यह सवाल ही नही उठता। और इसीप्रकार वाह्य निमित्त का सद्भाव भी कार्यकाल मे ही माना गया है, इसलिये वाह्य निमित्त अनेक योग्यतावाले उपादान को एक योग्यता द्वारा कार्य मे प्रवृत्त करता है, ऐसा लिखना भी मिथ्या है, यह सिद्ध हो जाता है। इस विषय मे कर्मशास्त्र का उदाहरण हम पहले दे ही आये हैं।

(५) विकल्प पाच मे समीक्षक ने "कालप्रत्यासत्ति" से यह अर्थ फलित किया है कि – "उपादान को जिस काल मे जिसप्रकार की निमित्तरूप वाह्य सामग्री का योग मिलता है, उस काल मे उस सामग्री के अनुरूप ही उपादान के किसी योग्यता के आधार पर कार्य की उत्पत्ति होती है।" सो वहाँ वह यदि उपादान का स्पष्ट अर्थ लिख देता तो उसके अभिप्राय को समझने मे हमे भ्रम नही होता, किन्तु समीक्षक उपादान का क्या अर्थ करता है, इसे स्पष्ट न करके ही जो अपने कल्पित मत का समर्थन करता जा रहा है, सो वह योग्य नही है। आगम, तर्क और अनुभव के विरुद्ध है। आगम तो यह है कि विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य से ही विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति होती है। प्रत्यक्ष से भी हम देखते हैं कि जव मिट्टी घट पर्याय के सन्मुख पहुँच जाती है, तभी उससे घटपर्याय की उत्पत्ति होती है। तर्क भी यही कहता है, क्योंकि जव मिट्टी घट पर्याय के सन्मुख होगी, तभी उससे घट पर्याय की उत्पत्ति होगी। १४वें गुणस्थानवर्ती जीव भी जव सिद्धपर्याय के सन्मुख होता है, तभी सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति होती है, इसलिये समीक्षक ने जो अपनी कल्पित वात को आगम, तर्क और अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और लोकव्यवहार से सिद्ध लिखा है, वह सव मिथ्या प्रतीत होता है। उसे सवसे पहले अपने पक्ष के समर्थन मे आगम उपस्थित करना चाहिये था और उसके बाद ही अनुभव, तर्क आदि को भी अपने मत की पुष्टि मे उपस्थित करना उचित होता। विशेष क्या लिखें ?

कथन न ६७ का समाधान :—समीक्षक ने प्रेरक और उदासीन निमित्तो के आधार पर अपने मत के समर्थन का उपक्रम किया है, सो इस सबध मे हम इसके पहले के ही कथन मे विस्तार से स्पष्टीकरण कर आये हैं। सो यहाँ पुन उसको दुहराना पीसे को पुन पीसने के समान होता है।

कथन नं ६८ का समाधान :—यहाँ पर हम इतना ही सकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि त च पृ ६७ मे हमने हरिवशपुराण के श्लोक का जो अर्थ लिखा है, वही उपयुक्त है, क्योकि समीक्षक के सुझाव के अनुसार यदि हम कार्य के स्थान मे कर्मवन्ध अर्थ लेते हैं तो इससे पर के कर्तृत्व का प्रसग उपस्थित होता है, जो इस श्लोक मे हरिवशपुराणकार को इष्ट नही है। ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

कथन न ६९ का समाधान :—इस कथन मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "पूर्वपक्ष के सामने पराश्रित जीवन के समर्थन का प्रश्न नही है, सभी मानते हैं कि पराश्रित जीवन अच्छा

नही है" सो उसका ऐसा कहना जहाँ उचित प्रतीत होता है, वहीं उसके द्वारा उपादान को अनेक योग्यतावाला मानकर निमित्त के वलपर एक योग्यता द्वारा कार्य की उत्पत्ति मानना, यह पराश्रित जीवन का समर्थन नही तो और क्या है ? इस द्वारा वह बाह्य निमित्त को परमार्थ से कारयिता वना देता है, इसका वह स्वय विचार करे ।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "वस्तु मे षड्गुण हानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमनों से अतिरिक्त उपादानगत सभी स्व-पर प्रत्यय परिणमन निमित्तभूत बाह्य सामग्री के सयोग से ही हुआ करते हैं।" सो उसके ऐसे कथन से मालूम पडता है कि वह षड्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन को एकान्त से परनिरपेक्ष ही मानता है। इस विषय मे हम पिछले दौरो मे वहुत कुछ स्पष्टीकरण दे आये हैं। यहाँ हम उसको यही सलाह देंगे कि वह गो जीवकाण्ड मे श्रुतज्ञान प्ररूपणा को पढ लेवें। उससे यह ज्ञान हो जावेगा कि षड्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन स्व-परप्रत्यय भी होता है और स्व-प्रत्यय भी होता है। जो स्वभाव परिणमन होता है, वह स्वप्रत्यय ही होता है और जितना विभाव परिणमन होता है, वह स्व-परप्रत्यय ही होता है। इसके लिये नियमसार गा १४ और २६ पर अवश्य दृष्टि डालनी चाहिये। आ० कुन्दकुन्ददेवने स्वभावपर्याय और विभावपर्याय को वहुत ही प्राजल शब्दो मे स्पष्ट किया है। देखो – नियमसार गा १४ और २६। इसकी टीका मे आ पद्मप्रभ मलधारिदेव लिखते हैं —

परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षण वस्तुगतषट्-प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादि सनिधिनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्ष-त्वाच्छुद्ध सद्भूतव्यवहारात्मक. अथवा हि एकस्मिन् समयेऽप्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वात् सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः ।

परमाणु पर्याय पुद्गलद्रव्य की शुद्ध पर्याय है, वह परम पारिणामिक भाव लक्षणवाली होकर वस्तुगत षट्गुणहानि-वृद्धि से युक्त है और अति सूक्ष्म अर्थ पर्यायस्वरूप सादि-सनिधन होकर भी परद्रव्य निरपेक्ष होने से शुद्ध सद्भूत व्यवहारस्वरूप है। अथवा एक ही समय मे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वरूप होने से सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय स्वरूप है।

इससे हम जानते हैं कि जितनी भी स्वभावपर्यायें होती हैं, वे सव स्व-पर प्रत्यय न होकर परनिरपेक्ष स्वप्रत्यय ही होती हैं। इसी वात का निर्देश नि सा. गाथा १४ मे किया है। गाथा के उत्तरार्द्ध मे पर्याय के दो भेद वतलाते हुए लिखा है —

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो परनिरवेक्खो ।।१४।।

पर्यायें दो प्रकार की हैं – स्व-पर सापेक्ष और परनिरपेक्ष। स्वभावपर्याय और विभावपर्याय के भेद जानने के लिये समीक्षक को नियमसार गाथा ११, १२, १३ और उनकी सस्कृत टीका का भी अच्छी तरह अवलोकन कर लेना चाहिये।

स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष ही होती है, स्व-पर प्रत्यय नही ही होती, क्योंकि वह जीवमे पर के लक्ष्य से नहीं होती। स्वभाव का बुद्धि मे आलम्बन लेने पर ही होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त समीक्षक को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। इतना अवश्य है कि स्वभाव पर्याय के होने मे निमित्त अवश्य होता है, पर वह दृष्टि मे गौण रहता है और बुद्धि मे स्वभाव का आलम्बन मुख्य रहता है, इसलिये वह परनिरपेक्ष कहलाती है। खुलासा नियमसार गाथा २९ की स टीका के आधार से पूर्व मे कर ही आये हैं।

कथन न ७० का समाधान — हमने स्वा० समन्तभद्र आचार्य की "बाह्येतरोपाधि-समग्रतेय" इस कारिका मे पठित "द्रव्यगतस्वभाव" पद के अर्थ करने मे कोई भूल नही की है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य का यह स्वभाव है कि जब वह अपने आभ्यतर उपाधि की स्थिति मे पहुँचता है तब उसके कार्य मे जिसे हम बाह्य निमित्त कहते हैं, वह भी अपने आभ्यतर उपाधि की स्थिति मे पहुँच जाता है और इसप्रकार एक के काल मे दूसरा द्रव्य स्वय निमित्त पदवी को प्राप्त हो जाता है। इसके लिये कर्मशास्त्र का बध और उदय प्रकरण साक्षी है, क्योकि जिस समय क्रोध कषाय कर्म का उदय होता है उसी समय आत्मा क्रोध कषायरूप परिणमता है और जिस समय आत्मा क्रोध कषायरूप परिणमता है उसी समय नये कर्म का बन्ध होता है। इसके लिये समयसार गा ८१ आदि पर उसको दृष्टिपात करना चाहिये। इसी भाव को ध्यान मे रखकर उक्त पद का अर्थ किया था। समीक्षक हमारे द्वारा किया गया यह अर्थ यदि कल्पित मानता है तो उसे आगम प्रमाण देकर उसे सिद्ध करना चाहिये झूठा आरोप लगाने मात्र से कोई लाभ नहीं, इससे आगम नही बदल जायगा।

आगे तादृशी जायतेबुद्धि "इसके आधार पर हमने जो कुछ भी लिखा है, वह यथार्थ है, किन्तु समीक्षक का यह कथन इसलिये अवश्य ही विचारणीय है, क्योकि वह हमारी ओर से ऐसा मानता है कि हम मानते हैं कि उपादान स्वय कार्य की उत्पत्ति के समय अपने अनुकूल निमित्तो को एकत्रित कर लेता है" सो यह हमारी मान्यता नही है। ऐसा आगम विरुद्ध कथन वही कर सकता है। कोई किसी को जुटाता नही है, अपने-अपने परिणमन स्वभाव के कारण जब एक द्रव्य उपादान होकर स्वय कार्यरूप परिणमता है तब दूसरा द्रव्य कालप्रत्यासत्तिवश स्वय अपने नियत उपादान के अनुसार कार्य की भूमिका मे आकर उसका (दूसरे द्रव्य के कार्य का) सहज निमित्त हो जाता है। यह अनादि परपरा है, जिसका कभी भी वारण नही किया जा सकता। अन्यथा विकल्प और हाथ आदि रूप क्रिया परिणत कुभकार स्वय प्रायोगिक निमित्त नही हो सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय मिट्टी स्वय घट पर्यायरूप से परिणमती है उसी समय कुभकार स्वय प्रायोगिक निमित्तमात्र होता है।

"द्रव्यगतस्वभाव का हमने जो यह अर्थ किया है वह यथार्थ है। रही बाह्य निमित्त की बात, सो जब समीक्षक बाह्य निमित्त को स्वय ही (स पृ ४ मे) असत् कारण मानता है तो जिसे वह पक्ष उपादान के कार्य मे बाह्य निमित्त की सहायता करता है वह उपचरित नही होगा तो और क्या होगा ? चाहे उपचरित कारण कहो या असद्भूत व्यवहारनय से कारण कहो, दोनो का अर्थ एक ही है। इसके लिये देखो जयधवला पु ७ पृ ११७१ हाँ यदि वह उपचरित कहना यथार्थ है यह कहना चाहता है, तो कोई बात नही।

कथन नं० ७१ का समाधान '—इस कथन मे समीक्षक का जो यह कहना है कि "पूर्व पक्ष के उपर्युक्त कथन से उत्तर पक्ष के कथन मे मात्र यह विशेपता है कि उत्तर पक्ष सभी द्रव्यो की पड्गुण हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायो के विपय में व उनमे यथासभव विद्यमान उपर्युक्त शेप सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायो के विपय मे मौन रहकर केवल आत्मा की कर्मों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होनेवाली स्वभाव पर्यायो को स्वप्रत्यय व कर्मो के उदय मे होनेवाली विभावपर्यायो को स्व-परप्रत्यय स्वीकार करता है, इसलिये दोनो पक्षो के परस्पर भिन्न कथनो मे केवल अपेक्षाकृत भेद रहने के कारण विवाद के लिये कोई स्थान नही है।"

इस सम्बन्ध मे आगम यह है —

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो (नियमसार गाथा १४)

इसका और भी स्पष्ट खुलासा करते हुए नियमसार गाथा २८ मे वहुत ही स्पष्ट शब्दो मे खुलासा किया है। इसमे स्वभाव पर्याय को परनिरपेक्ष और स्कन्ध पर्याय को स्व-परसापेक्ष पर्याय, विभाव पर्याय स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है। लगता है कि समीक्षक को पर्याय विपयक अपनी भूल समझमे आ गई है। इसलिये वह यह लिखकर कि "इसलिये दोनो पक्षो के परस्पर भिन्न कथनो मे केवल अपेक्षाकृत भेद रहने के कारण विवाद के लिये कोई स्थान नही है।" इस विपय की विशेप चर्चा नही की अगर विचार करके देखा जाय तो पर्याय विपयक यह एक ही अनर्गल कथन नही है, ऐसे उसने और भी अनर्गल कथन किये हैं जिनसे उस पक्षके पूर्व के तीन दौर और समीक्षक की यह समीक्षा भरी पडी है और जिनका वारवार हमे खडन करना पड रहा है। यह हमारा आरोप झूठा नही है, किन्तु यथार्थ है, क्योकि न तो आगम मे अनेक योग्यतावाले समर्थ उपादान का कथन दृष्टिगोचर होता है और न ही समर्थ उपादान के रहते हुए केवल वाह्य निमित्तो के वल पर समथ उपादान का कार्य आगे-पीछे होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नही, वह पक्ष बाह्य निमित्त मे अयथार्थ कारणता तो स्वीकार करता है परन्तु समर्थ उपादान के कार्य मे उसकी सहायता को यथार्थ मानता है। यह भी एक विचित्र वात है। इस कथन मे अन्य जितना लिखा है वह सारहीन होने से विचार कोटि मे नही आता। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिसे समीक्षक अयथार्थ कारण कहता है उसे यदि वह उपचरित कारण कहे तो उसका ऐसा कहना योग्य होगा और इसी प्रकार यदि वह निमित्तो को भी यथार्थ न कहकर उपचरित कहता, तो उसका यह कहना भी योग्य होता।

कथन न ७२ का समाधान —हमने स्वभाव पर्याय को त च पृ ६८ मे स्व पर प्रत्यय नही लिखा है, क्योकि स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति मे वाह्य निमित्त दृष्टि मे गौण रहता है फिर भी पृ ६८ मे स्वभाव पर्याय को स्व पर प्रत्यय हमने लिखा है यह हमारे ऊपर समीक्षक का भ्रमपूर्ण आरोप है। विभाव पर्याय अवश्य ही स्व-पर प्रत्यय होती है, क्योकि पर मे इष्टानिष्ट वुद्धि होने से वह होती है। पर स्वभाव पर्याय मे यह दोप दृष्टिगोचर नही होता है, इसलिये उसे आगम मे पद-पद पर परनिरपेक्ष ही स्वीकार किया गया है। आगम मे कही भी हमे ऐसी कोई स्वप्रत्यय पर्याय दृष्टिगोचर नही हुई, जिसमे गौणरूप से निमित्त को न स्वीकार कर जो मात्र पड्गुण हानि वृद्धिरूप मानी

गई हो। समीक्षक ने इस पर्याय की किस आगम के आधार पर कल्पना की, इस सम्बन्ध मे यदि वह कोई आगम प्रमाण देता तो विचार किया जाता। विशेष इस विषय मे और क्या लिखें। समीक्षक के कथन मे क्या रहस्य है यह तो वही जाने।

कथन न ७३ का समाधान :—इस कथन मे समीक्षक ने भावलिंग और द्रव्यलिंग की चर्चा करके भावलिंग होने मे जो द्रव्यलिंग को सहायक लिखा है सो उसमे द्रव्यलिंग को सहायक कहना उपचरित कथन है, क्योकि भावलिंग को आत्मा अपने आत्मपुरुषार्थ के बलपर ही प्राप्त करता है, उसमे द्रव्यलिंग तो निमित्त मात्र है। इसके लिये समयसार गाथा ४०८ से लेकर ४११ तक द्रष्टव्य हैं। यदि भावलिंग के होने मे द्रव्यलिंग कुछ भी सहायता करने मे समर्थ होता तो जिस समय इस जीव के द्रव्यलिंग की प्राप्ति होती है उसी समय उसकी सहायता से भावलिंग की भी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नही होता, प्रत्युत जीवन भर गृहस्थो को उनके अनुरूप द्रव्यलिंग और मुनियो को उनके अनुरूप द्रव्यलिंग बना रहता है, फिर भी उन्हे भावलिंग की प्राप्ति नही होती है। इससे हम जानते हैं कि भावलिंग के होने मे द्रव्यलिंग अणुमात्र भी परमार्थ से सहायता नही करता। भावलिंग के पहले द्रव्यलिंग का होना और बात है, किन्तु भावलिंग के होने मे द्रव्यलिंग परमार्थ से सहायता करता है – यह कहना और बात है। यदि द्रव्यलिंग को भावलिंग मे आगम मे सहायक लिखा भी है तो वह उपचार से ही लिखा है। समीक्षक "बाह्य निमित्त की सहायता से समर्थ उपादान अपना कार्य करता है" इस आग्रह को परमार्थ कहना जिस दिन छोड देगा उसी दिन वह जैनदर्शन के हार्द को स्वीकार कर लेगा। जहाँ भी आगम मे निश्चयचारित्र की वृद्धि के लिये बाह्य चारित्र के परिपालन की बात कही गई है वह उपचार से ही कही गई है। उसे परमार्थ मान लेने पर आत्मा और अनात्मा मे कोई भेद नही रह जायगा।

कथन नं. ७४ का समाधान :—समीक्षक ने यह लिखा है कि "भावलिंग होने से पूर्व द्रव्यलिंग को तो उसकी उत्पत्ति के लिये कारणरूप से मिलाया जाता है।" सो उसका ऐसा कहना भ्रमपूर्ण है क्योकि वही पर हमने इस मत का खडन करते हुए लिखा है कि "जो द्रव्यलिंग भावलिंग का सहचर होने से निमित्त सज्ञा को प्राप्त होता है वह मिलाया नही जाता, किन्तु परिणाम विशुद्धि की वृद्धि के साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। आगम मे द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग का उपचार से साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंग को कहा है। मिथ्या अहकार से पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाड के प्रतीकस्वरूप द्रव्यलिंग को नही। इस प्रकार इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षक ने जिसे हमारा कथन बतलाकर उद्धृत किया है यह वस्तुत उसका ही कथन है, हमारा नही।

कथन न. ७५ का समाधान :—इस कथन मे कथन न ७४ के उत्तर मे दिये गये पूर्वोक्त कथन को समीक्षक ने ध्यान मे रखकर अपने अभिप्राय की पुष्टि मे जो चार विकल्प उपस्थित किये हैं सो इन द्वारा उसने अपने कल्पित अभिप्राय को मात्र दुहराया है। उनमे ऐसी विचारणीय नवीन कोई बात नही कही गई जिसका हम समाधान करें।

कथन न. ७६ का समाधान :—इस कथन मे "पूर्व मे धारण किया गया द्रव्यलिंग भाव लिंग का साधन है" यह लिखकर मालूम पडता है कि वह यह कहना चाहता है कि पूर्व मे रहनेवाला

मिथ्यात्व कर्म का उदय मोक्ष का साधन है। सो यदि ऐसा माना जाय तो जितने द्रव्यलिंगी मुनि हो उन सवको उत्तरकाल मे भावलिंग की प्राप्ति नियम से हो जानी चाहिये। यदि कहा जाय ऐसा कोई नियम नही, तो हम कहेगे कि ऐसी अवस्था मे पूर्व मे धारण किये गये द्रव्यलिंग को भावलिंग का साधन कहना या मानना उपचरित ही तो ठहरा। आगे अमीक्षक ने जो यह लिखा है कि– "मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट भावना से युक्त भव्य जीव सर्वप्रथम उपर्युक्त प्रकार के द्रव्यलिंग को धारण करता है, और ऐसा विचार कर धारण करता है कि—"द्रव्यलिंग को धारण करने पर ही भावलिंग की प्राप्ति सभव है, उसके अभाव मे नही" तो उसका ऐसा लिखना एक नये भ्रम की सृष्टि करना है, क्योकि जो भव्य जीव अपने वैराग्यपूर्ण भावना के साथ गुरू के पास जाता है वह यह मानकर नही जाता है कि मैं मिथ्यादृष्टि हू और द्रव्यलिंग को धारण करू गा तो ही सम्यक्त्व के साथ ही उत्तरकाल मे मुझे भावलिंग की प्राप्ति होगी। वह तो सीधा गुरू के पास जाता है और गुरू के समक्ष मुनिपद की दीक्षा से अपने को अलकृत कर लेता है और दीक्षा लेने के वाद वह मुनि हो जाता है। ऐसा मुनि द्रव्यलिंगी है कि भावलिंगी, ऐसी कल्पना उसके मन मे उत्पन्न ही नही होती। वह तो जैसी मुनि का चर्चा चरणानुयोग मे लिखी है उसके अनुसार प्रवृत्ति करने लगता है। रही कार्यकारण भाव की वात सो इस अपेक्षा जिस समय कार्य है उसी समय उसका निमित्त है। कार्यकारण भाव की यह व्यवस्था अनादि अवाधित है। पूर्व मे कारण होता है और तदनन्तर कभी भी कार्य होता है यह मान्यता वौद्धो की हो सकती है, जैनो की नही। लौकिक दृष्टि से ऐसा कहना अन्य वात है।

कथन नं. ७७ का समाधान :—हमने समीक्षक के कथन पर सावधानी से विचार किया है, क्योकि भावलिंग का साधन कहो या निमित्त, द्रव्यलिंग भावलिंग का साधन तव ही कहा जाता है जव यह जीव अपने आत्मपुरुषार्थ से भावलिंग को प्राप्त करता है। निमित्त यदि समर्थ उपादान का कार्य करे तो उसे कार्यकारी कहना युक्तियुक्त प्रतीत होवे। परन्तु वह मात्र कार्य का सूचक होता है, कर्त्ता नही। प्रायोगिक निमित्त मे कर्त्तापने का असद्भूत व्यवहार करना अन्य वात है।

कथन न. ७८ का समाधान :—हमारे वक्तव्य को ध्यान मे रखकर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि—"वायु चलती है तो वृक्ष की डालियां हिलती हैं, इसमे वायु का चलना वायु मे हो रहा है और वृक्ष की डालियो का हिलना डालियो मे हो रहा है, लेकिन यदि वायु न चले तो डालियां नही हिल सकती। ऐसा ज्ञान यदि लोक को होता है तो क्या उत्तरपक्ष उसे असगत मान लेना चाहता है। यदि ऐसा है तो भवन निर्माण करते समय उस भवन में वायु के प्रवेश के लिए वह वुद्धिपूर्वक खिडकियो को रखने की चेष्टा क्यो करता है" आदि।

कार्यकारण भाव के सम्वध मे यह समीक्षक का वक्तव्य है जो मात्र कार्यकारण भाव के दुरुपयोग को ही सूचित करता है। प्रत्येक व्यक्ति सभावना मे कुछ भी विचार करता रहता है और कुछ भी कहता रहता है, पर उसे सत्य रूप मे कोई भी स्वीकार नही करता। समीक्षक का यह कहना कि "वायु न चले तो डालिया न हिलें," कल्पना मात्र है, किसी को भी ऐसा विकल्प होता है यह दूसरी वात है, परन्तु वह रहती है सभावना ही। उसी को न तो किसी ने यथार्थ ही माना है और न

ही ऐसी कल्पनायें यथार्थ हो सकती हैं। मकान मे खिडकिया बनाते हैं, पर सदाकाल उनसे लाभ ही मिलता है, हानिया नही उठानी पडती, यह कौन वता सकता है ?

आगे समीक्षक ने सकल्प और विकल्प की वात लिखकर हमसे यह प्रश्न किया है कि "वह ऐसी स्थिति मे क्या अपने सकल्प-विकल्प और प्रयत्न को कार्योत्पत्ति मे सर्वथा "कल्पनामात्र" और अकिंचित्कर मानने के लिए तैयार है" आदि। सो भाई! सकल्प-विकल्प और प्रयत्न करना कार्य की उत्पत्ति नही है। कार्य की उत्पत्ति अपने नियत साधनो के अनुसार होती है। काकतालीय न्याय से कदाचित् सकल्प-विकल्प के अनुसार कार्य सम्पन्न हो जाता है तो वह अपने को सफल अनुभव करता है और नही होता है तो अपनी असफलता स्वीकार कर लेता है। शास्त्रकार शास्त्र के प्रारम्भ मे इस अभिप्राय से मगलाचरण करते हैं कि कार्य की पूर्ति मे वाधा न उपस्थित हो जावे, परन्तु ऐसा कोई नियम नही है कि कार्य मे बाधा नही ही आयेगी या आयेगी ही। कार्य अपने सावनो के अनुसार अपनी गति से सम्पन्न होता है और व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन मे सकल्प-विकल्प अपने हिसाव से होते हैं। यही हमारा अज्ञान है कि सकल्प-विकल्प का होना ही विवक्षित कार्य की उत्पत्ति है – ऐसा मान लेते हैं।

वस्तुत एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता त्रिकाल मे नही हो सकता, इस कथन को ध्यान मे रखकर समीक्षक का जो यह कहना है कि "उसमे पूर्व पक्ष को विवाद कहा है" सो यह उसकी कोरी कल्पना मात्र है, क्योकि जब वह यह मानता है कि "समर्थ उपादान हो और वाह्य निमित्त का योग न मिले तो समर्थ उपादान अपना कार्य नही कर पाता है या आगे-पीछे करता है" सो उसका ऐसा कहना ही सिद्ध करता है कि वह यह मानता है कि कार्य उपादान मे होता है और वास्तव मे कर्त्ता उसका निमित्त ही है।" अन्यथा वह कार्यकारण परम्परा मे दिशा भूल करने वाली ऐसी बात नही लिखता, क्योकि कालप्रत्यासत्तिवश दोनो एक काल मे होते हैं। जब समर्थ उपादान का कार्य होना है तब उसका निमित्त रहता ही है।

आगे उसने पड्गुण हानि वृद्धिरूप परिणमनो को जो मात्र स्वप्रत्यय वौर अबुद्धिपूर्वक लिखा है, सो यह भी उसकी कोरी कल्पना ही है। आ समतभद्र जैसे समर्थ आचार्य जव यह लिखते हैं कि सभी कार्यों मे वाह्य और आभ्यतर उपाधि की समग्रता नियत से रहती है। ऐसी अवस्था मे समीक्षक का उक्त बात को वार-बार लिखते रहना उसका आगम विरुद्ध अपनी अनभिज्ञता को ही सूचित करता है। इसी प्रकार स्वपर प्रत्यय परिणमन के विपय मे जो उसने मान्यता बना रखी है, सो उससे भी उसकी आगम के प्रति अनभिज्ञता ही सूचित होती है।

आगे समीक्षक ने जो चौदहवें गुणस्थान मे मस्तिष्क की वात लिखी है सो सभवत मस्तिष्क से उसका आशय द्रव्यमन से होगा। परन्तु वहा उसको निमित्त कर बुद्धि के उत्पन्न होने का कोई सवाल ही नही उठता, क्योकि बुद्धि क्षायोपशमिक भाव है और वहा वह आत्मा केवलज्ञानी है। निष्क्रियता भी रही आवे और केवलज्ञान की उपयोग दशा भी रही आवे इसमे बाधा कहा है। यह तो वही बतावे। ग्यारहवें व वारहवें गुणस्थानो में भी परिस्पन्दात्मक क्रिया, मन, वचन और काय को निमित्तकर होती है, परन्तु आत्मा के उपयोग का वह निमित्त नही है, अन्यथा केवलज्ञान की उपयोगरूप अवस्था होना असभव हो जायगा। दोनो स्वतन्त्र हैं, अपने-अपने कारणो से होते हैं।

इस कथन मे समीक्षक ने जितना कुछ लिखा है उसका नमूना हम पूर्व मे स्थूल रूप से दिखा ही आये हैं। इससे ही यह सिद्ध हो जाता है कि प्रकृत मे उसका जितना भी कथन है वह सब युक्ति, अनुभव और आगम के विरुद्ध तो है ही, लोकविरुद्ध भी है।

कथन न. ७९ का समाधान :—इस कथन मे भावलिंग कैसे होता है, इसकी चर्चा मे समीक्षक का जो यह कहना है कि "उपादान ही भावलिंगरूप परिणमित होता है" सो यहा यदि वह उपादान के कार्यरूप परिणमन के समय ही चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम को स्वीकार कर लेता है तो, दोनो का योग एक काल मे ही होता है – यह वात यथार्थ सिद्ध हो जाती है, किन्तु खेद है कि वह सर्वत्र उपादान और निमित्त के योग को एक काल मे स्वीकार करने को तैयार ही नही है। ऐसा लगता है कि वह सम्यक् नियति को स्वीकार ही नही करना चाहता और केवल इस सम्यक् नियति के खण्डन करने मे ही उसे द्राविडी प्राणायाम करना पड रहा है। वाह्य निमित्त को या ग्राभ्यतर निमित्त को उपचार से सहायक कहना और वात है और उनकी सहायता को यथाथ मान लेना दूसरी वात है। यह तो वह मानता ही है कि निमित्त अयथार्थ कारण है, ऐसी अवस्था मे उसकी सहायता रूप कारणता यथार्थ कैसे मानी जा सकती है ? भावलिंग मे क्षयोपशम की भी यही स्थिति है। चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम निमित्त अवश्य है, वह निश्चय कर्ताकारक नही। भावलिंग का कर्ता-कारक तो अपने स्वरूप मे उपयुक्त आत्मा ही है, अन्य कोई नही। अरे भाई ! निमित्त मात्र को अयथार्थ कारण हम नहीं लिख रहे हैं। समीक्षक ने स पृ ४ में इस वात को स्पष्ट करते हुए स्वय लिखा है कि "और निमित्ताकारणभूत उदय पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म मे स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनय के विषय हैं" इसलिये यह सिद्ध हो जाता हैं कि निमित्त मात्र उपचार से ही सहायक कहे जाते हैं। उनकी उपचरित सहायता को यथार्थ कहना स्ववचन वाधित होने से किसी भी विवेकी की दृष्टि मे मान्य नही हो सकता।

कथन न. ८० का समाधान :—इस कथन में आगम के विवक्षित कथन को उपस्थित कर समीक्षक ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि—"निमित्त तथा उपादानरूप उभय कारणो से ही कार्य होता है और निमित्त हेतु कर्ता भी होता है, अत शब्दो मे तो आपने उसे (निमित्त को) इन्कार नही किया, किन्तु मात्र शब्दो मे स्वीकार करते हुए भी आप निमित्तभूत वस्तु मे कारण-त्वभाव स्वीकार नही करते हैं तथा निमित्त को अकिंचित्कर बतलाते हुए मात्र उपादान के अनुसार ही अर्थात् एकान्तत उपादान से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। आगम के शब्दो को केवल निबाहने के लिये यह कह दिया गया कि निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार हुआ करती है, ताकि यह न समझा जाय कि आगम माननीय नही है। इस एकान्त सिद्धान्त की मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त कारण मात्र शब्दो मे माना जा रहा है, वास्तव मे उसे कारणरूप नही माना गया हैं।"

यहाँ समीक्षक ने अपने अभिप्राय द्वारा अपने कई मतो को दुहराया हैं, और इस आधार पर वह स्वय स पृ ४ मे घोषित निमित्त की अयथार्थ कारणता को यथार्थ घोषित करने के साथ न केवल

उसे यथाथ घोषित करने का प्रयत्न कर रहा हैं अपितु अपने कथन को आगम सम्मत भी स्वीकार करने का असफल प्रयत्न कर रहा है ।

अब हम समीक्षक द्वारा पहले इस विपय मे क्या स्वीकार किया गया है इसका निर्देश कर देना यहा इष्ट मानते हैं ।

१ स पृ ४ मे दोनो ही पक्ष उक्त नैमित्तिक सम्बन्ध को व्यवहारनय का विपय मानते हैं ।

यहा इतना सकेत कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि अपने उक्त कथन मे यद्यपि समीक्षक ने "व्यवहारनय" का उल्लेख तो किया है, परन्तु आगम मे नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विपय ही स्वीकार किया है, सामान्य व्यवहारनय का विषय नही, तो इसका भूलकर भी समीक्षक ने समीक्षा मे कही उल्लेख नही किया । इसलिए उसके कथन के अनुसार यह भ्रम पैदा होता है कि यहा कौन से सद्भूत या असद्भून व्यवहारनय का ग्रहण हुआ है । उसके कथन मे यह भ्रम न १ है ।

२ उसी पृष्ठ मे वह लिखता है कि जहाँ उत्तर पक्ष उस उपचार को सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्व पक्ष उसे कथचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ मानता है ।"

इसे स्पष्ट करते हुए स० पृ० ५ मे लिखता है कि "वहाँ पूर्व पक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप मे परिणत न होने के आधार पर अभूतार्थ और ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानता है ।"

यहाँ यह ध्यान मे रखने लायक बात है कि निमित्त कहो या सहायक, दोनो का अर्थ एक ही है । इसी अर्थ मे बाह्य या आभ्यतर साधन शब्द का भी आगम मे प्रयोग हुआ है । तत्वार्थसूत्र अध्याय ५ के उपकार प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यह भी ज्ञात होता है कि उक्त कथन की अपेक्षा निमित्त उपकारक भी कहलाता है । इस प्रकार जब निमित्त का अर्थ सहायक होता है ऐसी अवस्था मे निमित्त को अयथार्थ कारण कहना और उसकी सहायता को भूतार्थ कहना कहा तक युक्तियुक्त हो सकता है, अर्थात् ऐसा परस्पर विरुद्ध कथन युक्तियुक्त तो है ही नही, आगमसम्मत भी नही माना जा सकता । हा वह यदि लोकव्यवहार को ही आगम मानना चाहता हो तो बात दूसरी है, फिर भी यहा हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि निमित्त की निमित्तता आगम की दृष्टि मे न कथचित् अभूतार्थ होती है और न कथचित भूतार्थ होती है, किन्तु वह उपचरित होती है । आगम मे भी इसे इसी रूप मे स्वीकार किया गया है ।

३ निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व ये तीनो व्यवहारनय के विपय होकर एक हैं इसे स्पष्ट करते हुए वह स० पृ० ४ मे लिखता है – "निमित्तकारणभूत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म मे स्वीकृत निमित्तकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहार के विपय हैं ।"

यहा समीक्षक ने सामान्य से "व्यवहार" शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि प्रकृत मे कौन सा व्यवहार यहा स्वीकार किया गया है – सद्भूतव्यवहार या असद्भूतव्यवहार। आगे स० पृ० ५ मे उसने जो यह लिखा है कि "यहा पूर्व पक्ष उसे वहा पर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधार पर अभूतार्थ और ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानकर व्यवहारनय का विषय मानता है।"

सो उसके इस कथन से तो यह मालूम पडता है कि उसके बाह्य निमित्त को या कर्म के उदयरूप आभ्यतर निमित्त को आत्मा के ससाररूप कार्य मे अभूतार्थ अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय का विषय मान लिया है, जबकि आगम मे एक द्रव्य की अपेक्षा उपादान-उपादेय भाव को या कर्तृकर्म भाव को सद्भूत व्यवहारनय का विषय माना गया है। इससे मालूम पडता है कि वह अपनी कल्पित नयप्ररूपणा को ही यथार्थ सिद्ध करना चाहता है।

यहा समीक्षक से कोई भी पूछ सकता है कि आपके उक्त मत के अनुसार कोई यह कहे कि ससार सम्बन्धी सभी कार्यों मे आकाशफूल अयथार्थ कारण होकर भी उसकी सहायता को यदि भूतार्थ मानें तो क्या हानि है, क्योकि आपके कथानुसार दोनो ही अयथार्थ कारण हैं। केवल उनकी सहायता भूतार्थ है तो इसका समीक्षक क्या उत्तर देगा ? कुछ भी नही।

४ समीक्षक ने पृ० ४० मे आलाप पद्धति के "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य" इत्यादि वचन उद्धृत कर अपने अभिप्रायानुसार उक्त वाक्य का अर्थ करके लिखा है कि "मृत्तिका के रूप मे विद्यमान घट मे जो घृतरूपता का आरोप किया जाता है उसमे यह आरोप इन आधारो पर किया जाता है कि एक तो घट का मुख्य घृतरूप होना सभव नही होने से घृतरूपता का अभाव यहाँ विद्यमान है, दूसरे घट और घृत मे सयोग सम्बन्धाश्रित आधार-आधेय भाव के निमित्त का सद्भाव है और तीसरे घट मे घृत रखने या उसमे से घृत निकालनेरूप प्रयोजन का सद्भाव यहा विद्यमान है, इस तरह मिट्टी के रूप मे घट मे उक्त तीनो आधारो पर आरोप सम्भव हो जाता है।"

सो हमारा इस विषय मे कहना यह है कि उक्त तीनो प्रकार से घृत मे घट का समारोप भले ही हो जाओ परन्तु ऐसा समारोप होने पर भी उक्त अयथार्थ निमित्त के आधार पर जब कि वह निमित्त मे अयथार्थ कारणता के रहते हुए भी "घी का घडा" यह वचन घट के अस्तित्व मे उसकी सहायता स्वीकार करता है। परन्तु उससे घट के निर्माण मे कोई उपयोगिता दृष्टिगोचर नही होती। घी का घडा कहने से उल्टा यह प्रतीत होता है कि घी से भी घडा बनता है। सवाल तो सहायता का है कि वहाँ घी ने घट के अस्तित्व मे क्या सहायता की।

यदि कहा जाय कि मिट्टी के घडे को लोक व्यवहार मे घी का घडा कहा जाता हैं, तो यह लोक व्यवहार मात्र इसी बात को सूचित करने के लिये होता है कि उससे कोई अज्ञानी घी का घडा न समझे किन्तु मिट्टी का ही घडा समझे। सो इससे तो यही सिद्ध होता है कि ऐसा लोक व्यवहार परमार्थ नही है, किन्तु उसे परमार्थ कहना अज्ञानी का एक विकल्प मात्र है। अर्थात् अनादि रूढ लोक व्यवहार है। उसे आगम के अनुसार परमार्थभूत तो नही कहा जा सकता। आगम के अनुसार कहा जायेगा तो उपचरित ही कहा जायगा।

अपने उक्त कथन की पुष्टि मे दूसरा उदाहरण समीक्षक ने घटकर्तृत्व को ध्यान मे रखकर दिया है। सो इस उदाहरण मे समझना यह है कि घटकर्तृत्व का कुंभकार मे आरोप करके जो यह कहा जाता है कि "कुंभकार ने घट बनाया" यह आरोप असत् ही है, तो ऐसा असत् आरोप करने पर भी लाभ क्या निकला, सिवाय इसके की इससे निश्चयपक्षकी हानि ही हुई, क्योकि निश्चय से तो प्रत्येक द्रव्य पर की सहायता के बिना ही अपना कार्य करता है। जैसा कि समयसार गाथा ८६ से यह स्पष्ट हो जाता है। यथा –

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

अर्थ – निश्चयनय का ऐसा मत है कि आत्मा अपने को ही करता है और फिर आत्मा अपने को ही भोगता है।

यदि समीक्षक कहे कि हम जो कुछ भी लिख रहे हैं यह निश्चयनय की अपेक्षा नही लिख रहे हैं, हम व्यवहारनय की अपेक्षा लिख रहे हैं, सो भाई! यहा निमित्त-नैमित्तिक भाव मे तो असद्भूत व्यवहारनय ही प्रयोजनीय माना गया है और इस नय की विवक्षा मे जो कोई भी निमित्त मे अयथार्थ कारणता स्वीकार करता है और ऐसे कारण से पर के कार्य मे सहायता भूतार्थ स्वीकार करता है, सो ये दोनो ही बातें असद्भूत व्यवहारनय के विषय हैं, इस को न जानने मात्र का फल जान पडता है, क्योकि असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त मे कारणता भी स्वीकार की गई है और उससे कार्य की उत्पत्ति भी स्वीकार की गई है, पर वह उपचरित रूप मे ही स्वीकार की गई है।

इसलिये निष्कर्षरूप मे यह समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य नित्यता के साथ स्वय परिणाम स्वभावी होने से अपना कार्य स्वय ही करता है – यह यथार्थ है। कार्य के होने मे जो निमित्तता स्वीकार की गई है वह असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार की गई है, परमार्थ से नही। अत निश्चयनय का कथन सम्यक् एकान्तरूप होने पर भी इससे अनेकान्त की ही प्रतिष्ठा होती है। जब कि असद्भूत व्यवहारनय के कथन के अनुसार, पर की सहायता को यथार्थ मानने पर परमार्थ से वह अनेकान्त का घातक ही सिद्ध होता है।

समीक्षक ने इस कथन मे जितने भी आगम वचन उद्धृत किये हैं उन सबसे भी हमारे उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। इसी सिलसिले मे उसने जो समयसार गाथा ८१ का अर्थ लिखा है उसके ऐसा अर्थ करने से उल्टा भ्रम ही उत्पन्न होता है। कथन न० ८० मे उसने अन्य जितना कुछ लिखा है वह उसका पुन पुन दुहराना मात्र होने से उसका अलग से विशेष विचार करना उपयुक्त प्रतीत नही होता।

कथन नं० ८१ का समाधान :– इस कथन मे समीक्षक ने जो "स्वय" पद की चर्चा करके अपना अभिप्राय व्यक्त किया है, इससे मालूम पडता है कि वह निश्चयनय के कथन को बिल्कुल ही उडा देना चाहता है, क्योकि वह यह तो जानता ही है कि प्रत्येक द्रव्य नित्य होकर भी परिणाम-स्वभावी होता है, इसलिये अपने परिणाम स्वभाव के अनुसार प्रत्येक द्रव्य स्वय अर्थात् पर निरपेक्ष

होकर अपने आप परिणमता है। उसमे अन्य द्रव्य निमित्त होता है यह असद्भूत व्यवहार वचन है, इसीलिये निमित्त को मात्र विकल्परूप मे स्वीकार किया गया है। (इसके लिये देखो – सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र २) हम समझते हैं कि इतना स्पष्ट करने मात्र से प्रकृत कथन का पूरा समाधान हो जाता है। इसमे विशेष कुछ लिखने को नही रहता।

कथन नं० ८२ का समाधान :– द्रव्य का स्वरूप उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। इस प्रसग मे समीक्षक ने टिप्पण करते हुए लिखा है कि "उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप प्रत्येक सत् की उत्पत्ति को वह यथायोग्य पर की सहायता से मानता है, पर से नही मानता अर्थात् पर उसका कर्ता होता है–ऐसा वह नही मानता है।

सो इस सम्बन्ध मे हमारा इतना सकेत कर देना ही पर्याप्त है कि पर की सहायता मे कार्य होता है या पर से कार्य होता है, इन दोनो का अर्थ एक ही है। देखो समयसार गाथा १०६ यथा–

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
व्यवहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण॥ १०६॥

अर्थ – योद्धाओ के द्वारा युद्ध किये जाने पर राजा ने युद्ध किया यह लोकव्यवहार से अर्थात् उपचार से कहते हैं। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किये – ऐसा असद्भूत व्यवहार से उपचार से कहा जाता है। इतने पर भी समीक्षक के द्वारा की गई इस समीक्षा को पढकर ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि इतना स्पष्ट लिखने पर भी उसने अभी तक निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय के आशय को ख्याल मे नही लिया है और लेना भी नही चाहता।

कथन नं० ८३ का समाधान :– इस कथन मे भी समीक्षक ने उन्ही बातो को दुहराया है जिनका कथन न० ८२ मे स्पष्टीकरण कर आये हैं, क्योकि निश्चयनय का वक्तव्य आत्माश्रित ही होता है, पराश्रित नही। प्रकृत मे पराश्रितपना असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है। जैसा कि समयसार गाथा न० २७२ मे कहा भी है –

"आत्माश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारनय."

इसलिये निश्चयनय की अपेक्षा पर-निरपेक्षरूप से ही कथन किया जाता है। परसापेक्ष कथन करना यह प्रकृत मे असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। शेष सव कथन पुनरुक्त होने से उस पर अलग से ध्यान देना उचित प्रतीत नही होता।

कथन न० ८४ का समाधान :– इस कथन मे अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए जो यह लिखा है कि "समयसार में जहा व्यवहारपक्ष को उपस्थित कर निश्चयपक्ष के कथन द्वारा उसका निषेध किया गया है वहा ग्रन्थकार का यही आशय है कि जो लोग व्यवहारपक्ष को निश्चयपक्ष समझकर व्यवहार विमूढ हो रहे हैं, उनकी यह व्यवहार विमूढता समाप्त हो जाय। उसमे ग्रन्थकार का अभिप्राय व्यवहारपक्ष को सर्वथा असत्य सिद्ध करने का नही है।"

सो समीक्षक के इस कथन को पढकर हमें बडा आश्चर्य हुआ, क्योकि ग्रंथ का यही अभिप्राय होता तो वह अपने उक्त अभिप्राय को अवश्य ही लिपिबद्ध कर देता। कम से कम टीकाकार तो उसके द्वारा कहे गये इस अभिप्राय को अवश्य ही स्पष्ट कर देते।

किन्तु आ० कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा ९३ मे जो उल्लेख किया है – "पज्जयमूढा हि परसमया" तो यह वचन व्यवहार विमूढ जीवो को ध्यान मे रखकर ही किया है, क्योकि मात्र पर्याय को आत्मा मानना एकान्त से व्यवहारनय ही है। इसकी टीका मे इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है –

"यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छतः परसमया भवन्ति।"

"क्योकि बहुत से जीव पर्यायमात्र का ही अवलम्बन लेकर तत्व के अप्रतिपत्तिलक्षण मोह को प्राप्त होते हुए परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि होते हैं।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहा पर भी आ० कुन्दकुन्द देव ने व्यवहारनय के विषय को उपस्थित कर निश्चयनय के कथन द्वारा असत् कहकर उसका निषेध किया है, वह मात्र तत्व की यथार्थता को बतलाने के अभिप्राय से ही किया है।

आगे समीक्षक ने जो चार गतियो को उद्धृत कर व्यवहार को मिथ्या मानने का निषेध करके निश्चयनय के कथन द्वारा उसे सदोष ठहराया है, सो इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने स्वय ही अर्थात् अपने आप ही निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय का निषेध कर दिया है। खुलासा आवश्यकता पडने पर किया जायेगा तत्काल इतना लिखना पर्याप्त है। वैसे समीक्षक से बस इतना सकेत अवश्य करेंगे कि वह सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार को समझकर ही प्रकृत से लिखें यही तत्त्व विमर्श का मार्ग है।

कथन नं० ८५ का समाधान – प्रवचनसार गाथा १६९ की पूरी टीका इस प्रकार है –

"यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कधाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुदगल-पिण्डानां कर्मत्वकर्त्ता पुरुषोऽस्ति।" ।१६९।।

"कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कन्ध तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह वहिरग साधन रूप जीवके परिणाममात्र का आश्रय करके जीव उनको परिणमानेवाला न होने पर भी स्वय ही कर्मरूप परिणमते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डो को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।

इस टीका मे "परिणमयितारमन्तरेणापि" यह पद ध्यान देने योग्य है, क्योकि जैसे जीव पुद्गल स्कन्धो को कर्मरूप नही परिणमाता है उसीप्रकार जीव की सहायता से भी पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप नहीं परिणमते हैं।

यदि जीव शुभाशुभ भावो का कर्म की सहायता से कर्त्ता होता तो आ० कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य यह गाथा न लिखते –

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्म तो तस्स वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥ समयसार।

शुभ या अशुभ जिस भाव को आत्मा करता है वह उसका निश्चय से कर्त्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है, तथा वह आत्मा उसका भोक्ता होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयपक्ष मे परद्रव्य स्वरूप पर की सहायता अपेक्षित नहीं हुआ करती। अन्यथा उसे निश्चय कथन मानना मिथ्या हो जाता है।

इस प्रकार यह निश्चय हो जाने पर कि वाह्य या आभ्यतर निमित्त अन्य द्रव्य के कार्य मे परमार्थ से सहायक नही होता। यह मात्र सामान्य व्यवहार न होकर असद्भूत व्यवहार है, जिससे यह कहने में आता है कि वाह्य या आभ्यतर साधन अन्य द्रव्य के कार्य मे सहायक होता है।

समीक्षक ने इस कथन मे "स्वय" पद का जो पुद्गल स्कन्ध अपने रूप अर्थात् अपनी स्वाभाविक कर्मशक्ति के अनुरूप – कर्मरूप से अर्थ किया है सो उसका वह अर्थ करना दिशाभूल करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है, क्योंकि – कर्मत्व परिणमन शक्तिवाले पुद्गलस्कन्ध पद का टीका मे स्वय उल्लेख रहने से "स्वयमेव" पद का पुद्गलस्कन्धो की कर्मरूप परिणति की स्वभावरूप योग्यता, अर्थ करना प्रकृत मे कोई प्रयोजनीय प्रतीत नहीं होता।

उसको यदि असद्भूत व्यवहारपक्ष का ही समर्थन करना इष्ट है तो निश्चयपक्ष का खण्डन करने से इष्ट प्रयोजन की सिद्धि होना असभव है, क्योकि निश्चयपक्ष यथास्थित वस्तुस्वरूप को सूचित करता है अत असद्भूत व्यवहारपक्ष द्वारा उसका खण्डन नही किया जा सकता या अर्थ का विपर्यास करके आगम दूषित नही किया जा सकता। जहा भी कार्यकारण भाव मे इष्टार्थ निश्चयनय के कथन को सूचित करने का अभिप्राय रहता है वहा सर्वत्र 'स्वय" पद का अर्थ निश्चयनय से पर निरपेक्ष ही होता है, यह कहा जाता है और लिखा भी जाता है। अन्यथा प्रत्येक वस्तु स्वरूप से स्वय ही उत्पाद–व्यय ध्रौव्यस्वरूप है, यह कथन वन ही नही सकता है।

समीक्षक को चाहिये था कि वह व्यक्तिगत अपना कुछ भी अभिप्राय रखकर अपने को जैन भी घोषित करता रहे और समाज की दिशाभूल भी करता रहे, परन्तु अपने अभिप्राय से आगम को को भ्रष्ट करने का उपक्रम न करे तो यह उसके हित मे ही होगा।

कथन न० ८६ का समाधान – इस कथन मे समयसार गाथा ११६ से १२० तक की गाथाओं का उल्लेख कर इन गाथाओ की अवतरणिका मे "स्वय" पद न देखकर जो यह लिखा था कि "उक्त गाथाओ द्वारा केवल वस्तु के परिणाम स्वभाव की सिद्धि करना ही आचार्य को अभीष्ट है, अपने आप परिणाम स्वभाव की सिद्धि करना नही। सो इस सम्वन्ध मे हमारा कहना यह है कि यद्यपि उक्त गाथाओ की अवतरणिका मे "स्वय" पद के न होने पर भी उनका आत्मख्याति टीका

मे "स्वय" पद का प्रयोग किया ही है और पुद्गल द्रव्य को स्वय ही कर्मरूप परिणमनेवाला लिखा ही है, यथा –

"यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात्"

इसीप्रकार ११६ से ११६ गाथाओ मे भी "स्वय" पद का प्रयोग होने से पुद्गल स्वय ही अर्थात् अपने आप ही कर्मरूप से परिणमता है, यह सिद्ध हो जाता है, क्योकि निश्चयनय से स्वाश्रितपने को सूचित करने के लिये "स्वयमेव" पद का अर्थ होता है – "अपने आप ही" इसलिये हमने पूर्वपक्ष के कथन को विकृत करने का न तो प्रयत्न ही किया है और न हमारा ऐसा अभिप्राय ही है।

यद्यपि साख्य पुरुप को अपरिणामी मानता है, किन्तु इन गाथाओ द्वारा साख्य की उक्त मान्यताओ का निरसण तभी होता है जब पुद्गल द्रव्य के परिणाम स्वभाव को सिद्ध करने के अभिप्राय से जीव उसे नही परिणमाता, किन्तु वह स्वय ही अर्थात् अपने आप ही परिणमता है, यह बतलाकर ही स्वय परिणाम स्वभावपने की सिद्धि की है।

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गल दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्म कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११६ ॥ समयसार

फिर भी समीक्षक यह कहे कि पुद्गलो की कर्मरूप स्वाभाविक योग्यता को दिखलाने के लिये ही उक्त गाथा मे "स्वयमेव" पद आया है, सो यह बात भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योकि उक्त दोनो गाथाओ मे पुद्गल की कर्मरूप स्वाभाविक योग्यता को सूचित करने वाला स्वतत्र पद न होने पर भी "स्वयमेव हि परिणमदि" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल मे कर्मरूप परिणमन की स्वाभाविक योग्यता तो है ही, वह कर्मरूप भी स्वय ही परिणमता है – यह सूचित हो जाता है। इसलिये उक्त गाथाओ मे "स्वय" पद मात्र पुद्गल के कर्मरूप परिणमन की स्वाभाविक योग्यता के अर्थ मे न आकर, वह स्वय ही कर्मरूप परिणमता है, यह सूचित करने के लिए ही आया है। अन्यथा "स्वयमेव परिणमदि" इस वाक्य मे वर्तमान कालीन "परिणमदि" पद का कर्त्ता-कारक मे प्रयोग ही नही किया गया होता। इस विषय मे उसको एकान्त का आग्रह नही करना चाहिये। किन्तु अनेकान्त के सम्यक् स्वरूप को जानकर ऐसा ही निर्णय करना चाहिये कि पुद्गलद्रव्य कर्त्ता है और ज्ञानावरणादि कर्म हैं, दोनो स्वरूप से स्वय हैं, क्योकि कर्त्ता का स्वरूप कर्म सापेक्ष नही होता, उसी तरह कर्म का स्वरूप भी कर्तृ सापेक्ष नही होता, क्योकि इन दोनो को परस्पर सापेक्ष मानने पर दोनो के असत्व का प्रसग आता है तथा कर्तापने का व्यवहार और कर्मपने का व्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं होता, क्योकि कर्म के निश्चयपूर्वक कर्त्ता का ज्ञान होता है तथा कर्त्ता के निश्चयपूर्वक कर्म का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह अनेकान्त बनता है कि इन दोनो की सिद्धि सापेक्षिक होती है, क्योकि ऐसा व्यवहार है तथा ये दोनो अपेक्षा रहित हैं, क्योकि इनका स्वरूप स्वयसिद्ध है। जैसा कि अष्टसहस्री-कारिका ७५ के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"नहि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं, कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्वप्रसंगात्। नापि कर्तृव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्ति समधिगम्यमानत्वात्"

कर्त्ता का स्वरूप कर्मसापेक्ष नही होता। कर्म का स्वरूप भी कर्तृसापेक्ष नहीं होता, क्योकि इन दोनो को परस्पर सापेक्ष मानने पर दोनों के असत्व का प्रसंग आता है। उसी तरह कर्त्ता का व्यवहार तथा कर्मपने का व्यवहार परस्पर निरपेक्ष नही होता, क्योकि कर्म के निश्चयपूर्वक कर्त्ता का ज्ञान होता है और कर्त्ता के निश्चयपूर्वक कर्म का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह अनेकान्त बनेगा (१) स्यादापेक्षिकी सिद्धि तथा व्यवहारत् (२) स्यादनापेक्षिकी सिद्धि पूर्व प्रसिद्ध स्वरूपत्वात्।

इसी कथन में आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "जीव निश्चय से कर्म का कर्त्ता नहीं होता, जिसका तात्पर्य यह है कि जीव व्यवहार से कर्म का कर्त्ता होता है, अर्थात् जीव कर्म का कर्त्ता कर्मरूप परिणत होने रूप से न होकर पुद्गलकर्मरूप परिणमने मे सहायक होने रूप से होता है।" सो इस सम्बन्ध मे उसने ऐसा निष्कर्ष कहां से निकाल लिया कि "निश्चय से जीव कर्म का कर्ता नहीं होता जिसका तात्पर्य यह है कि वह व्यवहार से कर्म का कर्त्ता होता है और इस पर से यह निष्कर्ष कहा से फलित कर लिया कि जीव कर्म का कर्त्ता कर्मरूप परिणत न होकर, पुद्गल के कर्मरूप परिणमन में सहायक होने रूप से होता है" क्योकि जब निश्चयनय परनिरपेक्ष ही वस्तु के स्वरूप को दिखलाता है, ऐसी अवस्था मे "अर्थात्" लिखकर जो उसने निष्कर्ष फलित किया है वह किसी भी अवस्था मे सभव नही हो सकता, क्योकि निश्चयनय की विवक्षा मे परनिरपेक्ष कार्यकारणभाव को स्वीकार करने पर यदि उस आधार पर व्यवहारनय के वक्तव्य को फलित किया जाय तो निश्चयनय स्वाश्रित होता है, इसकी हानि का प्रसग आता है। जैसे कि एवभूतनय की अपेक्षा "आप कहा रहते हैं "यह कहा जाय तो उसका उत्तर होगा" अपने आत्मा मे रहते हैं।" हम पूछते हैं कि उक्त कथन से यह अर्थ कैसे फलित किया जा सकता है कि हम पर मे रहते हैं। अत निश्चयनय के वक्तव्य के आधार पर व्यवहारनय के वक्तव्य को फलित करना इसे तत्त्व को झुठलाना न कहा जाय तो और क्या कहा जाय। इसी अर्थ को सूचित करने वाले सर्वार्थसिद्धि के इस कथन पर दृष्टिपात कीजिये—

"अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधार कल्प्य। तथा अनवस्थाप्रसगः इति चेत्, नैष दोषः नाकाशादन्यदधिकपरिमाण द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत। सर्वतोऽनन्त हि तत्। धर्मानां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते, व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम् क्व भवानास्ते ? आत्मनि इति। "धर्मादीनि लोकाकाशात बहि सन्तीत्येतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्य फलम्।"

शंका:—यदि धर्मादिक द्रव्यो का अन्य आधार कल्पित किया जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार कल्पित करना चाहिए। और ऐसी कल्पना करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है ?

समाधान:—यह कोई दोष नही है, क्योकि "आकाश से अधिक परिणाम वाला अन्य द्रव्य नही है, जहा पर आकाश स्थित है यह कहा जाय।" वह सबसे अनन्त है, परन्तु धर्मादिक द्रव्यो का आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनय की अपेक्षा कहा जाता है। एवभूतनय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही है। कहा भी है—"आप कहा रहते हैं" अपने मे। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के वाहर नही हैं, इतना ही आधार-आधेय कल्पना से फलितार्थ लिया गया है।

यह वस्तुस्थिति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्यकारण भाव के अर्थ मे व्यवहारनय का कथन विकल्प की भूमिका मे ही वनता है। व्यवहारनय से जो कहा जाता है वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं होता। इसीलिये निश्चयनय का कथन परनिरपेक्ष ही सिद्ध होता है और व्यवहारनय के कथन को परसापेक्ष कहने का अभिप्राय ही यह है कि वह मात्र विकल्प का ही विषय है। वस्तु के स्वरूप मे परसापेक्षता स्वरूप से वनती ही नही।

कथन ८७ का समाधान:—त०च०पृ० ६१ पर हमने जो दूसरी आपत्ति उपस्थित की थी (गा० ११७ समयसार के उत्तरार्द्ध के सम्वन्ध मे) सो वह वस्तुस्थिति को समझकर ही उपस्थित की थी। जव समीक्षक पुद्गल द्रव्य ही क्या, प्रत्येक द्रव्य को परिणाम स्वभावी स्वीकार कर लेता है तो उसे प्रत्येक द्रव्य परमार्थ से स्वय परिणमता है यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये। कोई भी द्रव्य जव परतः परिणाम स्वभावी होता ही नही, ऐसी अवस्था मे उसने जो परत परिणाम स्वभावी न मानने पर व्रत के अभाव होने की आपत्ति दी है, वह प्रकृत मे तर्कसगत नही ज्ञात होती, क्योकि कर्म और नोकर्मरूप निमित्तो की स्वीकृति केवल परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य स्वत. परिणमन करता है, इस अर्थ की सिद्धि करने के लिए ही कही जाती है। जैसाकि अनगारधर्मामृत अ० १ मे कहा भी है—

> कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
> साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥

जिस निश्चय की सिद्धि के लिए वस्तु मे भिन्न कर्त्तादिक साधे जाते हैं, उसका नाम व्यवहार है। किन्तु निश्चयनय कर्त्तादिक वस्तु मे अभिन्न है यह दिखलाने वाला है।

हमने समयसार गाथा ११६ पर अच्छी तरह से दृष्टिपात किया है। हम तो आपको इस सबध मे यही सलाह देवेंगे कि वह पूरी गाथा को अच्छी तरह से पढ लेवे। यदि वह पूरी गाथा को अच्छी तरह पढते समय गाथा के उत्तरार्द्ध मे आये हुए "जई" पद पर ध्यान दें तो उन्हे यह आपत्ति उपस्थित करने का अवसर ही नहीं आता, क्योकि गाथा के उत्तरार्द्ध मे यह स्पष्ट कहा गया है कि "ऐसी अवस्था मे यह पुद्गल द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा।" वह अवस्था क्या है? इसी का पूर्वार्द्ध मे "यदि" पद के द्वारा उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार पूरी गाथा के अर्थ पर जब विचार करते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि यदि जीव मे पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से स्वयं नही बंधा है और कर्मरूप से स्वयं नही परिणमता है तो वह पुद्गल द्रव्य उस अवस्था मे अपरिणामी ठहरेगा।

हम समीक्षक के पूरे अभिप्राय को अच्छी तरह समझ रहे हैं। वह जो यह बतलाना चाहता है कि "कर्म या नोकर्म परद्रव्य के कार्य के होने मे सहायता करता है, सो यही उसका भ्रम है, क्योकि मात्र काल प्रत्यासत्तिवश इन दोनो मे निमित्त व्यवहार किया जाता है। यदि उसका प्रयोजन व्यवहारनय के पक्ष के समर्थन का ही हो तो उसका मार्ग दूसरा है। किसी अन्य द्रव्य के कार्य मे हस्तक्षेप करना व्यवहारनय का प्रयोजन नही है। वह तो परमार्थ से अन्य द्रव्य ने क्या कार्य किया, कालप्रत्यासत्तिवश इसकी सिद्धि कर देना ही उसका प्रयोजन है।

समीक्षक कितनी ही कठिनाई का अनुभव क्यो न करे, वह यह अच्छी तरह से जान लेवे कि आगम से हमारे कथन की ही सिद्धि होती है, क्योकि हमने परमार्थ से वस्तुस्वरूप का अवलम्बन लेकर ही लिखा – कहा है। कल्पना को परमार्थ मे बाधक बनाकर कुछ नहीं लिखा और न कुछ कहा ही है। यद्यपि कल्पना आरोप को ही कहती है, परन्तु वह अन्य में अन्य का आरोप भी सर्वत्र प्रयोजन से ही किया जाता है। प्रयोजन को छोडकर देखा जाय तो वह (कल्पना) झूठ के सिवाय और कुछ नही है।

बन्ध और मोक्ष ये दोनो ही जीव की अवस्थायें हैं। जीव ही स्वय अपनी नासमझी से रागादिरूप परिणमता है, इसलिए तो वह रागादि से बद्ध है, अत जीव कर्मपुद्गलो से बद्ध है यह उपचार कथन है तथा वह स्वय ही अपने पुरुषार्थ से मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसा परमार्थ होते हुए भी कर्मों की निर्जरा से जीव मुक्त होता है, यह कहना व्यवहार अर्थात् उपचार है। आशय यह है कि जब तक जीव के परिणाम मे पराश्रय भाव बना रहता है तब तक वह बन्ध अवस्था मे अवस्थित रहता है और जब वह स्वाश्रयभाव को अपने जीवन का अ ग बना लेता है तब वह क्रमश मुक्त हो जाता है। पुद्गल कर्मों के छूटने से वह मुक्त हुआ – यह कहना व्यवहार है अर्थात् उपचार है। यहा जैसे रत्नत्रयरूप परिणति मोक्ष का कारण है इसी बात को यदि कहा जाय कि रत्नत्ररूप परिणति ही परमार्थ से साक्षात् मोक्ष है। ऐसी अवस्था मे कर्मों का आत्मा से अलग होना यह कहना परमार्थ न होकर उपचार ही ठहरता है, क्योकि कर्म पुद्गलो की पर्याय हैं, वे न तो कभी आत्मा रूप परिणमे हैं और न कभी आत्मकार्य मे परमार्थ से सहायक बने हैं। जिन रागादि भावो से आत्मा बद्ध हैं वे ही आत्मा के आत्या के बाधक हैं, वास्तव मे कर्म नही।

समीक्षक ने त, च पृ ३० पर समयसार गा ११७ के प्रसग से "अपने आप" पद के आगे "स्वत सिद्ध" पद जोडने का जो हम पर आरोप किया है उसकी पुष्टि मे उस पक्ष को कोई प्रमाण अवश्य देना चाहिए था। बिना प्रमाण के उस पर विचार करने मे हम असमर्थ हैं। शेष कथन पिष्टपेषण मात्र है।

इसमे कोई सदेह नहीं कि पर द्रव्य दूसरे के कार्य में असद्भूत व्यवहार से निमित्त अवश्य होता है, इस कथन में हमे क्या विवाद है? किन्तु समयसार कलश १७५ मे जो "परसग" पद आया है सो उसका आशय रागी आत्मा की अपेक्षा पर की सगति करना, लिया गया है। अन्यथा कोई भी

आत्मा मुक्त नही हो सकता । यह आत्मा जब अज्ञान भाव से पर की सगति करता है तो नियम से बधता है – ऐसा उसका आशय है । परसग का अर्थ ही यह है – 'अनात्मीय भावनां आत्मभाव सयोग: ।' वास्तव मे सयोग का अर्थ अनात्यमीय भावो को आत्मरूप मानना ।"

यह आत्मा स्वय ही परिणाम स्वभाव की योग्यतावाला तो है ही और जब ऐसी योग्यता वाला है तो स्वय ही वह परिणमता भी है – ऐसा वस्तु स्वभाव है । उसमे अन्य द्रव्य निमित्त तो होता है, परन्तु वह उस समय स्वय अपने परिणाम को ही करता है, उसके उस परिणाम मे जैसे अन्य द्रव्य परमार्थ से सहायता नही करता वैसे ही आत्मा के परिणाम में भी अन्य द्रव्य परमार्थ से कोई सहायता नही करता । अन्यथा इस पराश्रयपने का कही अन्त न होने से अनवस्यादोष का प्रसग आ उपस्थित होता है । स पृ १७८

समीक्षक सर्वत्र आगम की दुहाई देकर यह सिद्ध करने का तो प्रयत्न करता है कि निमित्त-भूत वस्तु जीव के परिणमन मे परमार्थ से तो सहायक होती है, परन्तु अभी तक उसने अपने इस मत के समर्थन मे एक भी आगम वाक्य उपस्थित नही किया है।

समीक्षक समयसार गा ११६ के ४ चरणो का जो अर्थ करता है वह ठीक नही है । यदि उसे उनका ठीक अर्थ करना है तो वह इस प्रकार होगा –

"यदि पुद्गल द्रव्य को जीव मे स्वय (अर्थात् पर निरपेक्ष ही) अपने आप ही वद्ध न माना जाय और उसका परिणमन भी स्वय (अर्थात् निमित्त के विना) अपने आप ही न माना जाय तो वह अपरिणामी हो जायगा । (हमारे इस कथन की पुष्टि मे देखो समयसार गाथा १३७–१३८)

समीक्षक ने जो समयसार गाथा ६४ उदधृत कर अपने मत का समर्थन करना चाहा है सो उससे उसके मत का खण्डन ही होता है, क्योकि उससे यही सिद्ध होता है कि "जिनमे जो स्वभावभूत शक्ति होती है वह स्वय ही उस भावरूप परिणमता है । कोई अन्य उसके परिणमन में सहायता करता हो – ऐसा उसका आशय फलित नही होता । स गाथा ११६ मे "स्वय" पद का अर्थ कर्त्ता के अर्थ मे "अपने आप ही" है "अपने रूप" नही । जहा जो प्रकरण हो उसी के अनुसार उसका अर्थ किया जाता है । यहा कर्त्ता प्रकरण है, इसलिये स्वय पद का अर्थ "अपने आप" ही होगा" यहा अन्य कारक विवक्षित नही । व्यर्थ ही कल्पनाशील व्यवहार को इतना प्रवल बनाने की आवश्यकता नही, जिससे वस्तुस्वरूप अर्थात् निश्चय पक्ष की हानि का प्रसग उपस्थित हो जाय । श्री पडित जयचदजी छावडा ने भी इस पद का हमारे लिखे अनुसार ही अर्थ किया है । इन गाथाओ की सस्कृत टीका मे भी यही अर्थ किया गया है । श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने भी इस प्रसग से "स्वय" पद का यही अर्थ किया है जो हमने किया है । (देखो उनके द्वारा किये गये तत्वार्थवृत्ति के हिन्दी अनुवाद को ।)

कथन न ८८ का समाधान.—"सम" पद का प्रकृत मे क्या अर्थ होता है यह हम कथन न ८७ मे स्पष्ट कर आये हैं, इसलिए पुन उसकी चर्चा करना प्रयोजनीय प्रतीत नही होती । इस

प्रसग मे जो निमित्त के सहयोग की वात पुन पुन दुहराई जाती है उसका निरसन करते हुए उक्त टीका मे आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज ने गाथा १२३ का जो अर्थ किया है उससे भी यही ज्ञात होता है कि इस गाथा मे "स्वय" का अर्थ "अपने आप" ही होता है जैसा कि उन्होंने प्रकृत टीका मे यही अर्थ किया है। टीका इस प्रकार है —

"जीवेण सय वद्ध" पुद्गल द्रव्यरूप कर्म अधिकरणभूत जीव मे न तो स्वय वद्ध है, क्योकि जीव तो सदा शुद्ध है और "ण सय परिणमदि कम्भावेण" अपने आप कर्मरूप से भी अर्थात् द्रव्यकर्म की पर्यायरूप से भी नही परिणमता है" — तात्पर्य यह है कि समीक्षक "सय" पद का जो अर्थ करता है, वह अर्थ न तो मूल-गाथाओ से ही फलित होता है और न उनकी सस्कृत या हिन्दी टीकाओ से ही फलित होता है। अपनी विद्वता के वल पर किसी शव्द का कुछ भी निष्कर्ष निकालने वैठना विद्वता नही है। इससे अधिक और क्या लिखें ?

कथन नं. ८९ का समाधान —इस कथन मे भी समीक्षक ने उन्ही वातो को दुहराया है जिनके विषय मे अनेक वार विचार किया जा चुका है। किसी एक वस्तु के कार्य मे अन्य वस्तु की विवक्षित पर्याय को या उस वस्तु को या उन दोनो को मिलाकर निमित्त कहना, यह जव असद्भूत व्यवहार नय का विषय है — ऐसी अवस्था मे अन्य को अन्य के कार्य मे परमार्थ से सहायता करने की वात करना केवल शास्त्र की उपेक्षा ही कही जायेगी। कहा भी है — "अर्थक्रियाकारित्व हि वस्तुनो वस्तुत्वम्। द्रव्य अर्थक्रियाकारी होते हैं। जिसे हम अन्य द्रव्य के कार्य मे निमित्त कहते हैं वह स्वय प्रतिसमय अपना कार्य करने मे लगा रहता है, इसलिए वह अन्य द्रव्य के कार्य मे परमार्थ से सहायता करता है — ऐसा लिखना या कहना स्वमत का पोषण ही है, आगम नही। यदि उससे इस समय अन्य द्रव्य ने क्या कार्य किया — इस प्रकार की सूचना मिलती है तो इसे अन्य द्रव्य के कार्य मे परमार्थ से सहायता करना नही कहा जा सकता। अत हम तो उनसे यही निवेदन करेंगे कि वे अपने आग्रह को छोडकर जैनशासन की मर्यादा मे व्यवहारनय के कथन को यथार्थ रूप से समझने मे अपनी वुद्धि का उपयोग करें, वैसे समझते तो हैं। परन्तु पक्ष के व्यामोहवश तथ्य को स्वीकार नही करते।

कथन न० ९० का समाधान :—इस कथन मे शकाकार पक्ष ने जो निश्चयनय और व्यवहारनय की परस्पर सापेक्षता का निर्देश किया है सो यहा पर हम सापेक्षता का आगम मे क्या अर्थ लिया गया है इसे अष्टसहस्री के कथन द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं, जो द्रष्टव्य है।

अष्टसहस्री की कारिका १०८ मे सापेक्ष शव्द का अर्थ करते हुए भट्टाकलकदेव लिखते हैं—

"निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरायभवाच्च प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेदुर्नयादन्यनिराकृतेश्च।"

विवक्षित धर्म को छोडकर दूसरे धर्म का निराकरण करना निरपेक्षता है तथा सापेक्षता का अर्थ उपेक्षा है, अन्यथा प्रमाण और नयो मे कोई विशेपता नही रह जाती है, क्योकि विवक्षित धर्म

के साथ धर्मान्तर को ग्रहण करना प्रमाण का लक्षण है, विवक्षित धर्म के सिवाय अन्य धर्म का निषेध करना दुर्नय का लक्षण है, कारण कि इनको छोडकर प्रमाणादि के अन्य लक्षण हो ही नही सकते।

किन्तु यह सब कथन प्रत्येक वस्तु के अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और तत्-अतत् आदि धर्मो को ध्यान मे रखकर किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्यकारण भाव, आधार-आधेयभाव आदि की अपेक्षा जहा दो वस्तुऍं विवक्षित होती हैं, जैसे कुम्भकार को घट का निमित्त कर्ता कहना और कुम्भ को उसका कार्य कहना आदि, वहाँ स्वभाव और परभाव की दृष्टि से जब विचार किया जाता है तब विवक्षित मिट्टी ही घट का परमार्थ से कर्ता और घट परिणाम से परिणत हुई मिट्टी ही उसका परमार्थ से कार्य ठहरता है। अपने योग और उपयोग परिणत कुम्भकार न तो घट का कर्ता ही ठहरता है और न घट उसका परमार्थ से कर्म ही ठहरता है। मात्र यह उपचार कथन होने से असद्भूत व्यवहारनय से ही ऐसा कहा जाता है, इसलिये योग और उपयोग परिणत कुम्भकार घट कार्य के प्रति तत्वदृष्टया अकिंचित्कर होने से वह घट कार्य मे किसी भी प्रकार से उसे सहायक कहना परमार्थ नही ठहरता। समीक्षक निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनो को परस्पर सापेक्ष भले ही लिखे, परन्तु यहाँ पर व्यवहारनय से क्या अभिप्रेत है इसे वह जानबूझ कर स्पष्ट नही करना चाहता, क्योकि ऐसा करने से उसे अपने कथन की अपरिमित हानि होती हुई दिखाई देती है। अरे भाई! कुम्भकार को घट का कर्ता असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा गया है, सामान्य व्यवहारनय से नही, क्योकि कुम्भकार भिन्न वस्तु है और मिट्टी भिन्न वस्तु है। इन दोनो का एक दूसरे मे अत्यन्ताभाव है। फिर भी कुम्भकार को निमित्त कर घट बना, यह कहना अज्ञानियो का अनादिरूढ लौकिक व्यवहार है जो ज्ञानमार्ग मे हेय है। कालप्रत्यासत्तिवश या बाह्य व्याप्तिवश ही आगम मे लौकिक व्यवहार को प्रयोजनवश स्थान दिया गया है। जैसा कि समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका मे इस वचन से भी स्पष्ट है–

"कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्-व्यवहारः।"

यहाँ यह शका की जा सकती है कि पर मे निमित्तता का तो यहाँ निषेध नही किया है, केवल पर में कर्तृत्व का ही निषेध किया है सो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि बाह्य निमित्त मे परमार्थ से निमित्तपने का निषेध हो जाता है। हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि चरणानुयोग शास्त्र और करणानुयोग शास्त्र एक अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक भाव की दृष्टि मे लिखे गये हैं, परन्तु वहाँ भी उनके लिखे जाने का प्रयोजन कालप्रत्यासत्ति को ध्यान में रखकर ही उनकी रचना की गई है। जैसे – जिस समय जिसके क्रोध भाव होता है उसी समय क्रोध कषाय कर्म का उदय भी रहता है और उसी समय क्रोध कषाय को निमित्त कर नये कर्म का बन्ध भी होता है। ऐसा कहीं भी नही देखा जाता कि क्रोध कषाय कर्म का उदय तो हो और क्रोध पर्याय न हो। यह उपयोग की विशेषता है कि आत्मा में क्रोध पर्याय के होते हुए भी वह क्रोध को न अनुभवे – यह उपयोग की स्वतन्त्रता है।

सम्यक्त्व आदि के काल मे यह स्थिति बन् जाती है, इसमे कोई बाधा नही आती है, क्योकि सम्यक्त्व आदि स्वभाव पर्याय है, इसलिए पर में इष्टानिष्ट बुद्धि छोडकर उपयोग मे स्वभाव के आलम्बन से ही होती है।

प्रत्येक द्रव्य मे कार्य करने की जो स्वाभाविक योग्यता है उसके अनुरूप जब उपादान की भूमिका बनती है तब उसके अनुसार द्रव्य (पर्याय की योग्यता के अनुसार) स्वय ही उस कार्यरूप परिणमता है। (इसके लिये देखो समयसार गाथा ३७२ और उसकी आत्मख्याति टीका।) अपनी स्वाभाविक तत्कालीन उपादान योग्यता के कारण ही प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप परिणमता है, पर के कारण नही, ऐसा निश्चय करना ही जिनागम है।

समयसार मे जो "न जातु रागादिनिमित्तभावम्" इत्यादि कलश आया है उससे भी यही भाव व्यक्त होता है कि पर की सगति को परमार्थ से सहायक मानना अपराध है, पर की सगति नही। सगति शब्द मे यह अर्थ छिपा हुआ है। उसे अपने समर्थन मे खीचकर उससे जैनदर्शन को ईश्वरवादी बनाना योग्य नही है।

कथन नं. ९१ का समाधान :—इस कथन मे समीक्षक ने त० च० पर के हमारे कथन का निषेध करते हुए जो यह लिखा है कि व्यवहारनय का विषय भी निश्चयनय के विषय की तरह अपने ढग से वास्तविक ही है। वह आकाशकुसुम की तरह सर्वथा असत् नही है। इतना ही है कि व्यवहारनय का विषय निश्चयनय के विषय के समान सत्‌रूप नहीं है सो जब समीक्षक ही यह स्वीकार कर लेता है कि "वह निश्चयनय के विषय के समान सत्‌रूप नही है" तो इसका अर्थ ही यह हुआ कि जैसे कार्यरूप वस्तु मे उपादान के गुण-धर्म पाये जाते हैं उसप्रकार बाह्य निमित्त के धर्म उस कार्यरूप वस्तु मे नही पाये जाते। और जब कार्यरूप वस्तु मे बाह्य निमित्त रूप वस्तु के धर्म नही ही पाये जाते तब उसकी सहायतारूप धर्म कार्यरूप वस्तु मे नही पाया जायेगा और ऐसी अवस्था में कार्यरूप वस्तु मे सहायता रूप धर्म का अभाव ही रहेगा। इसलिए व्यवहारनय का (असद्व्यवहारनय का) विषय भी निश्चयनय के विषय की तरह अपने ढग से वास्तविक ही है" यह कहना उपचरित ही ठहर जाता है। हमने समयसार गाथा ५६ की आत्मख्याति टीका और मोक्षमार्गप्रकाशक पृ २८७ और पृ ३६९ के वस्तुस्थिति के समर्थन मे जो प्रमाण दिये हैं उनका भी वही पूर्वोक्त ही आशय है।

कथन नं. ९२ का समाधान :—इस कथन मे समीक्षक ने पुद्गल द्रव्य के स्वत सिद्ध परिणाम स्वभाव का समर्थन करते हुए "पुद्गल द्रव्य पर की अपेक्षा किये बिना स्वरूप से स्वय परिणाम स्वभावी है, मेरे इस कथन को पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध बतलाने की जो चेष्टा की है वह ठीक नही है, क्योकि जिसमे जो द्रव्य-पर्याय शक्ति स्वत सिद्ध होती है उसको वैसा होने के लिए पर की अपेक्षा की आवश्यकता नही पडा करती, यह अपने आप फलित हो जाता है। अन्यथा उसे स्वत सिद्ध कहना अज्ञान होगा। जैसे प्रत्येक द्रव्य स्वत सिद्ध है इसलिए वे परकी अपेक्षा के बिना स्वत सिद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है इसी प्रकार परिणाम स्वभाव भी स्वत सिद्ध होता है, इसलिए

वह पर की अपेक्षा के बिना ही परिणमन करता है। इतना अवश्य है कि बाह्य मे उसकी सिद्धि हम कालप्रत्यासत्तिवश उसी समय अवश्य ही रहने वाले क्रिया परिणामी या केवल परिणामी अन्य द्रव्य के माध्यम से करते हैं, इसलिए इस दृष्टि से आगम मे बाह्य निमित्त की व्यवस्था है।

कथन नं. ९३ का समाधान :— इस कथन मे जो "स्वय" पद का अर्थ "अपने आप न करके" "अपनेरूप" किया है सो समीक्षक को "स्वय" पद का यह अर्थ करते समय यह खबर नही रही कि दूसरे अर्थ के करने से निश्चय कथन की हत्या हो जायेगी, और ऐसा होने पर वस्तु स्वरूप से ध्रौव्य के समान, उत्पाद-व्ययरूप सिद्ध नही होगी, और ऐसी अवस्था मे प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व सर्वथा पराश्रित ही मानना पडेगा। यही तो ईश्वरवाद का जैनधर्म मे प्रवेश कराना है। इससे मालूम पडता है कि समीक्षक ने जैनत्व का कपडा ओढकर जैनधर्म मे ईश्वरवाद के समर्थन का बीडा उठा लिया है। नय दो हैं, दोनो नयो का अपना-अपना विषय है। निश्चयनय स्वरूप का कथन करनेवाला नय है और व्यवहारनय स्वरूप को गौणकर पर की अपेक्षा कार्य की सिद्धि करता है। परन्तु पर की अपेक्षा किसी की सत्ता बनती नही, इसलिये निश्चयनय स्वभाव से पर का निषेधक बन जाता है क्योकि व्यवहारनय जैसा कथन करता है, वस्तु वैसी होती ही नही। उसका विषय कथन मात्र ठहरता है।

कथन नं. ९४ का समाधान :— इस कथन मे समीक्षक ने जितना कुछ लिखा है उसका निरसन कथन न ९३ मे दिये गये हमारे वक्तव्य से हो जाता है। फिर भी यहाँ हम इतना उल्लेख कर देना चाहते हैं कि यदि विवक्षित वस्तु का कार्य उससे भिन्न परवस्तु की सहायता के बिना नही होगा तो वह परवस्तु भी अपने सहायतारूप काय को अन्य परवस्तु की सहायता के बिना नही कर सकेगी और वह अन्य परवस्तु भी अपने सहायतारूप कार्य को अपने से भिन्न अन्य वस्तु की सहायता के बिना नही कर सकेगी। इसप्रकार अनवस्था दोष के प्राप्त होने से परमार्थ से यही निर्णय करना उचित प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु अपने परिणाम स्वभाव के कारण स्वय परिणमन करती है। उसे परमार्थ से अपने परिणमन मे अन्य की सहायता की अपेक्षा नही पडती।

कथन नं. ९५ का समाधान .— इस कथन मे जो निश्चय कथन को व्यवहार सापेक्ष लिखा है सो इसका उत्तर हम कथन न ९१ के और ९३ के समाधान मे दे आये हैं, उसे ही यहाँ समझ लेना चाहिये। उसका आशय यह है कि निश्चयकथन पर निरपेक्ष ही होता है। व्यवहार से पर सापेक्षता कही जाती है।

कथन न. ९६ का समाधान .—इस कथन मे समीक्षक हमारे द्वारा किये गये "स्वय" पद के अर्थ को ठीक नही मानते हुए हम पर यह आपेक्षा करता है कि उसने "निरर्थक और आगम के विपरीत प्रतिपादन किया है। तत्त्व जिज्ञासुओ ! इस पर विचार करने की आवश्यकता है।"

सो इस विषय मे हमे इतना ही कहना है कि अन्त मे समीक्षक ने हारकर "स्वय" पद का अर्थ करने के लिए तत्त्व जिज्ञासुओ के ऊपर छोड दिया है। लोक मे कहा जाता है कि इस काम को

आप स्वय सम्पन्न कर लेन। । तो क्या यहा पर उसका यह अर्थ होता है कि आप इस काम को अपने रूप निपटा लेना, या यह अर्थ होता है कि आप इस काम को आप ही निपटा लेना। जैसे यह बात है उसी तरह से आगम मे भी निर्णय लेना चाहिये। तदनुसार 'स्वय परिणमता' का कर्त्ता कारक मे अर्थ होगा – आप ही परिणमता है।

कथन नं. ९७ का समाधानः—इस कथन मे समीक्षक के वचनो में आडवर और पुनरुक्ति के सिवाय और कोई तथ्य दिखाई नही देता, जिनके सम्बन्ध मे विस्तार से हम यहा उत्तर लिखें *आगम के प्रति छल कौन कर रहा है, वह कि हम,* इसका वह स्वय ही निर्णय करें। अन्त मे उसने जो यह लिखा है कि "*यह विवाद तत्व चर्चा से समाप्त नही हो सका, अतएव तत्व चर्चा की इस "समीक्षा" को लिखने की ओर ध्यान देना पडा है*" आदि, तो समीक्षा करने वाले पडितजी जबकि स्वय ही पूर्व पक्ष के एक सदस्य हैं, ऐसी अवस्था मे यह तो उन्हे ही सोचना चाहिए था कि "समीक्षा लिखने के अधिकारी हम नहीं हो सकते, *क्योंकि हम तटस्थ व्यक्ति नहीं हैं,* इसलिये, हमे समीक्षा लिखने का अधिकार नहीं हो सकता।" हम यहा इतना अवश्य कहते हैं कि यदि उक्त पडितजी स्वाश्रित निश्चयनय के कथन के अनुसार लिख सकें तो मैं उन्हे विश्वास दिलाता हू कि मैं निश्चयनय के कथन को किसी प्रकार की क्षति पहु चाये बिना सद्भूत और असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार वस्तु स्वरूप और कार्य कारण भाव का समर्थन कैसे लिखा जा सकता है – इसके लिये उनको इस जीवन के अन्तिम समय तक कभी भी उपलब्ध रहूगा।

कथन नं. ९८ का समाधानः—इस कथन मे भी समीक्षक ने "स्वय" पद के आधार पर ऊहापोह करते हुए लिखा है कि – "*उपादान मे कार्य की उत्पत्ति निमित्त कारणभूत वाह्यवस्तु की सहायता से ही होती है।*" *सो उसका ऐसा लिखना भ्रमोत्पादक ही कहा जायगा* । कारण कि एक तो उपादान में कार्य की उत्पत्ति होती ही नही, उपादान तो कारण है और वह कार्य के अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यरूप ही होता है, अत कार्य उपादान के ध्वसरूप ही होता है। इससे निश्चित है कि कार्य उपादान मे न होकर जो वस्तु कार्य का उपादान बनती है उसके अनन्तर समय मे ही होता है। दूसरे—निश्चयनय से प्रत्येक वस्तु स्वाश्रित ही होती है। उसका लक्षण भी यही है–"स्वाश्रितो निश्चय-नय" अत इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तब प्रत्येक परिणाम (कार्य) पर निरपेक्ष स्वय ही (अपने आप ही) होता है ऐसा आगम से स्वीकार करने मे कोई बाधा नही आती। प्रवचनसार गाथा १६९ की तत्वदीपिका टीका मे आये हुए "स्वमेव" पद का भी यही आशय है। अन्यत्र जहा कर्ता कारक के अर्थ मे "स्वयमेव" पद आया है वहा भी इस पद का यही अर्थ करना चाहिये। प्रवचन-सार गाथा १६ की इसी तत्वदीपिका टीका मे "*स्वयभू" पद का षट्कारक के रूप मे जो स्पष्टीकरण* मिलता है सो उसका भी यही आशय है और इसीलिए उसकी पुष्टि मे प्रवचनसार गाथा १६ की तत्वदीपिका टीका मे यह कहा गया है कि "निश्चयनय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नही है, जिससे कि शुद्ध आत्मस्वभाव के लाभ के लिये सामग्री की मार्गणा की व्यग्रता से यह जीव परतत्र होवे" उल्लेख इस प्रकार है –

अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति यत शुद्धात्मस्वभाव-लाभाय सामग्रीमार्गणाव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ।

यह कार्य कारण का ही प्रकरण है। इतना अवश्य है कि यहा पराश्रित कार्यकारण भाव की अपेक्षा कथन नही किया गया है। किन्तु स्वाश्रित कार्य कारणभाव की अपेक्षा ही यह कथन किया गया है। वही मुख्य है, अन्य कथन तो प्रयोजन के अनुसार कथन मात्र हैं।

कथन नं. ९९ का समाधानः—इस कथन मे समीक्षक ने उपचार पद के अर्थ को स्वीकार कर लिया है पर उसे गौण करके अन्य विषय की चर्चा छेड दी है, किन्तु उसे मालूम होना चाहिये कि धवल पु पृ. ११ का अनुवाद मेरा नही है। मैंने तो उस अनुवाद को प्रामाणिक मानकर ही उसका उल्लेख मात्र किया था। इसकी चर्चा वह पहले भी कर चुका है और मुख्य मुद्दे को छोडकर यहा भी कर रहा है। हम कहते हैं कि उसे इसी प्रकार यहा और सर्वत्र अपने वक्तव्य मे सुधार कर लेना चाहिए। ऐसा न करके प्रकृत मे उसका यह तो अपने पृ. ३१ वक्तव्य के सम्बन्ध मे अपने को छिपा लेना हुआ। जो तत्व चर्चा में उपयुक्त नही माना जा सकता। उसने पृ ३१ मे समयसार के आधार से लिखा था—

"परन्तु ऐसा उपचार प्रकृत मे सम्भव नही है कारण कि आत्मा के कर्तृत्व का उपचार यदि द्रव्य कर्म मे आप करेंगे तो इस उपचार के लिये सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजन देखना होगा जिसका कि सर्वथा अभाव है।"

इसका समाधान करते हुए हमने लिखा था – समाधान यह है कि यहाँ पर न तो व्यवहार हेतु और न व्यवहार प्रयोजन का अभाव ही है और न ही आत्मा के कर्तृत्व का उपचार द्रव्यकर्म मे कर रहे हैं, किन्तु प्रकृत मे हम कर्म परिणाम के सन्मुख हुए कर्म वर्गणाओ के कर्तृत्व का व्यवहार हेतु सज्ञा को प्राप्त अज्ञानभाव से परिणत आत्मा मे कर रहे हैं।

हमारे इस समाधान से स्पष्ट है कि समीक्षक अपनी भूल को ऐसे रूप मे स्वीकार करता है कि वह शब्दो के जाल मे सब की समझ मे न आये। □

उपसहार

पूर्व पक्ष ने (समीक्षक ने) इस समीक्षा लिखने में जो भूलें की हैं, उनमे से कुछ भूलों का संक्षेप मे स्पष्टीकरण :—

(१) मूल शंका :—द्रव्य कर्म के उदय से ससारी आत्मा का विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नही ?

समाधान :—"ससारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण में द्रव्य कर्म का उदय निमित्त मात्र है विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण का मुख्य कर्त्ता स्वय आत्मा ही है।"

यह उत्तर हमने इसलिये दिया था कि प्रत्येक कार्य मे एक ही कारण नहीं होता, इसलिये समीक्षक द्वारा केवल उपचारनय से (असद्‌भूत व्यवहारनय से) पूछी गई शका का पूरा समाधान हो जाना आवश्यक था। यह जानकर हमने उक्त उत्तर दिया था । इसके अतिरिक्त हम और क्या कर सकते थे ?

(२) शंका :—समीक्षक व्यवहार के विषय को कथचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ मानता है। स. पृ ४

समाधान :—यह समीक्षक का कहना है, किन्तु प्रकृत मे व्यवहारनय से असद्‌भूत व्यवहार-नय का ग्रहण किया गया है। इसलिये वह भूतार्थ नही होता, क्योकि वह उपचरित (कल्पनारोपित) धर्म का कथन करता है जिसका कि कार्य-वस्तु मे सर्वथा अभाव है। जिस कार्य का निमित्त कहा गया है उसमे भी अन्य द्रव्य के कार्य का कारण धर्म वास्तविक नही होता। बाह्य वस्तु मे कालप्रत्यासत्ति वश कारणता का आरोप करके उसे कार्य का निमित्त कहा जाता है। स्वय समीक्षक इसी पृष्ठ मे "और निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म में स्वीकृत निमित्त कारणता, अयथार्थ कारणता और उपचरित कर्तृत्व व्यवहार के विषय हैं" यह लिखकर हमारे कथन को स्वीकार कर लेत है।

(३) शंका :—"वहा पूर्व पक्ष उसे उस कार्यरूप परिणित न होने के आधार पर अभूतार्थ और ससारी आत्मा की उस कार्यरूप परिणिति मे सहायक होने के आधार पर भूतार्थ मानता है। स पृ ५।

समाधान :—निमित्त और सहायक का एक ही अर्थ है। और निमित्त अयथार्थ कारण है। इस प्रकार जबकि उसमे कारणता अयथार्थ है तो उसकी सहायता से काय हुआ, परमार्थ से यह कहना कैसे सगत हो सकेगा, अर्थात् नही हो सकेगा। और फिर कार्य-द्रव्य अत्यन्त भिन्न है, उसमे उपचरित कारण-द्रव्य का अत्यन्ताभाव है। इसलिये उसकी सहायता से कार्य हुआ ऐसा कहना असद्‌भूत व्यवहार से ही बनता है, परमार्थ से नही। अत. जैसे निमित्त को कारण कहना अभूतार्थ है वैसे ही उसकी सहायता से कार्य हुआ – यह कहना भी अभूतार्थ है, भूतार्थ नही है, क्योकि निमित्त की सहायता से कार्य हुआ– यह कहना भी उपचरित अर्थ को ही सूचित करता है।

(४) शंका :– आरोप है कि व्यवहारनय के विषय मे तो विवाद नही है, विवाद केवल कार्य मे निमित्त की अकिंचित्करता के विषय मे है। उत्तरपक्ष कार्य मे उसे सर्वथा अकिंचित्कर मानता है और हम भूतार्थ मानते हैं। स. पृ ५६।

समाधान :—जो कर्म का उदयादिरूप निमित्त हो या अन्य कोई निमित्त हो, वह कार्य में अपने गुण धर्म को प्रदान नही करता, इसलिये इस अपेक्षा से वह अकिंचित्कर है। किन्तु विवक्षित द्रव्य अपने परिणामरूप अपना कार्य करता है वैसे ही उसका निमित्त द्रव्य, या बाह्य निमित्त द्रव्य क्रम से उदयादिरूप और अपने परिणामरूप अपना कार्य करता है। इन दोनो के एक काल मे होने का नियम है, इसलिये प्रयोजनवश उनमे निमित्त व्यवहार कर लिया जाता है।

(५) शका :—(समयसार गाथा ८१) ऐसा लगता है कि उत्तरपक्ष ने "कर्म गुण" और "जीव गुण" इन दोनो पदो को सप्तमी तत्पुरुष के रूप मे समझकर गाथा का अर्थ किया है जब कि उन पदो की षष्ठी तत्पुरुष के रूप मे समस्त पद मानकर गाथा का अर्थ करना चाहिये था? स० पृष्ठ ६।

समाधान :—इस गाथा मे "कम्मगुणे" और "जीवगुणे" पद हमने सप्तमी विभक्ति मे समझकर अर्थ नही किया है, वह सप्तमी विभक्तिरूप है भी नही। वे दोनो पद द्वितीया विभक्ति के बहुवचन हैं। हमने इसी को ध्यान मे रखकर कोई भूल नही की है।

(६) शंका :—पूर्वपक्ष (प्रेरक और उदासीन) दोनो निमित्तो को मानता है? स पृ १३।

समाधान :—आगम में निमित्त दो प्रकार के स्वीकार किये गये हैं – विस्रसा और प्रायोगिक। द्वीन्द्रियादि जीव जिस कार्य मे बुद्धिपूर्वक निमित्त होते हैं, उनकी यह निमित्तता प्रयोग-निमित्तक (प्रायोगिक) जाननी चाहिये। शेष अबुद्धिपूर्वक जितनी निमित्तता है वह सब विस्रसा कहलाती है। इसलिये आगम मे उदासीन और प्रेरक निमित्त जिन्हे कहा गया है, वे यदि अबुद्धिपूर्वक निमित्त हुए हैं तो वे दोनो विस्रसा निमित्तो मे परिगणित हो जावेंगे तथा बुद्धिपूर्वक निमित्त प्रायोगिक कहलावेंगे –ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

(७) शका :—प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती है? स पृ १३।

समाधान :—आगम मे कार्यकाल मे कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य द्रव्य मे निमित्तता स्वीकार की गई है, इसलिये विवक्षित कार्य के साथ ही उसमे होने वाले किसी भी प्रकार के निमित्तो की अन्वय व्यतिरेक व्याप्तिया बनती हैं। जैसे – जिस समय आत्मा क्रोध परिणामरूप परिणमता है उसी समय क्रोध कषाय कर्म का उदय रहता है और बाह्य अनुकूलता भी उसी समय बनती है। यह स्वीकार करना ही ठीक है। असद्भूत व्यवहार से इसे इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि जिस समय क्रोध कषाय कर्म का उदय है उसी समय क्रोधरूप परिणाम होता है। इन दोनो मे समव्याप्ति

है । प्रमेयरत्नमाला के उद्धरण (३–६३) का भी यही अर्थ है, क्योकि उपादान के अनुसार होने वाले कार्य के साथ प्रायोगिक या विस्रसा किसी भी प्रकार के निमित्तो की समव्याप्ति है । अत समीक्षक ने जो प्रेरक निमित्त मानकर उसका उदासीन निमित्त से भिन्न लक्षण करने की चेष्टा की है वह यथार्थ नही है ।

समीक्षक ने जो प्रेरक निमित्तो के विषय मे रेल के इजन व डिब्बो का उदाहरण उपस्थित किया है, सो उस उदाहरण से यही निश्चित होता है कि समय भेद के बिना, दोनो मे एक ही साथ गति उत्पन्न होती है या दोनो ही एक साथ ही रुक जाते हैं । यह विवक्षा की बात है कि हम इजन को प्रेरक कारण मानकर यह लिखें या कहे कि इजन के चलने पर डिब्बो मे गति उत्पन्न होती है । वस्तुत यहाँ प्रायोगिक कारण ड्राइवर है । उसके विकल्प और योगरूप क्रिया के काल मे ही इजन व डिब्बो दोनो मे गति उत्पन्न होती हुई देखी जाती है । इजन से जुडे हुए डिब्बे उस समय इजन के अग हैं इसलिये ये दो नही एक ही हैं । अत प्रकृत मे रेलगाडी समर्थ उपादान है, उसमे गति का विकल्प और योग क्रिया करता है उसी समय रेलगाडी भी चलने लगती है । इसी को उपादान की मुख्यता से यह भी कहा जा सकता है कि जिस समय रेलगाडी चलती है उसी समय ड्राइवर उसमे प्रायोगिक निमित्त होता है । इन दोनो की क्रिया मे कालप्रत्यासत्ति है, इसलिये उपादान या निमित्त किसी की भी मुख्यता से कथन किया जा सकता है, तात्पर्य एक ही है ।

(८) शंका :– प्रेरक कारण – अनुकूल निमित्तो का सहयोग मिलने पर उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जब तक अनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त न हो तब तक उसकी (उपादान की) विवक्षित कार्यरूप परिणति न हो सकना – यह निमित्तो के साथ कार्य की अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं । स पृ १३.।

समाधान :– आगम मे कार्य-कारणभाव के मध्य कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की गई है । इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिस काल मे उपादान है उससे होने वाले कार्य के समय ही निमित्त है । इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि जिस समय जिस कार्य का निमित्त है उसी समय वह अपने उपादान का कार्य है । इसलिये यह आगम से कहाँ सिद्ध होता है कि उपादान के रहते हुए भी जब तक उसके अनुकूल (प्रेरक) निमित्त नही मिलते तब तक उससे विवक्षित कार्य नही होता ।

ऐसा मालूम पडता है कि यहाँ समीक्षक ने आगमोक्त निश्चित उपादान को स्वीकार न करके यह लिखा है, किन्तु उसका यह कहना तभी सगत माना जा सकता था जब आगम मे प्रत्येक कार्य के प्रति समर्थ उपादान की स्वतन्त्र व्यवस्था न की गई होती । समीक्षक को यह समझना चाहिये कि प्रत्येक कार्य को उत्पन्न करनेवाला समर्थ उपादान ही कार्यकारी माना गया है, केवल द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत उपादान नही । इसलिये चाहे प्रेरक (प्रायोगिक) निमित्त हो या उदासीन (विस्रसा) निमित्त हो जब समय उपादान कार्य के सन्मुख हो तभी दोनो की उपयोगिता मानी गई है ।

(९) **शंका :–** इतना स्पष्ट है कि दोनो ही पक्ष उपादान की कार्यरूप परिणति के अवसर पर दोनो निमित्तो की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं। इतनी समानता पायी जाने पर भी दोनो पक्ष के मध्य जो मतभेद है वह यह कि उत्तरपक्ष उन्हे वहा सर्वथा अकिंचित्कर मानता है जब कि पूर्वपक्ष उन्हे वहा कार्योत्पत्ति मे उपादान के सहायक होने रूप से कार्यकारी मानता है। स पृ १४।

समाधान :– इस वक्तव्य मे मुख्यतया "सर्वथा" पद ही विवाद का विषय है। इसे समीक्षक का हमारे ऊपर आरोप कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी, क्योकि उत्तरपक्ष कार्य के प्रति निमित्तमात्र को असद्भूत व्यवहारनय से स्वीकार करता है। इसलिए उसका (उत्तरपक्ष का) कहना है कि जब वह कार्य के प्रति असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त माना गया है तो उसे निमित्त को कार्य के प्रति असद्भूत व्यवहारनय से ही सहायक मानना चाहिये। किन्तु समीक्षक इसे मानने के लिए तैयार नही है। वह कार्य के प्रति निमित्त को व्यवहारनय से कारण मानकर भी भूतार्थ रूप से उसको सहायक मानता है। हमने कार्य-कारण भाव मे निमित्त को लक्ष्य कर उसे सर्वथा अकिंचित्कर कही भी नही लिखा। अपनी गलत मान्यता को छिपाने के लिये समीक्षक का हमारे ऊपर यह मात्र मिथ्या आरोप है।

उसके कथन मे एक भूल तो यह है कि वह असद्भूत व्यवहारनय के स्थान मे मात्र व्यवहारनय का प्रयोग करता है और इस प्रकार वह पाठको को भ्रम मे डाले रखना चाहता है।

दूसरी भूल यह है कि जबकि आगम मे निमित्त को असद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् उपचार से सहायक माना गया है, ऐसी अवस्था मे वह उसे भूतार्थरूप से सहायक मानता है। इसे आगम का अपलाप न कहा जाय तो और क्या कहा जाय ?

(१०) **शंका :–** कथन ३० मे समीक्षक का कहना है कि कुम्भकार घटोत्पत्ति मे स्वरूप से कारण या कर्ता नही है व घट स्वरूप से कुम्भकार का कार्य नही है। यह अवश्य है कि कुम्भकार मे घटोत्पत्ति के प्रति सहायक होने रूप से योग्यता का सद्भाव है और घट मे कुम्भकार की सहायकता मे उत्पन्न होने की योग्यता का सद्भाव है ?

समाधान :– यहा सवाल यह है कि कुम्भकार मे घट की उत्पत्ति मे सहायक होने की योग्यता और घट मे कुम्भकार की सहायता मे उत्पन्न होने की योग्यता स्वरूप से है या इन दोनो मे दोनो योग्यतायें असद्भूत व्यवहारनय से कल्पित की गई हैं या कही गई हैं। स्वरूप से हैं यह तो समीक्षक को स्वय स्वीकार नही है। यदि कल्पित की जाती है या कही जाती है तो यहा समीक्षक को यह स्पष्ट कर देना आवश्यक था कि इसप्रकार की ये दोनो मे दोनो प्रकार की योग्यतायें असद्भूत व्यवहारनय से कल्पित करली जाती हैं या कही जाती हैं। यह एक उदाहरण है, निमित्त कथन की दृष्टि से सर्वत्र ही इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

(११) **शंका :–** कार्य की निष्पत्ति उपादान मे ही हुआ करती है ?

समाधान :– कार्य की निष्पत्ति उपादान मे ही होती है यह कहना अधिकरण कारकपने की अपेक्षा यथार्थ है, किन्तु कर्त्ता कारक की दृष्टि से उपादान ही कार्य को उत्पन्न करता है ऐसा

समीक्षक स्वीकार नही करता, इसका हमे आश्चर्य है। समीक्षक 'य परिणमति' का सर्वत्र प्राय यही अर्थ करता आ रहा है इसलिये यह विचारणीय हो जाता है। दूसरे समीक्षक ने यही पर अपने उक्त कथन को जो द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय लिखा है तो यह कथन सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योकि उक्त कथन मे आधार-आधेय भाव की विवक्षा होने से वह द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय कैसे हो गया – यह वही जाने ।

(१२) शका :– समीक्षक का कहना है कि वाह्याभ्यतर सामग्री के रहने पर, यदि प्रतिवन्धक कारण का सद्भाव हो तो कार्य नही होता ?

समाधान :–आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता मे कार्य होता है, यह वस्तुगत स्वभाव है। ऐसी अवस्था मे यह समीक्षक वतलावे कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति के प्रतिकूल यदि प्रतिवन्धक सामग्री का सद्भाव है तो वहा किसी भी कार्य के होने मे वाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता कैसे मानी जाय ? अर्थात् नही मानी जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि जिसे समीक्षक प्रतिवन्धक कारण कहता है तो यहा देखना यह है कि प्रतिवन्धक कारण क्या द्रव्य को सर्वथा अपरिणामी बना देता है या उसके अभाव मे जिस कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये थी वह न होकर दूसरे कार्य की उत्पत्ति मे वह निमित्त हो जाता है। यदि समीक्षक कहे कि उस प्रतिवन्धक कारण के अभाव मे जिस कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये थी उसकी उत्पत्ति न होकर जिस कार्य का वह प्रतिबन्धक नही है उस कार्य की उत्पत्ति होने लगती है तो इसका यह अर्थ हुआ कि समीक्षक उस समय किसी अन्य कार्य की कल्पना कर उसे उस कार्य का प्रतिबन्धक कह रहा है। वस्तुत उस समय उपादान के परिणमनरूप या परिस्पदरूप कार्य का वह प्रतिवन्धक न होकर उसके होने मे अन्य निमित्तो के समान वह भी एक निमित्तमात्र है।

(१३) शंका :–कथन ३१(ग) के अनुसार समीक्षक उपादान कारणभूत वस्तु को द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय मानता है सो उसका ऐसा मानना समीचीन है क्या ?

समाधान :–आगम मे सर्वत्र उपादान-उपादेय भाव का निर्देश करते हुए अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य को उपादान और अव्यवहित उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य को उपादेय कहा गया है। इसलिये समीक्षक ने उपादान को जो द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विपय लिखा है सो उसकी वह मान्यता एकान्तवाद से दूषित हो जाने के कारण आगम मे उसे मान्य नही किया जा सकता दूसरे द्रव्यार्थिक शुद्ध निश्चयनय का विषय तो अभेद विवक्षा मे सम्यग्दर्शन या रत्नत्रय परिणत स्वभावभूत आत्मा ही होता है, न कि उपादान कारणभूत वस्तु, किन्तु वस्तु तो विभाव पर्याय से परिणत होकर भी उपादान कारण होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर वह अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य ही उपादान ठहरता है, जिसे आगम मे प्रमाण का विषय स्वीकार किया गया है। (देखो अष्टसहस्री कारिका १० की अष्टसहस्री टीका के टिप्पण।)

इसप्रकार हम देखते है कि समीक्षक द्वारा लिखी गई खानिया तत्वचर्चा की समीक्षा अनेक आगम वाह्य विवेचन का कलेवर है। इत्यल विस्तरेण।

मूल शंका २ की सामान्य समीक्षा का समाधान

मूल शंका २ :– जीवित शरीर की क्रिया से धर्म-अधर्म होता है या नही ?

समाधान :– इस शका को उपस्थित करने मे शकाकार का क्या अभिप्राय रहा है यह उत्तर पक्ष कैसे जानता ? शका मे "जीवित" शब्द शरीर का विशेषण है। यही उत्तर पक्ष ने समझा था, इसलिये इसी आधार पर उसने उत्तर दिया था, जो युक्तियुक्त होने से शकाकार पक्ष को या समीक्षक को मान्य कर लेना चाहिये था।

अब जो उसने लिखा है उसके अनुसार हम उससे आत्मा मे धर्म-अधर्म का निषेध नही करते हैं, क्योकि शरीर आत्मा के धर्म और अधर्म मे असद्भूत व्यवहारनय से ही निमित्त है, बाह्य निमित्त होकर वह परमार्थ से सहयोग नही करता। वह सहयोग नही करता है – यह कहना भी उपचरित ही है, जो प्रयोजन विशेष से कहा जाता है।

हमारे सामने कोई विचारणीय प्रश्न नही, क्योकि आत्मा मे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति का आधार भी स्वय आत्मा ही है, क्योकि जिसमे जो उत्पन्न होता है परमार्थ से वही उसका आधार होता है। शरीर को उसका आधार कहना यह उपचार मात्र ही है।

जीव जो पुरूषार्थ करता है वह जीव की ही परिणति विशेष है। शरीर उसमे उपचार से निमित्त मात्र है। कोई किसी को परमार्थ से सहयोग नही करता। सब अपनी-अपनी परिणति मे मग्न हैं। आगे स पृ १९१ के प्रारम्भ मे उसने जो कुछ लिखा उसका भी यही उत्तर है।

(१) क्रमाक के अन्तर्गत, जो कुछ लिखा है उसका उत्तर यह है कि धर्म आत्मा का रत्नत्रय-रूप परिणाम है और अधर्म मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम है। इनके होने मे जहा जिसकी सभावना बनती है वहा उसमे शरीर उपचार से निमित्त है। आगे क्रमाक के अनुसार समाधान इस प्रकार है–

(२) द्रव्य मन, वचन और काय ये तीनो जीव के सक्रिय होने मे निमित्त हैं। जीव मे धर्म और अधर्म की व्याख्या उसके परिणामो के अनुसार बनती है। आत्मलक्षी परिणाम धर्म भाव का कारण है और परलक्षी परिणाम इसके विपरीत भाव का कारण है। ऐसी सीधी व्याख्या करना ही श्रेयस्कर है।

(३) ससार शरीर और भोगो के प्रति जो मन, वचन और काय को निमित्त कर उपयोग परिणाम होता है उसी का नाम अशुभोपयोग है। ससार के प्रयोजन को गौणकर सम्यक् देवादि के प्रति या व्रतादि के प्रति जो उक्त प्रकार से उपयोग परिणाम होता है उसी का नाम शुभोपयोग है। धर्म भाव इससे सर्वथा भिन्न है। वह मुक्ति स्वरूप है और क्रम से पूर्ण मुक्ति का कारण है।

(४) इनमे शुभ और अशुभ परिणति तथा शुभोपयोग अशुभोपयोग बन्ध के कारण या स्वय ही बन्ध स्वरूप हैं। तथा स्वभाव परिणति और शुद्धोपयोग मोक्ष के कारण हैं या स्वय मुक्ति स्वरूप हैं।

भाववती शक्ति और क्रियावती शक्ति का परिणमन यथासभव धर्म और अधर्म होने में अन्तरग और वहिरग निमित्त हैं । इसलिये उनके आधार से हमने प्रकृत मे उहापोह करना प्रयोजनीय नही समझा । यहा तो यह देखना है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है ?

आगे समीक्षक ने पृ १६२ मे "यहा पर यह ज्ञातव्य" के अन्तर्गत जो कुछ लिखा है वह उसकी मान्यता है, वह आगम नही । तथा प्रकृत मे प्रयोजनीय नही होने से यहा हम उस विषय मे नही लिख रहे हैं । समीक्षक मूल शका को ध्यान मे रखकर लिखता नो प्रकृत मे उपयोगी होता ।

मूल शंका २ के पहले दौर की समीक्षा का समाधान

सीधा प्रश्न यह है कि "जीवित शरीर के क्रिया से धर्म, अधर्म होता है या नही ? इसमे "जीवित" शब्द शरीर का विशेषण है । जब कोई प्राणी मरण के सम्मुख होता है तो देखने वाले पूछते है कि यह प्राणी जीवित है कि मर गया ? इससे हम जानते हैं कि "जीवित" यह विशेषण जीते हुए प्राणी के लिए लगाया जाता है, न कि शरीर के लिये । किन्तु समीक्षक इस विशेषण को शरीर के साथ लगाकर उससे धर्म या अधर्म होता है या नही – यह पूछता है । इसलिये यदि हमने उसकी शका के अनुसार उत्तर दिया तो फिर आश्चर्य है कि वह यह लिखने का साहस कैसे कर रहा है कि "उत्तर प्रश्न के आशय के प्रतिकूल और निरर्थक है।" यह तो उसे शका उपस्थित करते हुए सोचना चाहिये था कि हम उत्तर पक्ष के सामने इस भाषा मे शका उपस्थित करें जिससे उत्तर पक्ष द्वारा हमारे आशय के अनुरूप हमे समाधान मिल जाय । समीक्षक ने जिस भाषा मे शका की थी, समाधान भी उसी को ध्यान मे रखकर किया गया था । अब व्यर्थ के विकल्प से कोई लाभ नही । समाधान आगम सम्मत है –

शकाकार शरीर की क्रिया को जीव की क्रिया मान लेना चाहता है सो इस सबध मे हमने जो नाटक समयसार पद्य १२१–१२३ समयसार कलश २४२ और परमात्मप्रकाश पद्य २–१६३, प्रमाण उपस्थित किये हैं उनसे तो अज्ञानी के उसी विकल्प का सूचन होता है जिसे शकाकार पक्ष जीवित शरीर की क्रिया कहता है । इसलिये हमने अपने समाधान में जिन प्रमाणों को उपस्थित किया है, समाधान के अनुरूप हैं । किन्तु शकाकार पक्ष हमारे सप्रमाण समाधानो पर से जो आशय फलित करता है, वह फलित नहीं होता । और न हमारा समाधान आगम से विपरीत ही है । शकाकारपक्ष की ही उक्त शका आगम के विपरीत अवश्य ही है । इतने बडे विद्वानो के द्वारा उपस्थित की गई ऐसी शका अवश्य ही हसी और मनोरजन का साधन बनी हुई है ।

शकाकारपक्ष जिसे जीवित शरीर की क्रिया कहता है वह अजीव तत्व में अन्तर्भूत होती हैं, क्योकि शरीर जीवित नही होता, जीवित तो जीव होता है । इसलिये न तो वह परमार्थ से धर्म अधर्म का हेतु ही है और न स्वय धर्म अधर्म ही है । फिर भी जैसे वह पक्ष यह कहने मे नही हिचकिचाता कि ससारी आत्मा परमार्थ से भोजन नहीं करता तो कौन करता है ? वैसे ही वह पक्ष "जीवित शरीर" कहकर उससे परमार्थ से धर्म और अधर्म मानता हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योकि वह पक्ष जब जीव को जीवित कहने की अपेक्षा शरीर को ही जीवित कहता है, ऐसी अवस्था में

उसकी यही मान्यता मालूम पडती है कि वह पक्ष जीव के शरीर की क्रिया को ही धर्म या अधर्म भी मानता है। उसके इसी आशय को समझकर हमने उक्त समाधान किया है, विशेष क्या सूचित करें।

अन्य कथन का समाधान :– जैसे कर्म का उदय उपशम आदि को जीव के धर्म अधर्म मे असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त कहा जाता है वैसे ही जीव के शरीर को भी नोकर्म होने से उसी नय से धर्म अधर्म मे निमित्त कहा जाता है। पूरा कर्म शास्त्र और चरणानुयोग शास्त्र इसका साक्षी है। इतने सीधे कथन को सीधे शब्दो मे न स्वीकार कर पण्डिताई लगाना कोई प्रयोजन नही रखता यहाँ इतना और समझना चाहिये कि हमने यह कथन उपचारनय का आशय लेकर ही स्वीकार किया है, इसलिए इस विषय मे समीक्षक का अन्य जितना लिखना है, उसे अपने मत को पुन-पुन दुहराते रहने के सिवाय और कुछ नही कहा जा सकता।

मूल शंका २ के दूसरे दौर की समीक्षा का समाधान

(१) प्राणी मे यह व्यवहार होता है कि "यह जीवित है", शरीर मे नही, इसलिए जीवित पद जीव का विशेषण तो बन जाता है परमार्थ से शरीर का नही। "जीवित शरीर" ऐसा हमने आज तक सुना नही। समीक्षक ही उसकी पुष्टि मे लगा हुआ है। हा यह अवश्य कहा जाता है कि "अभी यह भाई मरा नही, जीता है।" और जब जीव निकल जाता है तब शरीर को मुर्दा कहा जाता है या मरे हुए का शरीर – यह कहा जाता है।

(२) शरीर मे स्थित प्राणी को निमित्त कर यह कहा जाता है कि यह दाँतो से काटता है, हाथो से मारता है, पूजा करता है, मुनि को आहार देता है, यह असद्भूत व्यवहार होता अवश्य है, पर कौन काटता है, कौन मारता है, कौन पूजा करता है, कौन मुनि आहार को देता है, ऐसा पूछा जाय तो कहा जाता है कि इस आदमी ने मारा, काटा, पूजा की, मुनि को आहार दिया, आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस व्यवहार मे शरीर गौण हो जाता है। असद्भूत व्यवहारनय से आदमी कर्त्ता बन जाता है। हम जानते हैं कि काटना आदि क्रिया शरीर से हुई है, पर वह जीवित शरीर से नही, जीते हुए आदमी के शरीर से हुई।

शंकाकार के विविध कथनों का समाधान : –

(१) यहाँ भाववती शक्ति मे शकाकार ने श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुणो को ग्रहण किया हो तो बात दूसरी है पर भाववती शक्ति और क्रियावती शक्ति स्वतत्र है, इसीलिये "भाववती शक्ति का विभावरूप परिणमन मिथ्यात्वादि हैं, और स्वभावरूप परिणमन सम्यक्त्वादि है" यह लिखना इसलिये आगम विरुद्ध है क्योकि वह सामान्य कारण है। वस्तुत सम्यग्दर्शन आदि रूप श्रद्धादि गुणो का परिणमन है। बाकी शकाकार पक्ष का लिखना विकथारूप कथन है।

(२) शरीर तो जड है उसको नयविवक्षा को गौण कर जीवित कहना हास्यास्पद जान पडता है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि एक तो "जीव के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया दूसरी शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया" इन दोनो ही कथनो का समीक्षक द्वारा लिखा

जाना बडा विचित्र लगता है। कदाचित् इसमे से प्रथम विकल्प को जीवित शरीर की क्रिया वह पक्ष कैसे कह रहा है — यह समझ के बाहर की बात है। हा यदि दूसरे विकल्प को मानने वाले व्यक्ति को समीक्षक अप्रतिबुद्ध स्वीकार करता है तो उसका ऐसा मानना ठीक ही है, फिर भी हमे इस बात का आश्चर्य होता है कि ऐसा जानते हुए भी उसने इस मूल शका को उपस्थित ही कैसे किया ? यदि हमसे पूछा जाय तो हम तो इतना ही कहेगे कि धर्म या अधर्म का कर्ता तो स्वय जीव ही है, शरीर की क्रिया उसमे निमित्त मात्र है। यदि किसी भी प्रकार के निमित्त मे धर्म या अधर्म के कर्तृत्व का आरोप करके ऐसा मान भी लिया जाय तो भी शरीर को जीवित कहना केवल अपने घर की मान्यता ही कही जायेगी।

(३) इस क्रमाक के अन्तर्गत समीक्षक ने जो कुछ लिखा है वह केवल उसने शरीर को जो जीवित विशेषण लगाया है, उसकी पुष्टि मात्र है, अन्य कुछ नही। पचमहाव्रत आदि का पालन जीव ही करता है, शरीर नही। शरीर तो निमित्तमात्र है। असद्भूत व्यवहार से शरीर के आधार से जीव के रहने पर भी शरीर तो जड ही बना रहता है, इसलिए धर्म अधर्म जीव का ही परिणाम है, वही उसका परमार्थ से कर्ता है, शरीर नही। उसको यदि निमित्तपने की अपेक्षा कथन की बात करना भी थी तो उसे शरीर के निमित्त से जीव धर्म अधर्म करता है या नहीं, इस रूप मे शका रखना चाहिये थी। उस पक्ष मे इस चर्चा के प्रतिनिधि तब चोटी के विद्वान थे। उनसे यह प्रमाद कैसे हो गया, इसका हमे ही क्या, सबको आश्चर्य होता है।

यह ठीक है कि जीव का मतिज्ञान रूप उपयोग इन्द्रियो के निमित्त से होता है, किन्तु इतने मात्र से बाह्य उपकरणो को जीवित तो नही कहा जा सकता।

वह पक्ष "सहारे" की धुन यदि नही छोडता है तो वही बताये कि चारित्र मोह कर्म के उदय से जब राग भाव होता है तो चारित्र मोह का उदय किसके सहारे से होता है। उपशम, क्षय, क्षयोपशम के विषय मे भी यही पृच्छा की जा सकती है। यदि वह कहे कि उक्त कर्म का उदय तो स्वय होता है तो उसी समय वह पक्ष राग भाव को स्वय होता हुआ क्यो नही मान लेता, क्योकि उक्त कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है। यदि कहो कि उक्त कर्म के उदय मे काल निमित्त है तो उक्त राग की उत्पत्ति मे काल को निमित्त क्यो नही मान लेता ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वय ही उत्पाद-व्ययरूप परिणमती है। कोई किसी को परिणमाता नही। इस निमित्त से यह काय हुआ यह कथन उपचार मात्र है। केवल प्रयोजन विशेष से ऐसा उपचार किया जाता है।

(४) हमारा पक्ष शरीर आदि पर द्रव्यों और उनकी पर्यायो के असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निमित्त से तो धर्म या अधर्म मानता है, जीवित शरीर से नहीं, क्योकि शरीर जीवित होता ही नही तो उससे धर्म या अधर्म होता है या नही — ऐसा लिखना मात्र प्रमाद को ही सूचित करता है। चू कि उस पक्ष द्वारा एक बार प्रमाद हो गया तो उसका बार-बार पोषण तो नही करना चाहिये, इसी मे मोक्ष मार्ग की प्रतिष्ठा है।

(५) यहा स्वयभू स्तोत्र का हमने उद्धरण देकर जो अर्थ लिखा है उसे समीक्षक ने कुछ बदल कर मान लिया है। वह मानता है कि कार्य मे जो निमित्त होता है उसके सहारे से अन्य द्रव्य का कार्य होता है, इस पर हम पूछते हैं कि "सहारा" क्या वस्तु है ? यदि उसे निमित्त का धर्म माना जाय तो वह निमित्त मे ही रहा। उससे जिस वस्तु मे कार्य हुआ उसको क्या लाभ मिला, अर्थात् कुछ भी नही। तो फिर निमित्त के सहारे से कार्य होता है – ऐसा क्यो कहते हो ? यदि कहो कि जिसमे कार्य होता है वह उसका धर्म है तो हम पूछते हैं कि उसे किसने पैदा किया ? यदि कहो कि निमित्त ने पैदा किया तो फिर वह निमित्त का धर्म ठहरा। ऐसी अवस्था मे जिसमे कार्य हुआ उसमे सक्रमण कैसे हो सकता है, अर्थात् नही हो सकता है। यदि कहो कि निमित्त के सहारे से कार्य हुआ यह कथन मात्र है, तब फिर यही क्यो नही मान लेते कि काल प्रत्यासत्ति वश विवक्षित कार्य के समय अन्य वस्तु मे निमित्त व्यवहार होता है। परमार्थ से अन्य वस्तु अन्य के कार्य का निमित्त नहीं होती। इस प्रकार विचार करने पर यही निर्णय होता है कि स्वयभू स्तोत्र के उक्त उल्लेख का हमने जो अर्थ किया है वही उपयुक्त है। उससे हमारे इस अभिप्राय की ही पुष्टि होती है कि जीवित विशेषण जीव के लिए ही आता है, शरीर के लिए नहीं।

स पृ, २०२ मे "अग" शब्द को लेकर समीक्षक ने जो टिप्पणी की है उसके अनुसार बाह्य निमित्त कार्य-द्रव्य का कोई उपकार तो नही करता, मात्र ऐसा असद्भूत व्यवहारनय से कहा अवश्य जाता है। और फिर उसके भी "अग" शब्द का अर्थ स पृ २०० मे "गौण" किया ही है। इसलिए प्रकृत मे उक्त श्लोक से जो अर्थ फलित होता है, वही अर्थ हमने किया भी है।

(६) त च पृ ७८ मे हमारे उल्लेख के आधार पर समीक्षक ने (क) के अन्तर्गत जो आत्म पुरुषार्थ का उल्लेख किया है, वह ठीक है। हमने स्वय भूस्तोत्र पृ ६० का जो अर्थ किया है वह भी ठीक है। इसी अनुच्छेद मे उसने दूसरी बात लिखी है सो उस सम्बन्ध मे प्रकृत मे यह समझना चाहिये कि मोक्षमार्गी के जो स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है वह उसके आत्मलक्षी होने से ही होती है। यहा निमित्त गौण है।

(ख) कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त मिलते ही नही हैं या प्रतिकूल निमित्त मिलते है यही लिखना उस पक्ष का प्रमाद है। आचार्यों ने जब कार्योत्पत्ति के समय बाह्य और आभ्यतर उपाधि की समग्रता मे कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है तब कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त मिलते ही नही हैं या प्रतिकूल निमित्त मिलते हैं, यह प्रश्न ही खडा नही होता। समीक्षक को आगम से ऐसा उदाहरण देना चाहिये कि कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त नही मिलते या प्रतिकूल निमित्त मिलते हैं। व्यर्थ मे ऐसा लिखकर आगम को क्यो बदलना चाहता है, इसे हम उसकी जिनागम की उपासना नही कह सकते।

(ग) आगे उसने जो यह लिखा है कि "परन्तु कार्योत्पत्ति जीव और अजीव दोनो मे होती है, इसलिए जीव के लिए अपने उपादान की सम्हाल का क्या प्रयोजन रह जाता है" आदि। सो इसका यही उत्तर है कि कार्य एक मे होता है, जीव और अजीव दो मे मिलकर नही। इसलिए

प्रत्येक कार्य योग्य काल मे होकर भी वह जीव के गौण मुख्यरूप तदनुकूल योग्य पुरुषार्थ पूर्वक ही होता है। यदि अबुद्धि पूर्वक कार्य होता है तो पुरुषार्थ की गौणरूपता कही जाती है। आचार्य समन्तभद्र के "वुद्धिपूर्वपिक्षाया" इत्यादि वचन से यही फलित होता है। कही दैव की मुख्यता है और कही पुरुषार्थ की। इससे कार्य के होने मे कालप्रत्यासत्ति का अभाव नही हो जाता।

(घ) कार्यकाल मे निमित्त कार्य का काम नही करता, इसलिये तो वह अकिंचित्कर है, क्योकि निमित्त का सद्भाव माना भी गया है असद्भूत व्यवहारनय से ही। निमित्त को कार्य के अनुकूल भी इसी नय से कहा जाता है। जिसे हम कार्य का निमित्त कहते हैं, वह उस समय अपना कार्य अवश्य करता है, इस अपेक्षा से वह किंचित्कर भी है।

(च) प्रश्नोत्तर १ मे जिन प्रमाणो से समीक्षक ने यह सिद्ध किया है कि "कार्य के प्रति सन्मुखता प्रेरक निमित्त के बल से ही होती है" वही हम (उत्तरपक्ष) यह भी सिद्ध कर आये हैं कि प्रेरक निमित्त कहना यह कथन मात्र अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है। वैसे देखा जाय तो पर के कार्य के प्रति सभी निमित्त उदासीन ही होते हैं। कार्य समर्थ उपादान से होता है यह जहां सद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है वहा वह आवश्यक वाह्य निमित्त से होता है यह असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है। वैसे देखा जाय तो सव कार्य अपने काल में स्वय होते हैं, यह परमार्थ है।

(छ) हम जो यह लिख आये हैं कि "इस जीव का अनादि काल से पर द्रव्य के साथ सयोग वना चला आ रहा है, इसलिये वह सयोग काल मे होनेवाले कार्यो को जव जिस पदार्थ का सयोग होता है अज्ञानवश उससे मानता चला आ रहा है। यही उसकी मिथ्या मान्यता है" वह यथार्थ लिखा है, क्योकि अज्ञान इसी का नाम है। सर्वार्थसिद्धि अ १ सूत्र ३२ की टीका मे जो कारण-विपर्यय का उल्लेख किया है वह उक्त मिथ्या मान्यता को ध्यान मे रखकर ही लिखा है।

(ज) हमने अपने वक्तव्य के अन्त मे जो यह लिखा है कि "प्रत्येक प्राणी को अपने परिणामो के अनुसार ही परमार्थ से पुण्य, पाप और धर्म होता है, शरीर की क्रिया के अनुसार नही यही निर्णय करना चाहिये और ऐसा मानना ही जिनागम के अनुसार है" सो यह हमने ठीक ही लिखा है। तत्वार्थसूत्र अ ६ सूत्र ३ की सवार्थसिद्धि टीका मे योग की चर्चा करते हुए लिखा है कि—

"शुभपरिणाम निर्वृत्तः योगः शुभयोगः अशुभपरिणाम निर्वृत्त. योगः अशुभयोगः"

अर्थात् शुभ परिणाम से जिस योग की स्थिति वनती है वह शुभ योग कहलाता है तथा अशुभ परिणाम से जिस योग की स्थिति वनती है वह अशुभ योग कहलाता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह की शरीर की क्रिया मे ससारी आत्मा की जिस प्रकार की परिणति निमित्त है शरीर की उसी क्रिया को शुभ-अशुभ भाव और धर्म मे निमित्त कहा जाता है, फिर भी कोई शरीर जीवित नहीं होता। इसलिये जीवित शरीर मानकर उसकी क्रिया से शुभ अशुभ भाव

और धर्म होता है, उस पक्ष का यह कहना मिथ्या ही है। इस शका का हम हमारे प्रथम, द्वितीय और तृतीय दौर मे विविध प्रमाण देकर गहराई से विचार कर आये हैं। इसलिए इस विषय पर पुन पुन लिखना पिष्टपेषण मात्र है। जिज्ञासुओ को इस समाधान के साथ उन दौरो को विशेष रूप से पढना चाहिये।

प्रेरक नाम का कोई निमित्त है ही नही। प्रेरक निमित्त कहना मात्र असद्भूत व्यवहार ही है। इसी अपेक्षा से आगम मे कही-कही इसका कथन दृष्टिगोचर होता है। विचार करके देखा जाय तो किसी प्रकार का भी निमित्त क्यो न हो, अन्य द्रव्य के कार्य के प्रति वह उदासीन ही होता है, क्योकि जिस समय कोई भी द्रव्य अपने उत्पाद-व्ययरूप स्वभाव के अनुसार कार्यरूप परिणमता है उसी समय जिसे इस कार्य का निमित्त कहा जाता है वह भी अपने उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य स्वभाव के अनुसार अपने कार्यरूप परिणमता है, किसी को परमार्थ से सहायता करने का अवसर ही नही मिलता है। मात्र इन दोनो मे कालप्रत्यासत्ति होने से एक को अपने कार्यरूप परिणमन को गौणकर दूसरे के कार्य का निमित्त कहा जाता है। उपचारनय से यह अनादि कालीन व्यवस्था है जो अकाट्य है, और वह कालप्रत्यासत्ति या बाह्य व्यक्ति के आधार पर आगम मे स्वीकार की गई है।

मूल शका २ के तीसरे दौर की समीक्षा का समाधान

इस दौर मे जीवित शरीर पद को स्वीकार कर उसी आधार पर धर्म अधर्म होना लिखा है। तदनुसार आगे इसी बात को ध्यान मे रखकर समीक्षा का समाधान किया जाता है।

समीक्षक ने १, २, ३ क्रमाक के अन्तर्गत हमारे वक्तव्य को उद्धृत कर अन्त मे स पृ २०५ मे जो यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष प्रकृत प्रश्नोत्तर की सामान्य समीक्षा के प्रथम और द्वितीय दोनो दौरो की समीक्षा के कथनो पर ध्यान देता तो उसे अपनी प्रकृत विषय सम्बन्धी भूल का पता हो जाता।

सो इसका समाधान यह है कि चाहे जीते हुए जीव का शरीर हो और चाहे जीव के निकलने के बाद का शरीर हो — दोनो ही शरीर हैं और दोनो ही जड हैं। निमित्तपने की दृष्टि से पर के कार्य मे दोनो ही बाह्य निमित्त होते हैं, अत यह आपत्ति योग्य नही है। परमार्थ से आपत्ति-योग्य तो शरीर को जीवित विशेषण लगाना है। वह यह प्रमाद स्वीकार करले और उसके बाद असद्भूत व्यवहारनय से शरीर को धर्म अधर्म मे निमित्त कहे तो हमे कोई आपत्ति नही है।

कथन १ के सम्बन्ध मे खुलासा :—

(क) जीवित विशेषण शरीर के स्वरूप का ख्यापन नहीं करता, अपने भावप्राणो से जीवित तो जीव ही होता है। "जीव के सहयोग से" का अर्थ ही असद्भूत व्यवहारनय से जीव के निमित्त से होता है। इसलिये जीव के निमित्त से जब समीक्षक शरीर को ही स्वरूप से जीवित मान सकता है तो उसे सीधे शरीर की क्रिया को ही स्वरूप से धर्म अधर्म मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये, अर्थात् कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिये।

यदि वह कहे कि जैसे दण्ड के निमित्त से मनुष्य दण्डी कहलाता है वैसे ही यहा जीव के निमित्त से शरीर को जीवित कहा गया है। सो उसका यह कहना भी युक्तियुक्त नही है, क्योकि जैसे दण्ड के निमित्त से मनुष्य दण्डी या दण्डवाला कहा जाता है वैसे ही जीव के निमित्त से शरीर को जीववाला शरीर कहा जायगा, न कि जीवित शरीर। अन्यथा जीव और शरीर में अभेद का प्रसग प्राप्त होता है।

(ख) हमने शकाकार पक्ष की प्रतिशका २ और ३ के विवेचनो पर ध्यान दिया था और वही उनका समाधान भी कर आये थे। यहाँ उस आधार पर जो समीक्षक यह लिखता है कि "जिसे उत्तर पक्ष जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रियारूप जीवित शरीर की क्रिया को पुद्गल द्रव्य की पर्याय मानकर उसे अजीव तत्व मे अन्तर्भूत करके और उससे आत्मा मे धर्म अधर्म मानने के विषय मे कुछ भी आपत्ति नही है। मैंन अपनी प्रकृत विषय सम्बन्धी समीक्षा मे भी इस बात को स्पष्ट कर दिया हैं।" सो समीक्षक यदि इस वक्तव्य को उत्तर पक्ष के प्रथम दौर के बाद लिखी गई प्रति शका २ मे ही स्वीकार कर लेता तो आगे यह विषय विवाद का विषय ही नही बनता, अस्तु जब समीक्षक ने उत्तर पक्ष के कथन को स्वीकार किया तभी पूर्व मे सूर्य का ऊगना कहा जायगा।

किन्तु यही पर "परन्तु" लिखकर जो अपनी अन्य मान्यता का हवाला देकर उसने शरीर के निमित्त से होनेवाली जीव की क्रिया को यद्यपि वह जीविन शरीर की क्रिया नही है "फिर भी उसका ऐसा कहना तो उत्तरोत्तर असत्य कहने की परम्परा का ही सूचक है। इससे इष्टार्थ फलित करना सभव प्रतीत नही होता। इसकी अपेक्षा समीक्षा लिखते समय उसके सामने इतना लिखा होता कि 'शरीर की क्रिया से आत्मा मे धर्म अधर्म होता है या नही" तो उसे इतना द्राविड़ी प्राणायाम न करना पडता।

(ग) बाह्य पदार्थ अगणित होते हैं और असद्भूत व्यवहारनय से जब वे विवक्षित द्रव्य के कार्यकाल मे निमित्त कहे जाते हैं — ऐसी अवस्था मे उसे मूल शका की जिन मनमानी व्याख्या उपस्थित करके अपने मन की खीझ मिटानी पड रही है वह स्थिति उत्पन्न न होती यदि वह शरीर को "जीवित" विशेषण लगाने का समर्थन न करता। सीधी सी बात तो यह है कि वह इस प्रमाद को स्वीकार करले कि हम शरीर को "जीवित" विशेषण लगाने का मर्थन कर रहे हैं तो ठीक नही कर रहे हैं। अत उसके द्वारा उक्त मूल शका की उत्तरोत्तर नाना व्याख्यायें उपस्थित करने से कोई लाभ नही।

(घ) प्रश्न विषयक प्रथम और द्वितीय दौर मे उसकी शका प्रतिशकायें हैं, समीक्षा नही। इस दौर को वह भले ही समीक्षा कहे और लिखे, पर है वह प्रतिशका ही। शेष सब व्याख्यायें इस समाधान मे हम पहले ही स्पष्ट कर आये हैं कि शरीर की क्रिया आत्मा के भावो में निमित्त है, इसलिये इन दोनो मे निमित्त-नैमित्तिक रूप से कार्यकारण भाव घटित हो जाता है। वह उपचरित कथन ही — इतना यहाँ विशेष जानना चाहिये।

(ङ) इसके अन्तर्गत आये हुए उसके कथन का समाधान (ग) के अन्तर्गत किये गये समाधान से हो जाता है।

(च) शरीर या कोई भी परद्रव्य आत्मा के शुभ अशुभ भावो के होने मे निमित्त है। शरीर जीवित नही होता, इसलिए अपने कथन की पुष्टि के लिये द्राविडी प्राणायाम करना व्यर्थ है।

(छ) हम क्या मानते हैं, आगम के आधार पर यह हम सब स्पष्ट करते आये हैं। मूल बात यह है कि शरीर को "जीवित" कहना परमार्थ से बनता नहीं। इस सम्बन्ध मे उसको अपना मत बदल लेना चाहिये। बाकी सब कथन यथासम्भव बन जायगा। जहाँ थोडा बहुत सुधार अपेक्षित है उसे आगम के अनुसार जान लेना चाहिये, अपनी व्याख्या के चक्कर मे नही पडना चाहिये। यह जगल मे अकेले फाग खेलना है। हमने उपादान-उपादेय भाव से एक शब्द भी नही लिखा। व्यर्थ ही वह पक्ष हम पर आरोप करके अपना बचाव करना चाहता है। मूल शका उपादान-उपादेय भाव से विवेचन करने की है भी नही।

(ज) हमने तत्वार्थ सूत्र के अ० ६ के सूत्र १ व २ पर ध्यान दिया है। यह प्रश्न ही नही कि किससे क्या होता है ? आगम मे स्पष्ट है, सब जानते हैं। जो बात चिन्त्य है, समीक्षक को उस पर ध्यान देना चाहिये। आगम ही हमारी मान्यता है। शरीर को जीवित विशेषण लगाना हमारी मान्यता नही है। यह उसकी मान्यता है। समयसार गाथा १६७ का आशय रागादि के योग से जीव का शुभ अशुभ भाव ही होता है। जीव की क्रियावती शक्ति का परिणमन तो आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप ही होता है।

आगे उस पक्ष ने रागादिरूप परिणमन तथा मन, वचन और काय की क्रिया मे जो फर्क है उसे स्वय ही स्वीकार कर लिया है।

मोहनीय कर्म के उपशमादि के साथ जीव के सम्यग्दर्शनादिक की काल प्रत्यासत्ति है, इस लिये उपचार नय से यह कह सकते हैं कि मोहनीय कर्म के उपशमादि से जीव के सम्यग्दर्शनादि होते हैं। निश्चय से तो ये स्वाभावभूत आत्मा की ओर लक्ष्य देने से स्वय ही होते हैं, पर आश्रय से नही क्योकि वे जीव के स्वभाव भाव हैं। समीक्षक को दोनो नयो के कथनो मे भेद करके लिखना चाहिए। आगे (आ) से लेकर (अ) के अन्तर्गत जो कुछ भी लिखा है वहा सर्वत्र पूर्वोक्त विधि से समझ लेना चाहिये, क्योकि निश्चयनय स्वाश्रित कथन को स्वीकार करता है और असद्भूत व्यवहारनय का विषय पराश्रित कथन है। इसके अतिरिक्त नय विवक्षा को छोडकर एकान्त से जितना कुछ भी लिखा जाता है वह आगम बाह्य होने से ग्राह्य नही माना गया है।

मिथ्या दर्शनादिरूप जितने भी परिणमन हैं वे सब जीव की भावरूप अवस्थायें हैं। उनके रहते हुए अतत्व श्रद्धा आदि कार्य होते हैं। "मष्तिष्क के सहारे" यह आज की भाषा है, आगम के अनुसार चिन्तन का काम मन का है, मष्तिष्क का नही। आगे (क) के अन्तर्गत समीक्षक ने जो "व्यवहार मिथ्याज्ञान" लिखकर उसकी व्याख्या की है सो मिथ्याज्ञान तो मिथ्याज्ञान ही है और वह स्वतत्र

आत्मा का ही कार्य होने से निश्चयस्वरूप है । कोई निश्चय मिथ्याज्ञान हो और कोई व्यवहार मिथ्याज्ञान हो — ऐसा नही है । इतना अवश्य है जब कुदेवादि के ज्ञान को सुदेवादि का ज्ञान कहा जाता है या मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्याज्ञान होता है, ऐसा कहा जाता है तब वह पर सापेक्ष कथन होने से व्यवहार मिथ्याज्ञान कहा जाता है अथवा वह स्वभावभूत आत्मा के आलम्बन से नही उत्पन्न हुआ है, पर के आलम्बन से उत्पन्न हुआ है फिर भी उसे आत्मा का कहना यह लोक व्यवहार है । किन्तु यहा सब विषय प्रयोजनीय नही है । यहा तो मात्र परमार्थ से शरीर "जीवित" होता है या नहीं और उसे जीवित मानकर उससे धर्म अधर्म होता है या नही, इतना मुख्यरूप से विचारणीय विषय है । उस पक्ष की ओर से इसी भाव को लेकर शका उपस्थित की भी, गई जिसका कि हमने तीनो दौरो में समाधान किया है । प्रकृत से दुनियां भर के असगत विषय लिखकर मालूम पडता है कि वह पक्ष सीधी तौर से अपने प्रमाद को नही स्वीकार करना चाहता । स० पृ० २०९ मे (क) के अन्तर्गत जो उस पक्ष ने मिथ्याज्ञान के परिणमन को मतिष्क के सहारे पर लिखा है, वह उसकी भूल हैं, क्योकि मिथ्या ज्ञान का परिणमन जीव मे एक तो अपने अज्ञान के कारण होता है और दूसरे वह मिथ्यात्व कर्म के उदय को निमित्त कर होता है । जैन आगम मे पाच इन्द्रिया और छठा मन माने गये हैं । इनके सिवाय "मस्तिष्क" नाम की कोइ स्वतन्त्र इन्द्रिय नही है जिसके सहारे से मिथ्या ज्ञान का परिणमन माना जाय ।

(ख) और (ग) मिथ्या दर्शन भी जीव का परिणमन विशेष है । उसके अस्तित्व मे जीव के मन के निमित्त से अन्यथा श्रद्धा अवश्य होती है । स्वरूप से व्यहार मिथ्या ज्ञान न तो व्यवहार मिथ्या दर्शन ही है और न ही व्यवहार मिथ्या चारित्र ही है । इन तीनो को जब पर सापेक्षपने से मानते हैं तब वे अवश्य ही व्यवहार मिथ्या दर्शन, व्यवहार मिथ्या ज्ञान और व्यवहार मिथ्या चारित्र कहलाते हैं ।

(घ) व्यवहार अरुचि क्यो कहलाती है, इस विषय मे भी पूर्वोक्त विधि से जान लेना चाहिये । (च) और (छ) का भी यही उत्तर है ।

आगे स पृ २१० मे उसने जो कुछ लिखा है, वह उसके मन से होने वाले विकल्पों की ही उपज है, इसीलिये मूल शका से इन सब विचारो का सम्बन्ध न होने से हम उनके सबन्ध मे कुछ नहीं लिख रहे हैं ।

कथन न० २ (स० पृ० २११) का खुलासा –

इस कथन मे समीक्षक ने स पृ ८६ के हमारे वचन को उद्धृत कर जो कुछ शका उपस्थित की है, उसमे व "जिवित शरीर की क्रिया से" जिसे उसने शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रियारूप स्वीकार किया है, उसका यह कथन मूल शका से बहिर्भूत है, क्योकि जीव की क्रिया को जीवित शरीर की क्रिया कहना मात्र भ्रामक शब्दो का जाल ही है । यदि उसे जीवित शरीर की क्रिया से यही अर्थ ग्राह्य था तो शका । मे ही इसे स्पष्ट कर दिया गया होता । किन्तु इस खुलासे

को प्रतिशका २ और प्रतिशका ३ मे भी स्पष्ट नही किया। इतना अवश्य है कि जब समीक्षक ने इसे समझा तब जीवित शरीर की क्रिया को पूर्वोक्त विशेषण मानकर स्पष्ट करना चाहा जो कि भ्रामक शब्दो का जाल मात्र है। हम शरीर के सहयोग से (निमित्त से) होनेवाली जीव की क्रिया को जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया नही मानते हैं, क्योकि हम तो जीव की परिस्पन्दरूप क्रिया को ही जीवकी मानते हैं और शरीर की क्रिया को शरीर की ही मानते हैं। इन दोनो क्रियाओ के होने मे निमित्त कौन है, यह प्रश्न अलग है। ऐसा नही है कि एक की क्रिया को परमार्थ से दूसरे की क्रिया कही जाय । अन्य की क्रिया को अन्य की कहना यह यह उपचार मात्र है। क्या समीक्षक यह स्वीकार करता है कि यह उपचार कथन है।

कथन ३ (स पृ २१२) का खुलासा –

त च. पृ. ८६ मे हमने जो कुछ लिखा है, सब आगम के आधार पर ही लिखा है । यहा इतना विशेष जानना चाहिये कि शरीर जीवित नही होता, इसलिये इस समाधान में जीवित शरीर की क्रिया का अर्थ शरीर की क्रिया ही होगा। जड शरीर को जीवितरूप समीक्षक ही मान रहा है। इस समीक्षा मे भी वह अपने मत के समर्थन मे विविध प्रकार के भ्रामक वचनो का प्रयोग कर रहा है। समीक्षक ने जो धर्म-अधर्म को भाववती शक्ति का परिणमन जगह-जगह लिखा है, सो धर्म-अधर्म के होने मे तो भाववती शक्ति का परिणमन निमित्त मात्र है। वस्तुत धर्म अधर्मरूप परिणमन तो श्रद्धा आदि गुणो के स्वभाव और विभावरूप परिणमन हैं – ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।

स पृ. २१३ मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "यद्यपि जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया आत्मा के धर्म अधर्म के अभिव्यक्त होने मे निमित्तभूत और शरीर के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया के अभिव्यक्त होने मे निमित्त होती है।" सो इस सम्बन्ध मे इतना ही कहना है कि शरीर का कोई भी परिणमन परिस्पन्दरूप हो या परिणामरूप हो, उन दोनो को ही जीव जिस भाव से लक्ष्य में लेता है अर्थात् यदि जीव उसको विषय रूप से लक्ष्य मे लेता है तो वे अधर्म के होने मे निमित्त होते हैं और यदि ज्ञान भाव से पुद्गल का परिणमन जानकर उसको लक्ष्य मे लेता है तो वे धर्म के होने मे निमित्त होते हैं – ऐसा समझना चाहिये ।

आगे के पैरा मे उसके द्वारा कहे गये कथन का भी यही समाधान है।

"एक बात और है" लिखकर हमारे कथन के विषय मे भी जो उसने शब्द योजना लिखी है, वह हमारी मान्यता नही है हम अपने अभिप्राय को आगम के अनुसार यहाँ अभी ही लिख आये है। स पृ २१४ पर उसने हमारे अभिप्राय के विषय मे जो स्पष्टीकरण किया है, वह भी ठीक नही है।

हमने स पृ ८६ पर भी 'आत्मा के शुभ अशुभ भावो के निमित्त से ही मन वचन, काय की प्रवृत्ति को शुभ और अशुभ कहा है, क्योकि मन, वचन, काय की जितनी भी प्रवृत्ति होती है वह स्वय न शुभ है और न अशुभ है। उसे शुभ और अशुभ जीवभावों के आधार से ही शुभ-अशुभ कहा जाता है। जैसा कि त सू अ ६ सू ३ की सर्वार्थसिद्धि टीका से ज्ञात होता है। यथा—

शुभपरिणामनिर्वृत्तः योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तः योगः अशुभ।

यह निर्णय आज भी हमारा ऐसा ही बना हुआ है। इस सबन्ध मे स पृ २१४ मे हमारे इस वचन को "यदि वे स्वय समीचीन होने लगे तो अपने परिणामों के सम्हाल की आवश्यकता ही न रह जाय" उद्धृत कर उसने जो टीका प्रारम्भ कर दी है, सो शोभनीक नहीं है। इसी प्रकार त. च पृ. ८७ पर हमने जो कुछ लिखा है, उसे भी आगम के अनुसार ही लिखा है। इसलिये वह जो उक्त कथन को अपने कथन से निरस्त मानता है सो वह मानना आगम विरूद्ध ही है। हमारे उस कथन के अन्तिम भाग को तो उसने स्वीकार कर लिया है सो उसने ठीक ही किया है, वास्तव मे उस अन्तिम भाग से सम्बद्ध पूरा कथन ठीक है।

इस शका में "मोक्ष के साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामो की सम्हाल करने का उपाय क्या है।" इस कथन के अन्त मे उसने जो लिखा है सो उसका सीधा सरल उत्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र की एकता ही है, जिसकी प्राप्ति परावलवन को गौणकर स्वभाव सन्मुख होने से ही होती है, यह निर्विवाद है। इस विषय मे उसकी जो यह मान्यता है कि "द्रव्य मन वचन (मुख) और काय के अवलम्बन पूर्वक होने वाली और जीव की यथायोग्य भाववती और क्रियावती शक्ति के परिणाम स्वरूप शुभाशुभ प्रवृत्तियो से यथाविधि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप मे निर्वृत्ति प्राप्त करना ही मोक्ष के साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामो की सम्हाल करने का उपाय है," सो उसका ऐसा कहना आगम के अनुसार यथार्थ नही है। क्योंकि शुभाशुभ परिणामो से न तो तीन गुप्तियो की ही प्राप्ति होती है और न ही आत्मा स्वभाव सन्मुख होने के योग्य होता है। कारण कि उपयोग मे जहा शुभाशुभ परिणाम बने रहते हैं, वहा स्वभाव-सन्मुख होना बनता ही नहीं है।

कथन ४ (स. पृ २१५) का समाधान :–

इस कथन मे समीक्षक ने त च पृ ८७ पर हमारे द्वारा जो नाटक समयसार का प्रमाण दिया है उसे उसने प्रकरण के अनुसार निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है, यह योग्य ही किया है।

कथन ५ (स पृ. २१५) का समाधान –

वह अपनी समीक्षा के नाम से कथन न ४ में जो यह लिखता है कि "प्रकृत मे शरीर के सहयोग से होने वाली जीविका क्रिया को ही पूर्वपक्ष जीवित शरीर की क्रिया मानता है, जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया को नहीं।" सो इस शका का समाधान यह है कि जीवित शरीर की क्रिया जब परमार्थ से होती ही नही, क्योकि शरीर जड है, उसका उपादान स्वय शरीर ही है, ससारी आत्मा उसमे निमित्त भले ही रहे, इतने मात्र से वह जीवित शरीर की क्रिया नही कही जा सकेगी। यदि निमित्त की अपेक्षा कथन भी करेंगे तो यही कहा जायेगा कि ससारी जीव के निमित्त से हुई शरीर की क्रिया। न तो उसे समीक्षक के अनुसार जीवित शरीर की क्रिया कहा जायेगा और न ही जीव के सहयोग से होने वाली "जीवित शरीर की क्रिया" ही कहा जाएगा। अत इस कथन मे उसने जो कुछ भी लिखा है, वह यथार्थ नही है।

आगे उसने धर्म-अधर्म का जो स्पष्टीकरण किया है, उस विषय मे आगम के अनुसार यह स्पष्टीकरण योग्य प्रतीत होता है कि जीव के निश्चय रत्नत्रय के साथ जिसे व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, वह देवादि की पूजा, विनय और व्रतादिरूप ही माना जाता है तथा जिसे आगम मे अधर्म कहा गया है, वह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्ररूप ही स्वीकार किया गया है, जैसा कि रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक सख्या ३ से स्पष्ट है।

कथन ६ (स पृ २१६) का समाधान —

इस कथन मे उसके उपादान और निमित्त का जो अर्थ लिखा है, वह व्याकरण मे की गई व्युत्पत्ति के अनुसार ही लिखा है। इन दोनो का वास्तविक लक्षण इस प्रकार है— अव्यवहितपूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान का लक्षण है तथा अन्य द्रव्य के कार्यकाल मे कालप्रत्यासत्तिवश जिसकी त्रैकालिक व्याप्ति का योग बनता है, यह निमित्त का लक्षण है। हमारे द्वारा किये गये ये दोनो लक्षण आगम सम्मत होने से विद्वानो द्वारा मान्य हैं, किन्तु उसके द्वारा जो लक्षण इस कथन मे लिखे गये हैं, वे केवल शब्दो की व्युत्पत्तिमात्र हैं, इसलिये आगम मे उनको मान्य नही किया है। समयसार गाथा ८० मे "जीवपरिणामहेदु" और "पोग्गलकम्मनिमित्त" पद आये हैं, इन दोनो मे भी बाह्यवस्तु मे ही निमित्तपना स्वीकार किया गया है। बाह्यवस्तु उपादान का मित्र के समान स्नेहन करता है, यह अर्थ उन दोनो पदो से फलित नही होता। यह केवल बातुपरक अर्थ है, जिसे केवल नैयायिक दर्शन के अनुसार वह समीक्षक स्वीकार कर रहा और उसे जैनदर्शन पर लादना चाहता है। रही समयसार ८२ सख्याक गाथा, सो उसमे निश्चय कर्त्ता-कर्म की विवक्षा की गई है। जिसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपचार से जो निमित्त मे कर्त्तापन स्वीकार किया गया है, वह वास्तविक नही है। यही स्थिति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १२–१३ सख्याक श्लोको की है। स्वयम्भूस्तोत्र सख्या ६६ वें श्लोक मे जो 'अगभूत' पद आया है सो उस पद का हमने जो अर्थ किया है, उसे उसने मान्य कर लिया है, यह प्रसन्नता की बात है, किन्तु उसी श्लोक मे जो "आभ्यतरम्" पद आया है, वह अपने मे स्वतन्त्र है। इन दोनो पदो मे विशेषण-विशेष्य भाव का आशय एक दृष्टि से मान्य भी किया जाय तो कोई हानि नही है। इसका समर्थन समयसार गाथा ८२ और ८५ मे भलेप्रकार होता है क्योकि निमित्त की स्वीकृति निश्चय की सिद्धि के अभिप्राय से आगम मे स्वीकार की गई है, वस्तु मे परमार्थ से अन्य द्रव्य के कार्य मे निमित्तता नही हुआ करती। परमार्थ से देखा जाय तो वस्तु अपने प्रत्येक कार्य मे स्वय निमित्त है और स्वय उपादान है। अभेद विवक्षा मे वही कर्त्ता है और वही कर्म भी है।

कथन ७ (स पृ २१७) का समाधान —

हमने त च पृ ८७ पर जो वक्तव्य लिखा है, उसके उत्तर में समीक्षक (पूर्वपक्ष) ने जो यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष के कथन से ऐसा लगता है कि वह अपने को जो तत्वज्ञ समझता है और हमें अतत्वज्ञ समझता है। केवल यहीं पर नहीं, अपितु तत्वचर्चा मे सर्वत्र उत्तरपक्ष ने ऐसा ही

समझकर अपनी लेखनी चलाई है। लेखनी चलाने से पूर्व उसने कही पर भी यह समझने का प्रयास नही किया कि पूर्वपक्ष की अमुक विषय मे क्या मान्यता है और वह अपने वक्तव्यो मे क्या कह रहा है। यदि वह पूर्वपक्ष की मान्यताओ और उसके वक्तव्यो के अभिप्रायो को समझकर अपनी लेखनी चलाने की बात सोचता तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वह (उत्तरपक्ष) अपनी लेखनी अनर्गल ढंग से कदापि नही चलाता। उत्तरपक्ष द्वारा अनगल ढंग से लेखनी चलाने का यह परिणाम हुआ है कि तत्वचर्चा अत्यधिक लम्बायमान हो गई है, और वह सार्थक भी नही हो सकी है।"

यह समीक्षक की शिकायत है, जो उत्तरपक्ष के द्वारा लिखे गये समाधानो के आधार पर उसने व्यक्त की है। वास्तव मे देखा जाय तो उसके भीतर का अभिप्राय अंधेरे में नहीं रहा, यह अच्छी बात हुई। यह तो स्पष्ट ही है कि उत्तरपक्ष व्यवहारनय के विषय को गौण अर्थात् अविवक्षित कर निश्चयनय के विषय को ही स्पष्ट करने के अभिप्राय से लिखने के लिए बाध्य था, जब कि उस पक्ष को निश्चयनय को न छोड़ते हुए व्यवहारनय के विषय को उपचार से स्पष्ट करना था, किन्तु वह (पूर्वपक्ष) इसमे सर्वथा असमर्थ रहा और उसने नैयायिक दर्शन के आधार से जैनदर्शन के व्यवहार पक्ष को लिखना प्रारम्भ कर दिया। अन्यथा वह पक्ष (१) न तो बाह्य निमित्त का अर्थ यह लिखता कि जो उपादान का स्नेह करे वह निमित्त कहलाता है, न ही यह (२) लिखता कि जिसमे कार्य होता है उसे उपादान कहते हैं और न वह यही लिखता कि (३) प्रेरक बाह्य कारण के बल पर उपादान का कार्य आगेपीछे किया जा सकता है और न वह यही लिखता कि (४) पर्याय को छोड़कर मात्र सामान्य द्रव्य उपादान होता है। जबकि जैनदर्शन मे अन्य द्रव्य के साथ निमित्त की कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की गई है। साथ ही अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को समर्थ उपादान कहा गया है। ऐसी अवस्था मे उसका यह लिखना कि (५) पर्याय क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी। यह वही बताये कि यह जैनदर्शन मे कैसे स्वीकार किया जा सकता है। वह अपनी मान्यताओ को जैनदर्शन कहता है, किन्तु वह जैनदर्शन नहीं है। यह तो समीक्षक की कुछ ऐसी मान्यतायें हैं, जो जैनदृष्टि से बाह्य तो हैं ही और कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका जैनदर्शन मे स्वीकार करने पर कार्य-कारणभाव से मेल नही खाता। जैसा वह लिखता है कि व्यवहार (असद्भूत व्यवहारनय) कथंचिद् भूतार्थ है और कथंचित् अभूतार्थ है। (६) निमित्तकारण अयथार्थ कारण होकर भी वह अन्य द्रव्य के कारण मे सहायक होने के आधार पर भूतार्थ है। (७) प्रेरक निमित्त वे हैं, जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं और (८) उदासीन निमित्त वे हैं, जिनकी कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं। (९) निमित्तो को सहयोग मिलने पर अन्य द्रव्यो की उपादान होते हुए कार्यरूप परिणति होना और उनके न मिलने पर उपादान होते हुए भी उसकी कार्यरूप परिणति न होना यह प्रेरक निमित्त का लक्षण है तथा (१०) उपादान के कार्यरूप परिणति मे निमित्त होना और न होने पर न होना यह उदासीन निमित्त का लक्षण है। इन दोनो लक्षणो मे यह भेद दिखलाने के लिए ही पूर्वपक्ष ने समर्थ उपादान के प्रसिद्ध लक्षण को न स्वीकार कर उसके स्थान मे (११) अन्य द्रव्य को उपादान का लक्षण, और

यह कहकर कि पर्याय तो द्रव्य मे रहती ही है, समर्थ उपादान के लक्षण को तिलाजलि देकर अपनी मान्यतानुसार निमित्तो और उपादान के लक्षण बना लिये हैं। इत्यादि पूर्वपक्ष के कतिपय ऐसे विचार हैं जो जिनागम की तत्वप्ररूपणा की मूल तथा प्रयोजनीय धारा को ही बदल देते हैं। अत. हमारा प्रयोजन निश्चयव्यवहार को यथावत्रूप मे उपस्थित करने का रहा है, अत. समीक्षक को अगर अपने कथनानुसार हमारे लिखान मे ऐसी कोई गध आई हो, जिससे उसे ऐसा प्रतीत हुआ हो कि हम अपने को तत्वज्ञ समझ रहे हैं तो इसके लिये हम समीक्षक से इतना ही कहेगे कि निर्णय के लिये की गई चर्चा मे उसे ऐसे भाव नही बनाने चाहिये थे। हमे तो जिनागम स्पष्ट करना था और उसी प्रयोजन से समग्र समाधान लिखे भी हैं। इस प्रसग मे हमे तो पू प माणिकचन्दजी न्यायाचार्य के ये वचन याद आते हैं, जब उन्होने जयपुर खानिया मे इस तत्वचर्चा के ७वें दिन कहे थे – "फूलचन्दजी आप भी आज हमे उसी रूप मे मानते हैं तो यह मानकर चलना कि यह प फूलचन्द नही लिख रहा है, यह प माणिकचन्द लिख रहा है।" इस सम्बन्ध मे हम बहुत क्या सकेत करें, पूर्वपक्ष द्वारा लिखी गई जिन कतिपय १० बातो को हमने यहाँ प्रस्तुत किया है, उन्ही बातो से वह समझ लेगा कि हम (पूर्वपक्ष) जिनागम की प्ररूपणा को छोडकर कहाँ भटक कर चले गये हैं। अस्तु।

आगे समीक्षक ने स पृ २१८ मे जो उपचरित कारण को स्वीकार करने के अभिप्राय से यह लिखा है कि – "पूर्वपक्ष उपचरित कारण को उपादान के कार्य मे सहायक होने के आधार पर कार्यकारी मानता है।" सो इस कथन का समाधान यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के कार्य मे परमार्थ से सहायक नही हुआ करता। जैसा कि समयसार गा ११६ से १२० की आत्मख्याति टीका में कहा भी है –

"स्वयं परिणममाणं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत"

परमार्थ से स्वय परिणमन करने वाला द्रव्य अन्य परिणमन कराने वाले द्रव्य की अपेक्षा नही करता। व्यवहार की विवक्षा मे जो यह कहा जाता है कि "उसकी सहायता से यह कार्य हुआ" सो यह कथन अपरमार्थरूप होने से परमार्थ से उसका निषेध ही किया जाता है, क्योकि किसी अन्य द्रव्य की सहायता से अन्य द्रव्य काय करे यह भूतार्थ अर्थात् यथार्थ नही है। परमार्थ से कथन मात्र है। उसे कथन मात्र इसलिये कहते हैं कि वह कार्य द्रव्य के स्वरूप से बहिर्भूत है, क्योकि सहायता नाम की कोई वस्तु नही है। न तो उसका निमित्त द्रव्य मे ही सद्भाव है और न काय द्रव्य मे ही।

आगे समीक्षक ने भव्य जीव को मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो मानव शरीर और वज्रवृषभनाराच सहनन के समर्थन का उल्लेख किया है, सो भाई जिसे निमित्त कहा जाता है उसमे और कार्य मे कालप्रत्यासत्तिवश तीनो कालो मे एक साथ होने का जो नियम है, सो उसका यह आशय नही है कि शरीर या वज्रवृषभनाराच सहनन अपने कार्यों को छोडकर भव्य जीवो के मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य मे परमार्थ से सहायता करने लगता है। वस्तुत भव्य जीव रत्नत्रय प्राप्ति रूप कार्य को अन्य किसी की सहायता के विना स्वय उत्पन्न करता है और शरीर तथा वज्रवृषभनाराच सहनन भी भव्य जीव की सहायता के विना स्वय ही उत्पन्न होते हैं और स्वय ही जीर्ण होते हैं। कर्मोदय तो

उनमे निमित्त मात्र हैं । वस्तुत' जिस द्रव्य के साथ अन्य जिस द्रव्य का त्रैकालिक अविनाभाव सम्वन्ध वनता है, उसके आधार पर ही निमित्त-नैमित्तिक रूप से कार्य कारण भाव का कथन किया जाता है । जिनागम मे भी इसी आधार पर कथन चलता है । वस्तुत देखा जाय तो व्यवहार कथन मात्र उपचरित ठहरता है और परमार्थ कथन यथार्थ ठहरता है ।

आगे स पृ २१८ मे स्पष्ट करने के अभिप्राय से समीक्षक ने जो दो विकल्प लिखे हैं, वे दोनो ही समाधानकर्ता को मान्य नही हैं, क्योकि हमने उन विकल्पो मे से किसी एक का भी उल्लेख नही किया है । वह अपनी मान्यताओ को हमारी मान्यता न वनावें, यह हमारा उससे निवेदन है ।

आगे सर्वार्थसिद्धि अ १ सू १ का उद्धरण उपस्थित कर जो कुछ भी समीक्षक द्वारा लिखा गया है उसका भी पूर्व मे किया गया समाधान ही उत्तर है, अर्थात् वह अपनी मान्यता को हमारी मान्यता न वनावे ।

आगे उसने स. पृ २१९ मे जो यह पृच्छा की है कि "अपर पक्ष ही वतलावे कि उक्त क्रिया (रागमूलक और योगमूलक) के सिवाय और ऐसी शरीर की कौन सी क्रिया वनती है, जिसे मोक्ष का हेतु माना जाय ? सो इसका समाधान यह है कि परमार्थ से शरीर की तो नहीं, आत्मा की ज्ञान क्रिया अवश्य वचती है, जिसे साक्षात् मोक्ष का साधन माना गया है, शरीर की कोई भी परिणति तो निमित्त मात्र है । बाकी सव उसने जो प्रमाण दृष्टि और नय दृष्टि आदि के सम्वन्ध मे अपने-अपने ढग से ठीक कहने का प्रयोजन रखा है, वहाँ उसका वह ढग कौन है, इसे हम अभी तक नही समझ सके हैं । वह ढग वास्तविक है या उपचरित है । यदि वास्तविक है तो वह किस वस्तु का अश है । यदि उपचरित है तो वह सत्स्वरूप है या असत्स्वरूप ? इन सव वातो पर उसी को प्रकाश डालना चाहिये, अन्यथा ऐसा लिखना शोभा नहीं देता ।

कथन न ८ (स. पृ २२०) का समाधान —

इस कथन मे "बाह्येतरोपाधि" इत्यादि स्वयभूस्तोत्र की कारिका के आधार पर जो हमने त च पृ ८८ मे भाव व्यक्त किया है, उसे समीक्षक ने यद्यपि मान्य तो कर लिया है, परन्तु साथ ही उसने जो वाह्य सामग्री की समग्रता को कार्य मे कारणतारूप से भूतार्थ होने का विधान किया है, वह हमारी समझ के वाहर है, क्योकि वह वाह्य सामग्री को अयथार्थ कारण मानते हुए भी उसकी सहायता को भूतार्थ मानता है । (देखो स पृ -४) जव कि हमारी दृष्टि में कोई किसी की सहायता नही करता, सब अपना-अपना कार्य करते हैं । मात्र कालप्रत्यासत्तिवश उनमें विवक्षा भेद से निमित्त-नैमित्तिक भाव मान लिया जाता है । उदाहरणार्थ ससार रूप कार्य को ध्यान मे रखकर जहाँ कर्म के उदय को कर्म के निमित्त से कहा जाता है, वही आत्मा के मोक्ष रूप कार्य को ध्यान मे रखकर आत्मा के स्वाभाविक भावो को निमित्त कर कर्म के उदय, उदीरणा, उपशम और क्षयरूप कार्य को "निर्जरा" कहा जाता है ।

कथन नं० ६ (स० पृ० २२१) का समाधान —

स्वयभू स्तोत्र कारिका ५६ के मेरे किये गये अर्थ को समीक्षक स्वीकार करके भी उसने अपने द्वारा किये गये गलत अर्थ की पुष्टि करने का उपक्रम चालू रखा, यह योग्य नही है, क्योकि उक्त कारिका मे आये हुए अगभूत पद का अर्थ गौरा होता है और गौणमुख्यपना दृष्टि मे हुआ करता है, वस्तु मे नही। बाह्य कारणता भी वर्तमान मे क्या कार्य हुआ इसके समझने के लिये विवक्षित हुआ करती है, वस्तु मे बाह्य कारणता यथार्थ नही हुआ करती। वस्तु मे तो एक के बाद दूसरी पर्याय होती रहती है, क्योकि परिणमन करना वस्तु का उसी तरह स्वभाव है, जिस प्रकार उनका परिणमन करते हुए नित्य बने रहना स्वभाव है। और इसीलिये वस्तु मे कारणता का सद्भाव नयदृष्टि से ही स्वीकार किया जाता है। पहली पर्याय के बाद उस समय होने वाली दूसरी पर्याय होने का नियम है, इसीलिये भेदविवक्षा मे हम विवक्षित पर्याययुक्त द्रव्य को उत्तरपर्याय युक्त द्रव्य का उपादान कारण कहते हैं। साथ ही प्रत्येक द्रव्य तीनो कालो मे होने वाली पर्यायो का द्रव्यदृष्टि से तादात्म्य समुच्य होने से वे पर्यायें प्रत्येक द्रव्य मे उसी क्रम से होती हैं, जिस रूप से वे योग्यता के रूप मे क्रमपने से अवस्थित हैं। यही बात ज्ञान मे आती है, इसलिये अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य उपादान रूप से स्वीकार किया गया है। और त्रैकालिक इस व्यवस्था के आधार पर अन्य जिस द्रव्य की पर्याय की इसके साथ बाह्य व्याप्ति बनती रहती है, उसमे प्रयोजन के अनुसार निमित्त व्यवहार कर लिया जाता है, यह वस्तुस्थिति है। इसे पूर्वपक्ष एकबार बुद्धि मे स्वीकार करले तो सब विवाद समाप्त हो जाय। और हमने जो उक्त कारिका का अर्थ किया है उसे भी वह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेगा।

उक्त कारिका मे जो अपि पद आया है, उसका प्रकृत मे क्यो एव अर्थ करना प्रयोजनीय किया है, उसे भी समीक्षक को समझ मे आ जायगा। विशेष क्या स्पष्ट करें।

कथन न० १० (स० पृ० २२३) का समाधान —

हमने "यद्बाह्यवस्तु" इत्यादि कारिका को ध्यान मे रखकर जो अर्थ त च पृ ८६ में किया है उसे समाधान के रूप मे पूर्वपक्ष ने स्वीकार करके उससे फलित होने वाले तात्पर्य को स्वीकार करने का जो साहस दिखलाया है, उसकी हम भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं, किन्तु इसके बाद पूर्वपक्ष ने समयसार गाथा मे कहे गये अर्थ की जो दृष्टि की अपेक्षा व्याख्या की है, उसे देखने पर वह ठीक प्रतीत नही होता, क्योकि स्वसमय अर्थात् जो ज्ञानी होता है, वह स्वय के जीवन मे नियम से अध्यात्मवृत्त होता है, अज्ञानी नही, यह उक्त गाथा मे कहा गया है। अर्थात् अज्ञानी भी स्वरूप से ज्ञानस्वरूप होकर भी मान्यता मे अवश्य ही स्वय को बद्ध-स्पष्ट, अन्य-अन्य, अनियत, विशेप रूप और राग-द्वेषरूप अनुभवता है, इसलिए अज्ञानी है। पर को और आत्मा को एक मानना अज्ञानी का लक्षण है और पर से भिन्न स्वय को ज्ञानस्वरूप अनुभवना ज्ञानी का लक्षण है। यह तथ्य समयसार गाथा मे आचार्य देव ने स्पष्ट किया है।

प्रत्येक द्रव्य की एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय होने का नाम ही कार्योत्पत्ति है। वह किसी से नही होती, स्वय होती है फिर भी उपादान और निमित्त के योग से यह हुई, यह व्यवहार

है। इनमे एक सद्भूत व्यवहार है और दूसरा असद्भूत व्यवहार है। आचार्यदेव तो कहते हैं कि कर्ता कर्ता है और कर्म (काय) कर्म है। कर्ता ने कर्म को पैदा किया हो – ऐसा भी नही है, और कर्म कर्ता से हुआ हो ऐसा भी नही है।" फिर भी यह व्यवहार तो होता ही है कि इस कार्य को इस कर्ता का जानना चाहिये या इस कर्ता का यह कार्य है।

सम्यग्दृष्टि जीव, कोई किसी का नही होता 'इस तथ्य को जानते हुए राग के कारण यह पुत्र मेरा है – ऐसा व्यवहार करता है। परन्तु यहा सयोग का अर्थ ही यह है कि जा अनात्मीय हैं उनमे आत्मभाव का होना सयोग है। इसलिये पूर्वपक्ष ने यदि इसी अर्थ मे सयोग शब्द का प्रयोग किया हो तो मुझे कुछ आपत्ति नही है। वैसे तो जहाँ हम रहते हैं, वही छहो द्रव्य वर्तते हैं, फिर भी उनमे यह मेरा – यह व्यवहार नही होता। इसलिये सयोग पद का हमने जो अर्थ किया है, वह आगम सम्मत है। मूलाचार मे "एगो मे" इत्यादि गाथा मे आये हुए "सव्वे सजोगलक्खणा" पद मे आये हुए "सयोग" पद का अर्थ करते हुए उसकी टीका मे लिखा है "अनात्मनीना आत्मभाव. सयोग" आशा है समीक्षक भी इसे स्वीकार करेगा।

आगे गौणमुख्यभाव के विषय मे जो समीक्षक ने लिखा है, सो उसे यदि उसका आशय मुख्यगौण से उपादेयअनुपादेय का है तो सम्यग्दृष्टि कभी भी परमभाव ग्राही निश्चय को अनुपादेय रूप से गौण नही करता। लक्ष्य को सदा ख्याल मे रखता है।

कथन न ११ (स पृ २२४) का समाधान —

इस कार्य-कारण भाव के विषय मे हम पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। यहा इतना अवश्य कहना है कि छद्मस्थ के प्रमाण ज्ञान भी विकल्प रूप होता है। कोई भी बाह्य निमित्त वस्तु का स्वरूप नहीं होता, मात्र कालप्रत्यासत्तिवश कार्य के समय 'अन्वय-व्यतिरक समधिगम्यो हि कार्य-कारणभाव, इस विषय के अनुसार अन्य मे निमित्तता कल्पित कर ली है, इसलिये अन्य को निमित्त कहना यह असद्भूत व्यवहार रूप एक विकल्प ही है, परमार्थ नही। रही उपादान की बात सो प्रत्येक पर्याय के बाद उसकी अविनाभावी दूसरी पर्याय होने का नियम है, जैसे वस्तु के स्वरूप मे नित्यता सन्निहित है, उसीप्रकार एक पर्याय के बाद उसकी अविनाभावी दूसरी पर्याय का होना भी उसमे सन्निहित है। तथा उक्त दोनो पर्यायें द्रव्य की अपेक्षा सद्भूत हैं, इसलिये इनमे रहने वाले अविनाभाव को देखकर ऐसा व्यवहार स्वय हो जाता है कि इसके बाद यह पर्याय होगी। इसीलिये इसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय कहते हैं ऐसा स्वरूप से जानना ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। विशेष क्या सकेत करें। यह हमने जो लिखा है, वह खुलासा मात्र है।

समीक्षक बाह्य सामग्री कार्यरूप परिणत नही होती, इसलिए उसे असद्भूत कहता है यह तो ठीक है पर यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि वह स्वरूप से कार्यरूप वस्तु मे नही है, इसलिये भी असद्भूत है, और जब वह कार्य द्रव्य से अपने विशेष लक्षण की अपेक्षा सर्वथा भिन्न लक्षणवाली है तो सर्वथा भिन्न रहकर उसकी सहायता से कार्य होता है यह कहना असत् क्यों नही हो जायगा। अर्थात् असत् ही ठहरेगा। आश्चर्य है कि फिर भी समीक्षक बाह्य वस्तु मे कारणता को असत्स्वरूप

मानते हुए भी कार्यद्रव्य मे भूतार्थरूप से उसकी सहायता से कार्य होता है यह कहते हुए नहीं अघाता।

कथन नं १२ (स. पृ २२५) का समाधान —

समीक्षक स॰ पृ ४ और ५ मे बाह्य सामग्री को अयथार्थ कारण स्वय स्वीकार कर आया है। यहा भी वह इसे स्वीकार कर रहा है। ऐसी अवस्था मे उसमे (बाह्यसामग्री मे) अयथार्थ कारणता कल्पनारोपित या कथन मात्र है तो फिर कार्य मे उसकी सहायता कल्पनारोपित या कथन मात्र ही ठहरेगी, उमे वास्तविक कैसे कहा जाय, इसका विचार स्वय वह ही करे, क्योकि कारणता तो अयथार्थ हो और उसकी महायता भूतार्थ (यथार्थ) हो – ये दो बातें नही बन सकती।

आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "लोकोत्तर जन के लिये उसमे बाह्य सामग्री गौण कारण है और अतरग सामग्री मुख्य कारण है" सो "यद्बाह्यवस्तु" इत्यादि कारिका मे उत्तरार्द्ध का उसकी ओर से जो उक्त अर्थ किया गया है, उसका यह अर्थ नही है, क्योकि उक्त कारिका मे बाह्य कारण गौण है अर्थात् अविवक्षित है और अभ्यतर कारण मुख्य है। इसका जो निष्कर्ष समीक्षक ने फलित किया है वह नही है। उक्त कारिका मे "अलम्" पद आया है, जिसका प्रकृत मे मुख्य अर्थ न होकर पर्याप्त अर्थ होता है। इसलिये समग्र भाव से विचार करने पर उसका आशय होता है कि जो अध्यात्मवृत्त जीव अपने उपयोग मे बाह्य (पर) निरपेक्ष आत्मा का आलम्बन लेता है अर्थात् आत्मा को ध्येय बनाकर उसमे तन्मय होता है, उसके लिये आत्मा का आश्रय लेना पर्याप्त है, क्योकि परनिरपेक्ष स्वभाव के आलम्बन से स्वभाव पर्याय की (अभेद विवक्षा मे स्वभावभूत आत्मा की) प्राप्ति होती है। आचार्यदेव कुदकुन्द का वचन भी है —

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो परणिरवेक्खो।

पर्याय दो प्रकार की हैं – स्व-परसापेक्ष और परनिरपेक्ष अर्थात् स्वभावसापेक्ष। विचार करने पर विदित होता है कि समग्र रूप से मोक्षमार्गी बनने की कला उक्त कारिका मे गर्भित है। मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्यग्दृष्टि बनता है तो इसी मार्ग से, सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि विरताविरत और अप्रमत्तसंयत बनता है तो इसी मार्ग से। प्रमत्त यदि अप्रमत्त बनता है तो इसी मार्ग से। यह स्वभाव पर्याय को प्राप्त करने की कला है। ससारी के मोक्षमार्गी और मोक्षमार्गी के आगे की भूमिका मे जाने की कला क्या है – इसे ही आचार्यदेव ने उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा स्पष्ट कर दिया है।

विज्ञेषु किमकिंचकम्।

प्रारम्भिक भूमिका मे अध्यात्मवृत के सविकल्प दशा मे भले ही बाह्य सामग्री उपचार से प्रयोजनीय रहे, पर वह उतनी ही मात्रा मे उपचार से प्रयोजनीय होती है, जो उस भूमिका के अनुकूल होती है। इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्यवर्य अमृतचन्द्र देव एक कलश मे कहते हैं–

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यड् न सा।
कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत् ।
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।। ११० ।।

जबतक ज्ञान की कर्म विरति भलीप्रकार परिपूर्णता को प्राप्त नही होती, तबतक कर्म और ज्ञान का समुच्चय शास्त्र मे कहा हैं। उसके एक साथ रहने मे कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा मे अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही मोक्ष का कारण है जो कि स्वत विमुक्त है अर्थात् सर्वप्रकार के भेदरूप और उपचार रूप परभावो से भिन्न है। ११० ।।

तात्पर्य यह है कि यथाख्यात चारित्र के प्राप्त होने के पूर्व तक सम्यग्दृष्टि की दो धारायें रहती हैं – कर्मधारा और ज्ञानधारा। उनमे कर्मधारा अपना कार्य करती हैं और ज्ञानधारा अपना कार्य। आगे जितने अश मे ज्ञानधारा में प्रकर्ष होता जाता है, उतने अश मे कर्मधारा का स्वय नाश होता जाता है। यहाँ ज्ञानधारा का अर्थ है – स्वय को परनिरपेक्ष ज्ञानस्वरूप अनुभवना। यह परनिरपेक्ष होने से शुद्ध है। अन्य सब कर्मधारा है। शेष सब कथन उपचार मात्र हैं, क्योंकि कर्मधारा शुभाशुभ परिणति मात्र है और ज्ञानधारा परनिरपेक्ष अभेद विवक्षा मे स्वय आत्मा है और भेद विवक्षा मे स्वभावरूप अनुभवन मात्र है।

कथन १३ (स पृ २२६) का समाधान :—

हमने त च पृ ६० पर यह लिखा था कि 'उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।" किन्तु समीक्षक हमारे इस कथन को कार्य-कारण की विडम्बना करनेवाला ही है, "उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं" ऐसा लिखता है और उसकी पुष्टि मन्दबुद्धि शिष्य और अध्यापक को उपस्थित कर अपने मन के विकल्प के अनुसार निष्कर्ष निकाल लेता है। किन्तु देखना यह है कि यदि अध्यापक का पढाना निमित्त है और शिष्य का पढना कार्य है तो शिष्य ने अपनी बुद्धि के अनुसार अवश्य पढा है। तभी इन दोनो मे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बनता है। अब यदि जैसा समीक्षक कहता है कि शिष्य ने नही पढ़ा ह और अन्य कार्य किया है तो अध्यापक पढाने मे निमित्त हैं यह कहना नही बनता। शिष्य ने उस समय जो कार्य किया उसके अनुरूप उपचार से निमित्त कोई अन्य होगा यह स्पष्ट है। यहा पर समीक्षक को यह स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिये कि ऐसे मानसिक विकल्पो के आधार पर हमारे उक्त कथन का निरसन न होकर समर्थन ही होता है। ऐसे पाँच उदाहरणों को उपस्थित कर मालूम पडता है कि वह कार्य-कारण भाव की अकाट्यव्यवस्था को अभी तक नही स्वीकार करना चाहता।

आगे अपनी मान्यता के रूप मे उसने जो कुछ लिखा है, दूसरे शब्दों मे तो वह वही है कि जिसे हमने त च पृ ६० के उक्त कथन द्वारा स्पष्ट किया है। उसके कथन मे हमे कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती। रहीं बात निमित्त के सहयोग की, सो यह केवल शब्दजाल है या विकल्पो का

ताना-वाना, जवकि कालप्रत्यसत्तिवश बाह्य-वस्तु कार्य मे उपचार से निमित्त मात्र कही जाती है। इसी बात को भट्टाकलकदेव ने—

"मृद स्वयं घटभवनपरिणामाभिमुख्ये सति दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्त मात्रं भवति।" इन शब्दो द्वारा स्पष्ट किया है।

समीक्षक को भय है कि हमारे कथनानुसार वाह्य निमित्त अकिंचित्कर ठहर जाता है, किन्तु यह भय नि सार हैं, क्योकि जो वाह्य निमित्त है वह स्वय गुण-पर्याय वाला द्रव्य है, इसलिए जिस समय उपादानभूत द्रव्य ने अपना कार्य किया, उसी समय वाह्य निमित्तभूत द्रव्य ने भी उपादान होकर अपना कार्य किया। इसलिये कोई भी द्रव्य अकिंचित्कर नही रहा, फिर भी एक के कार्य मे दूसरे को उपचार से निमित्त इसलिए कहा जाता है कि निमित्तभूत द्रव्य के द्वारा उपादानभूत द्रव्य मे विवक्षित कार्य की सिद्धि होती है। कहा भी है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेद दृक्॥ – अनगारधर्मामृत

आगे पृ २२७ पर उसने जो यह लिखा है – "उत्तरपक्ष यदि अपने अनुभव पर दृष्टि डाले" आदि तो उसके उत्तरस्वरूप हम (उत्तरपक्ष) समीक्षक स्वामी समतभद्र की "बुद्धिपूर्वपिक्षाया" इत्यादि कारिका की ओर दृष्टिपात करने का आग्रह करते हैं, तब निमित्त-नैमित्तिक के रूप मे कार्य-कारणभाव की सब आगमिक व्यवस्था उसे आकुलता के विना समझमे आ जायगी। नित्य उपादान द्रव्य योग्य रूप उपादान रहे और वह समर्थ उपादान की स्थिति मे पहुचे तो कार्य नही होता, अत नित्य उपादान कार्यकारी नही रहा, इसलिये कार्य नही हुआ, ऐसा मानना योग्य है। उदाहरणार्थ भव्य हो और काललब्धि का योग न हो तो मोक्षमार्ग की जैसे सिद्धि नही होती, वैसे ही मन्दवुद्धि शिष्य के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिये।

इन्द्र को ख्याल मे रखकर धवला मे यह प्रश्न उठाया गया है कि जिस समय भ महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, उसी समय इन्द्र ने गौतम को क्यों नही लाकर खडा कर दिया ? तो वहां यही उत्तर दिया गया गया है कि उस समय काललब्धि के अभाव मे इन्द्र गौतम को लाने मे असमर्थ था और जब काललब्धि आ गई तो उसी इन्द्र ने गौतम को लाकर भगवान के सामने उपस्थित कर दिया।

भैया! हमने तो कार्य-कारण भाव की रीढ को समझ लिया है। व्यर्थ ही आप प्रेरक नाम से उपचार से कहे गये निमित्त की सिद्धि के व्यामोह मे पडकर स्वयसिद्ध निमित्त-नैमित्तिक भाव की कथनी को विडम्बनापूर्ण लिखकर अपने को उससे निमित्त-नैमित्तिक भाव के कथन से अनभिज्ञ न वनावें। निमित्त-नैमित्तिक भाव की व्यवस्थित परम्परा नियत कार्य-कारणभाव की सजीवनी बूटी है, इसका पान करें। जहां आगम साक्षी है, उसका अनुभव और तर्क उसके अनुकूल ही होते हैं, उसके विरुद्ध नही, इतना निश्चित समझें। हमारे लिये ही क्या, छद्मस्थ मुनि के लिये भी आगम ही चक्षु है।

इसलिये आगम के आगे अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्क के लिये तो कोई स्थान ही नहीं है। हाँ समीक्षक ऐसा आगम उपस्थित कर सके तो अवश्य ही उसके सामने हमे अपना सिर झुकाना होगा, किन्तु शब्द प्रयोग के आधार पर किसी बात का निर्णय नही हुआ करता, सिद्धान्त ही सर्वत्र मार्गदर्शक होता है।

उदाहरणार्थ उपादान के लक्षण आगम मे तीन प्रकार से वर्णित हैं – एक प्रमाण दृष्टि से, जिसके अनुसार अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहते हैं, दूसरा द्रव्यार्थिकनय से, जिसके अनुसार सब मिट्टी घट का उपादान कही जाती है। तीसरा पर्यायार्थिक (ऋजुसूत्र) नय से, जिसके अनुसार घट परिणमन के सन्मुख मिट्टी ही घट का उपादान है।

अब देखना है कि सर्वत्र आगम मे जो कार्य-कारण भाव की व्यवस्था है, वह किस आधार पर की गई है। द्रव्यार्थिकनय से मानने मे तो भव्य निगोदिया जीव भी मोक्ष का उपादान बन जाता है। समीक्षक ने जो बाह्य निमित्त के दो भेद स्वीकार करके प्रेरक निमित्त के आधार पर कार्य-कारणभाव की व्यवस्था बनाकर स पृ १६ मे अपना यह मतव्य प्रगट किया है कि "उपादान की कार्योत्पत्ति मे" प्रेरक निमित्तो की प्रेरणा इसलिये आवश्यक है कि प्रेरणा प्राप्त किये बिना उपादान कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यता के सद्‌भाव मे भी अपने मे उस कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है" आदि। इसी प्रकार इसी आधार पर स पृ ५१ मे जो यह लिखा है कि "क्योंकि उपादान की कार्यरूप परिणति मे वह बाह्य सामग्री आवश्यक एव अनिवार्य रूप से होती है। उसके बिना उपादान भी पगु रहता है। दोनों की सघट्टना से ही कार्य होता है।" सो पूर्व-पक्ष का यह कथन भी इन प्रेरक निमित्तो की बलवत्ता को एकान्त से सिद्ध करता है। पूर्वपक्ष ने इस आधार पर दो प्रकार के निमित्त स्वीकार करके जो प्रेरक निमित्तो का लक्षण किया है कि "प्रेरक निमित्त वे हैं, जिनके साथ कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं।" इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी द्रव्य का कोई भी परिणमनरूप कार्य नियत नही है। वह द्रव्य जब उदासीन निमित्त मिले तब तो वह द्रव्य अपने आधार पर परिणमेगे, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य जैसा अपना परिणमन कार्य करेगा वैसा ही निमित्त रहेगा। यदि बीच मे प्रेरक निमित्त आ जायगा तो प्रत्येक द्रव्य अपने आधार पर होने वाले परिणमन को छोडकर प्रेरक निमित्त जैसा होगा उस रूप मे उसे परिणमना पडेगा," किन्तु निमित्तों की यह व्यवस्था कैसे बने इसी के लिए समीक्षक के प्रमाण की अपेक्षा और ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा उपादान के लक्षणो को तिलाजलि देकर अर्थात् दूर से ही नमस्कार कर आगम मे द्रव्यार्थिक-नय से स्वीकृत लक्षण को अपनी प्ररूपणा मे मुख्यता से मान्यता दी है। इससे उस पक्ष ने कई लाभ देखे। एक तो उसे यह लक्षण आगम के अनुसार है यह लिखने मे कोई बाधा नही दिखाई दी। दूसरे अपनी काल्पनिक मान्यतानुसार तोड-मरोडकर आगम के वचनो का अर्थ करने में सहजता प्राप्त हो गई। तथा तीसरे जिन्होने आगम का सम्यक्-प्रकार से परिशीलन नही किया है ऐसे बहुजन समाज के अनुकूल पडने से अपनी वाहवाही बटोरने मे अनुकूलता प्राप्त हो गई।

इससे लाभ यह हुआ कि आगम मे सर्वत्र स्वीकृत उपादान के लक्षण को छोडकर मात्र अपनी मान्यता के अनुसार की गई उपादान की व्युत्पत्ति के आधार पर जो परिणमन को स्वीकार

करे, ग्रहण करे या जिसमे परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्य का आश्रय ठहरता है (स पृ २१)" वह पक्ष यह सहज लिख सका और ऐसा लिखने मे उसे कोई बाधा नही दिखाई दी।

यही कारण है कि समीक्षक ने द्रव्यार्थिकनय से स्वीकृत उपादान के लक्षण को अपनी प्ररूपणा का आधार बनाकर अपने मतव्यानुसार ईश्वरवाद को जैनागम मे स्थान दिलाने का असफल प्रयास किया है। इसमे सदेह नही, यह कोई समीक्षक पर हमारा आक्षेप नही है, उस पक्ष द्वारा की गई इस कथनी से जो आशय फलित होता है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र हैं। हम तत्त्वज्ञानी हो, पर ऐसे दुष्परिणाम से दूर रहकर जिनागम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये हमने जो प्रयत्न चालू रखा है, उसके लिये कोई भी विवेकी हमे प्रोत्साहन ही देगा।

अरे भाई! कार्य-कारण भाव की कथनी मे उपादान का भी स्थान है और बाह्य निमित्त का भी स्थान है। पर वहाँ उपादान का लक्षण इस रूप मे उपलब्ध होता है कि जिसमे न तो द्रव्य गौण होता है और न पर्याय गौण होती है। कार्य होता है तो दोनो रूप होता है। यह कोई मोक्ष-मार्ग या ससार मार्ग की कथनी नही है कि जिससे दृष्टि की अपेक्षा एक को गौण किया जाए और दूसरे को मुख्य किया जाय। यह तो वस्तुव्यवस्था का प्रसग है। यहाँ तो प्रत्येक स्थिति मे वस्तु पूर्ण रहती है। चाहे ससाररूप अवस्था हो या मोक्षरूप अवस्था हो। जहाँ समीक्षक ने उदासीन निमित्त के आधार पर अपनी बात का समर्थन किया है। वहाँ उसने प्रमाण दृष्टि से म ने गये आगम सम्मत समर्थ उपादान को स्वीकार कर ही निमित्त-नैमित्तिक भाव की सम्यक व्यवस्था को स्वीकार भी कर लिया है, मेरा समीक्षक यही कहता है कि उपादान के लक्षण को दो प्रकार का मान कर लोगो को भ्रम मे क्यो डालते हो। समर्थ उपादान तो एक ही प्रकार का है। तथा समीक्षक ऐसा उदाहरण दे सकता है कि द्रव्यार्थिक नय का उपादान हो और प्रेरक निमित्त के बल पर कार्य हो जावे। यदि नही दे सकता है तो व्यर्थ के भ्रमजाल मे दूसरे जीवो को क्यो डालता है।

इसी आधार पर समीक्षक ने स पृ २१ मे निमित्त की पुष्टि के लिये ही "उपचरित (काल्पनिक) नही है" जो यह लिखा है सो वह भी अपने अभिप्राय से लिखा है, क्योंकि वह मानता है कि उपादान और निमित्त की सघटना से कार्य होता है और निमित्त कार्य की उत्पत्ति मे भूतार्थ रूप से सहायता करता है, किन्तु इसके साथ जहाँ उसने कार्य को केवल स्वप्रत्यय मान लिया है और उस आधार पर आगम विरुद्ध यह लिखने से भी नही चूका है कि जैन सस्कृति ऐसे परिणमन भी स्वीकार करती है जो निमित्तो की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हे यहाँ स्वप्रत्यय नाम दिया गया है, स पृ २५" और विचित्र बात यह है कि ऐसे सर्वदा आगम विरुद्ध परिणमनो को स्वीकार करके भी समयसार गाथा ११६ आदि मे आये हुए "सय" पद का अर्थ अपने आप करने के लिये वह कदापि तैयार नही है। आश्चर्य महाआश्चर्य। यह है थोडे मे पूर्वपक्ष के मतव्यो का निचोड, फिर भी वह अपनी को विश्राम देना नही चाहता और परस्पर विरुद्ध अपने विचारो को मूर्त रूप देता चला जा रहा है।

यहाँ (स पृ. २२० मे) जो उसने प्रमेयकमलमार्तण्ड (शास्त्रागार) पत्र ५२ का हिन्दी अनुवाद उपस्थित कर अपने पक्ष का समर्थन करवाना चाहा है सो यह वचनशैली है, इससे कुछ सिद्धान्त नहीं फलित किये जाते। जब दोनो मे कालप्रत्यासत्ति है तो उसे किन्ही शब्दो में कहा जाय, उसका अर्थ इतना ही होगा कि उपादान स्वय कर्त्ता होकर परिणामलक्षण या क्रियालक्षण अपना कार्य करता है और उपचार से उसके अनुकूल अन्य द्रव्य उसमे निमित्त होता है।

यदि उपादान द्रव्य कार्यरूप परिणमन न करे और निमित्त उस रूप परिणमन करे तो कहा जायगा कि कार्यद्रव्य मे मात्र कार्यरूप परिणमन की योग्यता है, किन्तु जब निमित्तद्रव्य उस द्रव्य के कार्यरूप परिणमन करता है, तब वह कार्य होता है। सो बात तो है नही, क्योंकि जिस समय उपादान द्रव्य कार्यरूप परिणमन करता है तब उसके निमित्त होने वाला द्रव्य भी अपने कार्यरूप परिणमन करता है, इसलिये कोई किसी की सहायता से परिणमता है यह जिनागम नही है। अनुभव आदि के विषय मे तो हम पहले ही स्पष्टीकरण कर आये हैं। षड्गुण हानि-वृद्धिरूप कार्य के विषय मे हमने यही स्पष्ट लिखा है कि जैसी पूर्वपक्ष की मान्यता है वह जिनागम नही है। उपादान और निमित्त के मेल से कार्य नही होता, किन्तु उपादान स्वय कार्यरूप परिणमता है और बाह्य पर्याय युक्त द्रव्य उसमे निमित्त होता है। निमित्त से कार्य हुआ यह उपचरित नय वचन है, परमार्थ ऐसा नही है। उपादान ने कर्त्ता बनकर स्वय कार्य किया, यह परमार्थ है।

यहाँ समीक्षक "मेरी (प० फूलचन्द की) किस मान्यता को उत्तरपक्ष ने स्वीकार नही किया" यह स्पष्ट कर देता तो मैं अपने सहयोगी बन्धुओ से पूछता भी। परन्तु उत्तरपक्ष के दूसरे सहयोगियो का निजि मामला बतलाकर समीक्षक अपने काल्पनिक मतव्य की पुष्टि मे लग जाता है।

आगे पृ २३० मे समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "प्रत्येक वस्तु में प्रति समय कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यतारूप अनेक उपादान शक्तियो का सद्भाव रहता है, उनमें से प्राप्त निमित्तो के अनुसार कोई एक कार्य की उत्पत्ति एक समय मे हुआ करती है।"

तो इस सम्बन्ध मे जानना यह है कि (१) निमित्त कार्यकाल में होता है कि पहले होता है। (२) दूसरी बात यह जाननी है कि जितने काल मे समय है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य मे कार्ययोग्यतायें हैं, तो क्या वे कालविभाग से विभक्त हैं या प्रत्येक समय में एक साथ प्राप्त होती रहती हैं। (३) तीसरी बात यह जाननी है कि जहा कार्य के साथ निमित्त की व्याप्ति है, वहा कार्य पहले हो लेता है, तब निमित्त मिलता है या निमित्त पहले रहता है और बाद में कार्य होता है। या कार्य और निमित्त एकसाथ होते हैं या निमित्त के अभाव मे भी कार्य हो जाता है। इन सब बातो का निर्णय होने पर ही स पृ २३० मे जो विधान किया है, उसे युक्तियुक्त कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। निमित्त को कार्यकाल मे मानने पर दोनो एकसाथ हैं, किसी ने किसी को उत्पन्न नही किया यही कहा जायेगा।

(१) निमित्त को पहले मानने पर वह उपादान हो जायगा, क्योंकि परीक्षामुख मे उपादान को एक ही समय पहले स्वीकार किया है, निमित्त को नही।

(२) जितने काल के समय हैं, उतनी जब कार्य योग्यतायें हैं तो वे युगपत प्राप्त न होकर समर्थ उपादान के अनुसार काल के विभाग से ही प्राप्त होती हैं। यदि ऐसा न मानोगे तो जिन निमित्तो की कार्यों के साथ आपके ही मतानुसार व्याप्ति हैं, वे कार्य नही बन सकेंगे तथा जो कार्य निमित्तो के विना पैदा होते हैं, वे कार्य भी नही बन सकेंगे।

(३) समीक्षक के मतानुसार सब कार्ययोग्यताओ का युगपत प्रत्येक समय मे प्राप्त होना मान लेने पर जितने काल तक प्रेरक निमित्त प्राप्त नही होंगे, उतने काल तक तो उस द्रव्य को अपरिणामी ही बना रहना पडेगा।

(४) यदि कहो कि उस अवस्था मे वह स्वय अपनी एक योग्यतानुसार परिणमेगा और उस समय जो द्रव्य उपचार से उसके अनुकूल होगा वही, उसमे निमित्त होगा। यदि ऐसा हैं तो हम कहते हैं कि जब प्रत्येक समय मे चाहे प्रेरक कारण मिलो या न मिलो, द्रव्य को स्वय अपना परिणमन कार्य करना है तो प्रेरक कारण मानने से लाभ ही क्या हुआ, अर्थात् कुछ भी नही। तब तो इष्टोपदेश के 'धर्मास्तिकायवत्'' वचनानुसार द्रव्य के सभी कार्य नियत समय मे अपने कार्यानुपाती पद्धति से ही होते हैं यही मानना श्रेयस्कर प्रतीत होता है। और ऐसा मानना आगमानुसारी तो है हीं।

(५) यदि समीक्षक कहे कि कही उपादान बलवान होता है और कही निमित्त बलवान होता है। जहा निमित्त बलवान होता है वहा द्रव्य को निमित्त के अनुसार ही परिणमना पडता है, तो हम पूछते हैं कि यहा पर उपादान पद से किसका ग्रहण करते हो – सामान्य द्रव्य का या अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य का ? यदि आप कहो कि उपादान तो द्रव्य ही होता है, पर्याय तो उसमे रहती ही है। तो हम पूछते हैं कि ऐसा आप (समीक्षक) किस दृष्टि से कहते हो – प्रमाण से, या द्रव्यार्थिकनय से या पर्यायार्थिक नय से ? आप समीक्षक कहोगे कि यह हम द्रव्यार्थिकनय से कहते हैं तो हम (समाधानकर्ता) पूछते हैं कि यह आप मन मे सोचे गये कार्य की विवक्षा मे कह रहे हो या अगले समय मे नियत क्रम से होने वाले कार्य की विवक्षा मे कह रहे हो। यदि आप (समीक्षक) कहे कि यह हम मन में सोचे गये कार्य की विवक्षा मे कह रहे हैं तो वह तो ठीक नही, क्योकि वह तो आप (समीक्षक) का विकल्प माना है। यदि असमर्थ उपादान के अनुसार अगले समय मे होने वाले नियत कार्य की विवक्षा हो तो हम कहते हैं कि यहा प्रत्येक कार्य की अपेक्षा कार्य-कारणभाव का विचार चला है। अत आपको प्रमाण की अपेक्षा यही मान लेना योग्य है कि सर्वत्र अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य ही उपादान होता है। और वही समर्थ उपादान है, कार्य भी प्रति-समय उसी के अनुसार होता है। कही निमित्त बलवान होता है और कही उपादान, यह कथन मात्र है।

ऐसा मानने पर सर्वत्र चाहे बुद्धिपूर्वक कार्य की विवक्षा हो और चाहे अबुद्धिपूर्वक कार्य की विवक्षा हो, सर्वत्र एक नियम यही बनता है कि अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य ही उपादान होता

होता है। रही उपादान और प्रेरक निमित्तों को स्वीकार करने की बात, सो जितने भी अजीव पुद्गलादि सम्बन्धी कार्य और जीवों के भी अबुद्धिपूर्वक कार्य होते हैं, उन सबकी विवक्षा से हुए कार्यों मे परिगणना हो जाती है। जैसे वायु के प्रवाह को निमित्त कर ध्वजा का फडकना यह विस्रसा से हुआ कार्य है। तथा प्राणियो के पुरुषार्थपूर्वक जितने भी कार्य होते हैं, उनकी परिगणना प्रायोगिक कार्यों मे हो जाती है, किन्तु ये सब कार्य होते हैं अपने अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान के अनुसार ही।

आप्तमीमासा अष्टसहस्री मे प्रागभाव और प्रध्वसाभाव की कथन के प्रसग से तथा 'कार्योत्पाद क्षयो हेतो' इस कारिका के प्रसग से तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में उपादान का उक्त लक्षण स्वीकार करके ही उपादान-उपादेयभाव रूप से और निमित्त-नैमित्तिक भावरूप से कार्य-कारणभाव की व्याख्या की गई है, ऐसा यहा समझना चाहिये।

समीक्षक ने त च पृ. ८२ पर जो सुबोध छात्र और मन्दबुद्धि छात्र का उदाहरण उपस्थित कर अपना मतव्य सिद्ध करना चाहा है वह योग्य नहीं है। ककड आदि रहित प्रत्येक चिकनी मिट्टी मे घट बनने की स्वाभाविक योग्यता है, पर जब तक वह उपादान की भूमिका मे आकर स्वतः अपने परिणमन स्वभाव के द्वारा घट भवन रूप परिणाम के सन्मुख नही होती है, तब तक वह घट नहीं बनती है। जब इस भूमिका मे आ जाती है तो वह स्वय घटरूप परिणाम जाती है और उसमें योग-उपयोग परिणत कुम्हार निमित्त हो जाता है। यह प्रायोगिक कार्य का उदाहरण है। फिर भी इसमे भट्टाकलकदेवने उपादान-उपादेयभाव और निमित्त-नैमित्तिक भाव को कैसे सुन्दर हृदयग्राही शब्दो मे घटित कर लिखा है यह किसी भी विवेकी के हृदय को छूने-लायक कथन है। प्रकृत में भी समीक्षक को ऐसा ही समझना चाहिये।

अरे भाई! प्रत्येक वस्तु स्वय अपना कार्य करने मे स्वतन्त्र है। जब इस विवक्षा को जीव स्वीकार करता है, तभी वह अपने प्रयोजनीय कार्य के सन्मुख होता है और बाह्य अनुकूलता भी तभी बनती है। सुबोध छात्र को अध्यापक का मिलना उसकी अनुकूलता नहीं है। इसे गुरु मानकर इसके पास मुझे पढना है यह भाव जब छात्र के होता है, तभी उसके पठन-कार्य मे अध्यापक निमित्त होता है। इतना समीक्षक भी समझता है, फिर भी वह अपने कल्पित मन्तव्य की पुष्टि किये जा रहा है और इसे हमारी भूल बतलाकर अपने आप मे बडप्पन अनुभव करता है। और कार्य-कारण-भाव की पदस्थल से अनभिज्ञ व्यक्तियो से भी बडप्पन का भागी बनता है, किन्तु हम मानते हैं कि किसी बात की योग्यता होना अन्य बात है और उसका परिपाक काल का होना अन्य बात है। आत्मा सर्वज्ञ और समदर्शी स्वय बनता है, कर्म या गुरु या तीर्थंकर नही बनाते। अपना उपयोग स्वभाव आत्मा इनके विकल्पो को छोडकर जब अपने स्वभावभूत आत्मा को चेतता है तब बनता है। पर जब तक उसके देवादि की पूजा स्तुति आदिका विकल्प रहता है, तब तक वह मुनि होकर भी छठे गुणस्थान से आगे नही बढ पाता है। वहीं अन्तमुहूर्त काल तक अटका रहता है या फिर गिर जाता है।

समीक्षक जितना कुछ लिख रहा है वह विकल्प की विवक्षा में लिख रहा है, इसी मे वह अपनी इतिश्री मान रहा है। यही कारण है कि वह पक्ष समयसार गाथा ११६ आदि मे आये हुए "सय" पद का "अपने आप" अर्थ करने मे हिचकिचा रहा है और सर्वत्र निमित्त की सहायता का विकल्प उसे सभी कार्यों को परतन्त्र बनाने के लिए प्रेरित करता रहता है। और मजे की बात यह है कि ऐसा होने पर भी षड्गुण-हानि-वृद्धि रूप कार्यों को वाह्य निमित्त के विना भी माननें मे वह हिचकिचाहट का अनुभव नही करता। जवकि स्वामी समन्तभद्र स्वयभूस्तोत्र कारिका ६० मे लिखते हैं कि "सभी कार्यों मे वाह्य और आभ्यतर उपाधि की समग्रता रहती है। यदि ऐसा न माना जाय तो पुरुष की मोक्ष विधि नही बनती। देखो आचार्य महाराज ने कितनी वडी बात लिख दी कि आत्मा का मोक्षकार्य आत्माश्रित होने पर भी उसमे वाह्य और आभ्यतर उपाधि की समग्रता नियम से रहती है।" यह है जिनागम। पूर्वपक्ष से हमारा निवेदन है कि वह इसे समझे और अपने विचारो मे सुधार करे। इसी में जिनागम की सुरक्षा है, अन्यथा नही।

हमने त च पृ ९०—९१ पर जो अध्यापक अध्यापन सीखने के लिए इत्यादि लिखा है सो हमारे इस कथन का समीक्षक ने निराकरण न करके मेरी समझ से समर्थन ही किया है, अन्यथा वह यह नही लिखता कि "परन्तु एकान्त मे की गई वह क्रिया अध्यापन सीखने की दृष्टि से कार्यकारी ही है, निरर्थक नही।" सो इसका हमने कहा निषेध किया है, क्योंकि उसका एकान्त मे सीखना तो उपादान द्रव्य की कार्यरूप परिणति ही है। उसका भला कौन निषेध करेगा। हमारा तो यह कहना है कि प्रत्येक कार्य मे जो निमित्त होता है वह उपादान द्रव्य का कुछ भी कार्य नही करता, इसलिए इस अपेक्षा से वह अकिंचित्कर ही है। हमारे इस कथन मे क्या आपत्ति है इसे वह इतना सव लिखने के वाद भी सिद्ध नही कर पाया है; फिर भी उसका समर्थन किये जा रहा है। उससे "यह उपचरित कथन है" ऐसा कहा जाय तो वह उपचार के अर्थ को काल्पनिक विकल्पभिन्न मानने के लिए भी तैयार नही दिखाई देता। जवकि आचार्यों ने उपचार को काल्पनिक विकल्पभिन्न स्वीकार करके प्रयोजन के अनुसार उसका कथन किया है। देखो—समयसार गाथा ४७, १०६, १०८ आदि।

हम कार्य-कारणभाव की व्यवस्था का जैसा प्रतिपादन कर रहे हैं वह आश्चर्य की वात नही, क्योकि हम जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनरूप स्वभाव के कारण स्यय (अपने आप) परिणमती है, यह परमार्थ कथन है। परसापेक्ष परिणमती है, यह उपचार कथन है। आश्चर्य तो हमे इस वात का है कि वह (प्रेरक निमित्तो को) यथाथ स्वीकार करके द्रव्यर्थिकनय से उपादान स्वीकार कर लेता है और उदासीन निमित्तो को यथार्थ मानकर वह प्रमाण दृष्टि से अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को उपादान स्वीकार कर लेता है। और षड्गुण हानि-वृद्धिरूप कार्यों को अनिमित्तक स्वीकार करके वह उपादान को पर्यायार्थिकनय से स्वीकार कर लेता है। फिर भी वह अपने लिखान से सन्तुष्ट है। इसलिए आश्चर्य तो उसे अपने लिखान का होना चाहिये, हमारे लिखान का नहीं, क्योंकि हमने प्रमाण से माने गये उपादान को स्वीकार करके ही पूरी प्ररूपणा निवद्ध की है। केवल समीक्षक ही निश्चयनय के वक्तव्य को पर निरपेक्ष स्वीकार नही करना

चाहता, और इसलिये-वह निश्चयनय से की गई कथनी के विरोध मे समाज को उखाडने से नही हिचकिचाता, इसलिए मात्र निश्चयकथनी की सिद्धि आगम ग्रन्थो में कैसे की गई है यह प्रसिद्ध करने के लिये ही हमने ब्र लाडमलजी के आह्वान पर आमन्त्रण स्वीकार किया था। इसलिए समीक्षक को उस समय किये गये लिखान की ओर देखना चाहिये। विरोध मे कुछ भी लिखते रहने से कोई लाभ होने वाला नही। इतना वह निश्चय माने कि हम व्यवहार कथनी को भी जानते हैं और परमार्थ कथनी को भी जानते हैं। इसलिए हम असत् आरोपो द्वारा परमार्थ कथनी को अपने जीवन भर मटियामेट नही होने देंगे। विशेष क्या निवेदन करें।

कथन न १४ स पृ २३३ का समाधान :—

समीक्षक ने हमारे द्वारा दिए गए "नियत वाह्य सामग्री नियत आभ्यतर सामग्री की सूचक होने से व्यवहारनय से आगम मे ऐसा कथन किया गया है। इस उत्तर को सीधे मार्ग से न पकडकर घुमावदार मार्ग से पकडना चाहा है।" अर्थात् वह बाह्य सामग्री को जो आभ्यतर सामग्री का सूचक मानते हैं सो इससे तो कार्योत्पत्ति मे बाह्य सामग्री की उसकी मान्य अकिंचित्करता खडित हो जाती है। लिखा है सो यह केवल समीक्षक की कल्पना मात्र है। समीक्षक ऐसा मानता कहा है जिससे हमारे कथन की हानि मानी जाय। पहले तो उसे 'भूतार्थ रूप से सहायता करता है' इसका अर्थ 'सूचन करता है,' इतना स्वीकार कर लेना चाहिये, उसके बाद ही हमारे ऊपर उक्त दोषारोपण करना ठीक ठहराया जा सकता है।

दूसरे हमारा तो यह कहना है कि वाह्य निमित्त परमार्थ से उपादान का कार्य नही कर सकता, इसलिए अकिंचित्कर है। वह उपादान के कार्य में व्यवहार से सूचक है। इसका समीक्षक ने कहा निषेध किया ?

समीक्षक ने जो आधार की पृच्छा की है सो इसका उत्तर हम—

> कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः येन निश्चयसिद्धये।
> साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥

अनगारधर्मामृत के इस कथन के द्वारा बार-बार दे आये हैं। इसके द्वारा यही तो कहा गया है कि वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु को कर्ता आदि रूप कथन निश्चय की सिद्धि के लिए किया जाता है। आदि समीक्षक को समझना चाहिये कि यह आधार ही तो है। रही हमारी वात सो समीक्षक मात्र आरोप करना जानता है। हमने क्या लिखा है और क्या लिख रहे हैं इस ओर वह यदि ध्यान नही देना चाहता तो इसके लिए हम क्या करें।

"व्यवहार से ऐसा कथन किया जाता है।" हमारे इस कथन को यदि वह ठीक मान लेता है तो व्यवहारनय का कथन विकल्प मात्र होने से उसे यह भी मान लेना चाहिये कि "समर्थ उपादान से होने वाले कार्य मे वाह्य सामग्री सहायक होती है" ऐसा कहना विकल्प मात्र है, परमार्थ नही।

आलापपद्धति के वचन मे जो "मुख्याभावे" पद है सो वह वहा मुख्य को गौण करने के अर्थ मे है। कार्य मे मुख्य का कभी भी अभाव नही होता है। यदि मुख्य बालक का अभाव मान लिया जाय तो सिंह का उपचार किसमे करेंगे ? हा वहा सिंहरूप निमित्त का अभाव अवश्य पाया जाता है, परन्तु सिंह के क्रौर्य शौर्य गुण का स्मरण कर बालक को सिंह कहा जाता है। अतएव समीक्षक आलापपद्धति के उक्त वचन का जो अर्थ करता है वह योग्य नही है।

कथन १५ (स पृ २३४) का समाधान —

समीक्षक ने जीवित शरीर की क्रिया के दो अर्थ इस समीक्षा मे ही किये हैं और इनमे से एक अर्थ के अनुसार वह यह तो मान लेता है कि त च पृ ६१ मे प्रवचनसार के उद्धरण और मणिमाला के उदाहरण का जो समाधान किया गया है, वह सर्वार्थसिद्धि के "वियोजयति चासुभि" इत्यादि उल्लेख के अनुसार एक अर्थ को ध्यान मे रखकर ही किया गया है, किन्तु हमारी शका शरीर के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया को जीवित शरीर की क्रिया मानकर प्रकृत मे विचार करना था। सो यह बात तो हम मान लेते हैं कि जीव के सहयोग से होने वाली शरीर की क्रिया तो किसी भी अवस्था मे धर्म-अधर्म का कारण नही होती। अब रह जाती है शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया, सो शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया दो तरह से होती है — एक तो अन्तरग मानसिक परिणाम की प्रेरणा से होती है और दूसरी अन्तरग मानसिक प्रेरणा न होने पर भी होती है। इनमे से जो शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया अन्तरग मानसिक परिणाम की प्रेरणा से होती है, वह तो धर्म-अधर्म का कारण होती ही है, लेकिन जो शरीर के सहयोग से होनेवाली जीव की क्रिया अन्तरग मानसिक परिणाम के बिना ही होती है वह भी धर्म-अधर्म मे कारण होती है। इसे लक्ष्य मे रखकर ही त च पृ ८३ पर अपना कथन किया है। इसतरह उत्तरपक्ष ने उसकी आलोचना मे जो कुछ उक्त अनुच्छेदो मे लिखा है वह अप्रासगिक और निरर्थक है।

अपनी इस समीक्षा में यह समीक्षक का कथन है। इसमे उसने जीवित शरीर की क्रिया पद से उसका अर्थ शरीर के निमित्त से होनेवाली जीव की क्रिया किया है। सो इसका सीधा अर्थ होता है कि ससारी जीव जब धर्म या अधर्मरूप परिणत होता है, तब वह शरीर उसमे असद्भूत व्यवहार से निमित्त होता है। यदि द्वितीय दौर मे वह पक्ष ही इस बात को स्वीकार कर लेता तो यह विवाद कभी का समाप्त हो गया होता। अब जाकर कोई गति न देखकर इस समीक्षा मे वह इस बात को दूसरे शब्दो मे स्वीकार करता है इसकी हमे प्रसन्नता है। कहावत भी है कि सुबह का भूला शाम को घर आ जाय तो वह भूला हुआ नही कहलाता। सीधी सी बात यह है कि धर्म अधर्म का मुख्य कर्ता आत्मा ही होता है, अन्य परद्रव्य तो उसमे निमित्तमात्र होता है। समीक्षक ने जो मानसिक परिणाम का उल्लेख किया सो वह स्वय जीवरूप है या पुद्गल रूप ? ऐसा प्रश्न होने पर जीव की क्रिया कहने से उसे जीवरूप ही मानना पडता है। और इस दृष्टि से देखने पर

वह जीव की क्रिया अर्थात् परिणति स्वय व्यवहार धर्म और तत्वत अधर्म रूप सिद्ध होती है। "उसकी प्रेरणा से" इतना विशेषण लगाने से तो कोई प्रयोजन ही सिद्ध नही होता।

कथन १६ (स पृ २३४) का समाधान —

इस कथन मे केवली की चलने आदि रूप क्रिया और समुद्घात इन दो मुद्दो को आधार बनाकर समीक्षक लिखता है कि "केवली जिनकी क्रिया प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध रूप कर्मबन्ध का कारण होकर भी नियम से ससारवृद्धि का कारण नही होती है। इस अपेक्षा से ही उसे मोक्ष का कारण पूर्वपक्ष ने माना है।" सो समीक्षक का यह विचार पढकर मैं अपनी हसी नही रोक सका, कारण कि जो कम से कम एक समय के लिए ही सही ससार मे रोक रखने मे कारण है उसे मोक्ष का कारण माना जाय यह कैसे हो सकता है? यद्यपि हमने योगनिरोध की चर्चा करके समीक्षक का ध्यान उसकी असावधानी पूर्वक लिखी गई चर्चा की ओर आकर्षित करना चाहा था पर वह अपना पक्ष छोड़ने के लिए तैयार नही हुआ, इसका हमे खेद है। और फिर उसे विवक्षित बनाकर कथन अपने द्वितीय दौर मे ही करना था।

मैने प्रवचनसार की ४५वी गाथा सावधानी से पढी है। विवाद उसका नही है। विवाद निश्चय और व्यवहार का है। समीक्षक व्यवहार को परमार्थरूप ठहराना चाहता है और हम व्यवहार को उपचरित मान लेन के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। जो यथार्थ है, उसे यथार्थ मानो और जो व्यवहार है, उसे विकल्प का विषय मानो यही हमारा कहना है।

और फिर ४५वी गाथा मे तो वह क्रिया न बन्ध का कारण है और न मोक्ष का ही कारण है। योग बन्ध का निमित्त हो सकता है, काय की क्रिया नही। सभवत समीक्षक काय की क्रिया और योग मे अन्तर नही समझकर अपना वक्तव्य लिख रहा है, जो योग्य नही प्रतीत होता।

कथन १७ (स पृ २३५) का समाधान —

त च पृ ९२ मे हमने जो कुछ लिखा है, उसे निमित्त बनाकर समीक्षक लिखता है कि "पूर्वपक्ष का प्रश्न शरीर के सहयोग से होने वाली जीव की क्रिया से सम्बद्ध है। उत्तरपक्ष इस बात को अन्त-अन्त तक नही समझ पाया है, समझकर भी उसकी उपेक्षा करता आया है।" सो यहा इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि समीक्षक ने जीवित शरीर की क्रिया का जो इस समीक्षा में घुमावदार अर्थ किया है, उसे तीन दौर तक पूर्वपक्ष ने स्वय कहा किया? कोई गति न देखकर स्वय समीक्षक यह अर्थ कर रहा है, पर इस अर्थ के करने पर भी इससे तो यही सिद्ध होता है कि वह जीव स्वय धर्म-अधर्मरूप परिणमता है और ससार अवस्था मे शरीर आदि परद्रव्य उसमे बाह्य निमित्त होते हैं।

समीक्षक ने भले ही "शरीर के सहयोग से (निमित्त से) होनेवाली जीव की क्रिया को आत्मा के धर्म-अधर्म में उपचरित हेतु माना है।" पर यहा वह इस बात को भूल जाता है कि

आगम मे जीव और आत्मा इन दोनो का एक ही अर्थ है, इसलिए जीव की जो भी परिणाम लक्षण क्रिया होती है वह या तो धर्मरूप होती है या अधर्मरूप होती है। वह स्वय धर्म और अधर्म है, यह कहे तो कोई अत्युक्ति नही है। रही निमित्त की बात सो एक शरीर ही क्या, कार्यकाल मे जिसके साथ जीव के कार्य की त्रिकालव्याप्ति या काल प्रत्यासत्ति बनती है, उसे उस समय निमित्त मानने मे आगम से कोई बाधा नहीं आती। देखो स्वयभूस्तोत्र श्लोक ५६।

समीक्षक ने इसी वचन मे "इसलिए उत्तरपक्ष का शरीर की क्रिया को आत्मा के धर्म-अधर्म मे उपचरित कारण मानना मिथ्या ही है" यह कैसे लिख दिया, जबकि इसी बात के लिए वह तीन दौर तक उत्तरपक्ष से झगडता रहा। और अब सम्हला भी तो धर्म-अधर्म मे शरीर को उपचरित हेतु मानने के लिए भी तैयार नही दिखाई देता। धन्य है समीक्षक की इस समीक्षा को। वह कब क्या मानेगा और क्या लिखेगा, कौन जाने ?

शंका ३ के पहले दौर की समीक्षा का समाधान

शका – जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

(१) समीक्षक ने जीवदया को उत्तरपक्ष के अनुसार पुण्यभावरूप तो स्वीकार कर लिया, किन्तु उसने जो यह लिखा है कि "जहा पूर्वपक्ष पुण्यभावरूप जीवदया को व्यवहार धर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति मे कारण मानता है, वहा उत्तरपक्ष इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है।" सो समीक्षक ने हमारे किस कथन से यह अर्थ फलित किया, यह समझ से बाहर है। कारण कि जो जीवदया व्यवहारधर्मरूप है वह अगले समय मे होने वाले व्यवहारधर्म का कारण भी है ऐसा स्वीकार करने मे हमने किसी प्रकार की बाधा तो उपस्थित की ही नही। अस्तु।

(२) जीवदया का अर्थ समीक्षक ने जो निश्चयधर्म किया है और उसकी पुष्टि मे धवल पु १३, पृ ३६२ के जिस उद्धरण को उपस्थित किया है। उसमे करुणा को जीव का स्वभाव सिद्ध किया गया है।

सो इस सम्बन्ध मे पूछना यह है कि जीवदया से यदि समीक्षक पर-दया को लेता है तो उसे निश्चयधर्म मानना नही बनता। धवल मे जहा करुणा को जीवस्वभाव कहा गया है, वहा "करुणा" पद से स्वय उसी जीव का स्वभाव धर्म ही लिया गया है, पर-दया नही। किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय इसलिये ही इतना स्पष्टीकरण किया है।

(३) अदयारूप अशुभप्रवृत्ति की निवृत्ति कहो या दयारूप शुभ परिणति कहो, वह व्यवहारधर्म तभी कही जायगी, जब वह मोक्षमार्ग के लक्ष्य से की गई हो। और वह निश्चयधर्म का निमित्त भी उसी अवस्था मे मानी जायगी, अन्यथा नही। वह अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति की निवृत्तिरूप है, मात्र इसलिए वह न तो सवर और न निर्जरा का कारण ही हो सकती है और न ही सवर

निर्जरास्वरूप ही हो सकती है। यदि समीक्षक उसे पुण्यबन्ध का विशेष कारण कहे तो इसमे आगम से कोई आपत्ति नही आती, क्योंकि जितना भी शुभरूप भी रागांश है, वह एकमात्र बन्ध का ही कारण है।

अभव्य व्यवहारधर्म के अधिकारी नहीं :– नियम यह है कि जिसने निश्चयधर्म की प्राप्ति की है, उसी के शुभोपयोगरूप परिणाम को व्यवहारधर्म कहते हैं, *अन्य के नही। मिथ्यादृष्टि* के जो व्यवहारधर्म कहा *जाता है, वह लौकिकदृष्टि से ही कहा जाता है। आगमिक सुनिश्चित व्याख्या* के अनुसार नही। *अज्ञानी अभव्य का धर्म भोग के निमित्त होता है,* इसलिये वह परमार्थ से अधम ही है। लौकिक दृष्टि से उसे व्यवहारधर्म कहना हो तो भले कहो।

निश्चय धर्म

निश्चय धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप स्वभाव धर्म है। उसकी प्राप्ति भव्य जीव के अपने ज्ञायक स्वभाव के अवलम्बन से तन्मय होने पर होती है, ऐसा नियम है। इसमे भी सर्वप्रथम जिसने गृहीत मिथ्यात्व को बुद्धिपूर्वक छोड दिया है ऐसे जीव के क्षयोपशम, विशुद्धि और देशनालब्धिपूर्वक प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त कर जब यह जीव स्वभाव के आलम्बन से करणलब्धि के सन्मुख होता है, तब अनिवृत्तिकरण लब्धि के काल मे मिथ्यात्व का या मिथ्यात्व आदि दर्शन-मोहनीय की दो तीन प्रकृतियो का अन्तरकरणपूर्वक उपशम करके करणलब्धि के समाप्त होने पर उसके स्वभावभूत सम्यक्त्वपर्याय का उदय होता है। *यत इसके सम्यक्त्वप्राप्ति के प्रथम समय मे ही अनन्तानुबधी चतुष्टय का अनुदयरूप उपशम नियम से होता है,* अत उसके प्रयोग द्वारा अपने आत्म-स्वभाव मे स्थितिरूप परिणति का भी उदय हो जाता है। इसीलिये समयसार आदि प्रवचनो मे पर-निरपेक्ष आत्मानुभूति को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

(क) आगम मे दया शब्द परदया के अर्थ में भी आता है और वीतरागभाव के अर्थ मे भी आता है। यहाँ जीवदया को स्वदयारूप निश्चयधर्म कहना प्रयोजन के अनुसार है। यह समीक्षक ही जाने कि वह किस अर्थ मे जीवदया को निश्चयधर्म कह रहा है – स्वदया के अर्थ मे या परदया के अर्थ में। प्रतिशंका २ मे उस पक्ष ने जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब मिले-जुले प्रमाण हैं। उनसे जीवदया पद से पूर्वपक्ष को क्या अभीष्ट है, यह पता नही लगता। यहाँ अवश्य ही समीक्षक यह तो लिखता है कि जीवदया निश्चय धर्मरूप भी होती है, पर वह जीव पद से स्वजीव गृहीत है या परजीव, यह स्पष्ट नही करता। अस्तु, उसका अपना विश्लेषण है, उसके लिये वह स्वय जिम्मेदार है, आगम नही।

(ख) समीक्षक ने तो पाँचवें गुणस्थान मे जो अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षयोपशम लिखा है, वह ठीक होकर भी इसीलिये ठीक नही, क्योकि क्षयोपशम मे देशघाति स्पर्धको का उदय भी विवक्षित रहता है, जब कि चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क की उत्पादानुच्छेदनय की अपेक्षा उदयव्युच्छित्ति हो जाती है।

(ग) समीक्षक ने सातवें गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षयोपशम लिखा है, जब कि पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे ही प्रत्याख्यानावरण चतुष्क की उक्त नय की अपेक्षा उदयव्युच्छिति हो जाती है। वहाँ उदय किसका रहता है और लिखा जाता तो ही यह कथन समीचीन माना जाता।

(घ) समीक्षक का कहना है कि "छठवें और सातवें इन दोनो गुणस्थानो में झूलते हुए" उस जीव मे यदि सप्तम गुणस्थान से पूर्व ही दर्शनमोहनीय कर्म की उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्म के प्रथम भेद अनन्तानुबधी कषाय की उक्त चार इन सात प्रकृतियो का उपशम या क्षय हो चुका हो अथवा सप्तम गुणस्थान मे ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव आत्म-सन्मुखतारूप करणलब्धि का सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानो मे क्रमश अध करण और अनिवृत्ति-करण के रूप मे और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है आदि।"

यहाँ यह स्पष्ट करना है कि जो पूर्वपक्ष की यह मान्यता है कि "सप्तम गुणस्थान के पूर्व यदि दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबधी का उपशम या क्षय न हुआ हो तो सातवे मे उनका उपशम या क्षय होता है" यह विचारणीय है, क्योकि उन प्रकृतियो का क्षय तो सातवें मे भी होता है, पर उन प्रकृतियो का उपशम सातवें मे भी होता है यह लिखना ठीक नही है, क्योकि दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियो का उपशम तो मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही हो जाता है और उसके उदय का अभाव होने पर ही चौथे, पाँचवें या सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यदि अव्रति है तो चौथे की, यदि मिथ्यादृष्टि व्रति श्रावक है तो पाचवें की और यदि द्रव्यलिंगी मुनि है तो सातवे की प्राप्ति होती है। और इन जीवो के क्रम से अनन्तानुबधी चतुष्क, इसके साथ अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और इनके साथ प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का नियम से उदयाभाव रहता है। दूसरी बात यह है कि एक तो अनन्तानुबधी चतुष्क का अन्तरकरण उपशम होता नही, दूसरी इसका उदयाभाव ही उपशम कहलाता है, पर ऐसा जीव उपशम श्रेणि पर या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि चढता है या द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि चढता है। और द्वितीयोपशम की प्राप्ति क्षयोपशम सम्यक्त्वपूर्वक होती है। ऐसा जीव अनन्तानुबधी चतुष्क की विसयोजना करता है और दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो का उपशम करता है, तभी वह उपशम श्रेणि पर चढने का अधिकारी होता है।

व्यवहार धर्म के विषय मे स्पष्टीकरण :—

न केवल दयारूप शुभ प्रवृत्ति का नाम व्यवहारधर्म है और न ही उदयरूप सकलवी पापमय अशुभ प्रवृत्तियो से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप मे सर्वथा निवृत्ति पूर्वक की जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति का नाम व्यवहारधर्म है, क्योकि एसे परिणाम सज्ञी पर्याप्तक पचेन्द्रिय प्राय सभी जीवो के होते रहते हैं। व्यवहारधर्म मात्र मोक्षमार्गी के ही होता है, ऐसा आगम का नियम है। उसमे भी जो मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करने मे सावधान होता है, उसके भी उपचार से व्यवहारधर्म कहा जाता है। यहाँ इतना

विशेष जानना चाहिये कि समीक्षक ने मनोगुप्ति आदि का जो स्वरूप निर्देश किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि मनोगुप्ति आदि सम्यग्दृष्टि सयमी के ही होती हैं।

आगे प्रकरण के बाहर समीक्षक ने जो जीव की भाववती और क्रियावना शक्तियो के विषय मे लिखा है, वह प्रकरण बाह्य होने से यहाँ उनके विषय मे हम कुछ नही लिख रहे हैं।

व्यवहारधर्म और दया : –

जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनपूर्वक अहिंसादि पांच अणुव्रतो को गुरु की साक्षीपूर्वक धारण करता है, उसके व्यवहार धर्म के साथ दयारूप परिणाम सदा ही रहते हैं। वह सकल्पी हिंसा का तो त्रियोग से त्यागी होता ही है, अनर्थदण्डरूप प्रवृत्ति भी उसके नही पायी जाती। वह आत्मा के छन्दस्थानीय सम्यक्देव, गुरु और जिनवाणी की उपासना मे सदा सावधान रहता है। ऐसे गृहस्थ के ही व्यवहार धर्म के साथ दयारूप परिणाम पाये जाते हैं। इसके सिवाय समीक्षक ने अपने मानसिक व्यायामपूर्वक जो कुछ भी लिखा है, वह सब उसकी कल्पना मात्र है। लौकिक दृष्टि से कुछ भी कहा जाय यह दूसरी बात है।

यहाँ पर समीक्षक ने द्रव्यसग्रह गाथा ४५ को उद्धृत कर जो कुछ लिखा है, उसके विषय मे मुझे इतना ही लिखना है कि सम्यग्दृष्टि व्रती गृहस्थ के अदया की निवृत्ति ही शुभकर्म मे प्रवृत्ति-रूप व्यवहारधर्म है। वह मोक्षमार्ग को लक्ष्य मे रखकर शुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया होती है। इसमे मन, वचन और काय इन तीनों द्वारा की गई क्रिया का समावेश हो जाता है। यह सरल भाषा मे व्यवहार धर्म का स्पष्टीकरण है।

आगे समीक्षक ने जो आ वीरसेन द्वारा उल्लिखित "सुह सद्ध परिणामेहि" आदि कथन का जो स्पष्टीकरण किया है, आगम के अनुसार वह ठीक नही है, किन्तु यहा पर ज्ञानी की सविकल्प अवस्था को शुभ पद द्वारा ग्रहण किया गया है, क्योकि उस काल मे ज्ञानी के स्वभावपरिणति का नियम से सद्भाव पाया जाता है, जो स्वभाव परिणति नियम से कर्मक्षय का हेतु है, किन्तु इस कथन मे इतना विशेष जानना चाहिये कि यहाँ स्वभाव परिणति को गौणकर शुभ परिणति की मुख्यता से उसे ही उपचार से कर्मक्षय का हेतु कहा गया है। यह उक्त वचन मे आये हुए "शुभ" पद का स्पष्टीकरण है। अब रह गया शुद्ध पद, सो इस पद द्वारा निर्विकल्प अवस्था का मुख्यतया कथन किया गया है, क्योकि इस अवस्था में ज्ञानी का उपयोग भी स्वभाव को ही अनुभवता है और परिणति भी स्वभावरूप ही वर्तती है। इस प्रकार आ वीरसेन ने 'शुद्ध परिणामो से' कर्मक्षय कहा है, उसका यह आगमानुसार सम्यक् खुलासा है, जो स्वय आ वीरसेन को भी इष्ट था, अन्यथा 'शुभ' पद के साथ वे शुद्धपद नही लगाते।

आगे स पृ. २४५ में समीक्षक ने १२ वें गुणस्थान को ख्याल मे रखकर जो शका उपस्थित की है, उस सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय मे न तो रत्नत्रय की पूर्णता ही हुई है और न ही ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय के अनुकूल ध्यान की भूमिका

ही बनी है, अत १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय मे स्वभावभूत निश्चय धर्म का पूर्ण विकास मानना ठीक नही है, क्योकि यद्यपि १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय मे क्षायिक चारित्र की पूर्णता हो जाती है, परन्तु बाह्य और आभ्यतर क्रिया का निरोध का नाम ही पूर्ण चारित्र है और वह चौदहवें गुणस्थान मे ही प्राप्त होता है, इसलिये १२वें गुणस्थान के प्रथम समय मे स्वभावभूत निश्चय धर्म की पूर्णता नहीं होती है, ऐसा यहाँ समझना चाहिये। १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय मे क्षायिकज्ञान भी नही है, इसको यहाँ विशेष जानना चाहिये।

दूसरे प्रथम गुणस्थान के अन्तिम समय मे समीक्षक ने जो सात प्रकृतियो का क्षय लिखा है वह भी ठीक नही है, क्योकि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थान मे होती है। पहले गुणस्थान के अन्तिम समय मे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो का उपशम या क्षयोपशम नयविशेष से कहा गया है – ऐसा यहाँ जानना चाहिये।

समीक्षक ने जो आस्रव, बन्ध, सवर और निर्जरा का अपनी पद्धति से विवेचन किया है, उसके स्थान मे आगम मे जो इनके स्वरूप और क्रम पर विशेषरूप से प्रकाश डाला गया है, उसके अनुसार ही इनका कथन होना चाहिये। ग्रथ विस्तार के भय से हम यहाँ पर और विशेष नही लिख रहे हैं, और प्रकरण बाह्य होने से हम इस विषय मे विशेष ऊहापोह भी नही करना चाहते हैं। इतना अवश्य है कि यह सब लिखान समीक्षक की अपनी प्ररूपणा है, आगम ऐसा नही है।

हमने परमात्मप्रकाश गा २७१ को उद्धृत कर लिखा था कि जीवदया को पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नही है। इसकी पुष्टि मे और भी प्रमाण दिये थे। दूसरे दौर मे उस पक्ष ने उसे एक प्रकार से ठीक मानने की घोषणा की थी, समीक्षक साथ मे यह भी लिखता है कि उस पुण्यरूप जीवदया का आस्रव और बन्ध मे अन्तर्भाव होता है, सवर निजरा मे नही। इसकी पुष्टि मे उसका कहना है कि समयसार गा २६६ मे अहिंसा आदि को पुण्यबध का कारण नही कहा है, किन्तु इसके विषय मे होने वाली अध्यवसाय को ही पुण्यबध का हेतु कहा है। सो उसका यह कहना ठीक नही है, क्योकि अहिंसा के विषय मे जो अध्यवसाय होता है, व्यवहार से वही तो अहिंसा है। अहिंसा और उसके विषय मे अध्यवसाय ये दो वस्तु नही, एक ही हैं। अतएव इस गाथा द्वारा व्यवहारधर्म की ही प्ररूपणा हुई है, परमार्थ की नहीं।

आगे समीक्षक ने शका उपस्थित करते हुए द्वितीय दौर मे जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब उसी की पुष्टि मे दिये हैं। भले ही उनमे से कोई प्रमाण ऐसा हो जिससे किसी प्रकार निश्चय धर्म फलित किया जा सके, परन्तु समीक्षक ने वहाँ यह बात नही लिखी कि हम अपनी मूल शका मे जीवदया पद से निश्चय धर्म को भी ग्रहण कर रहे हैं। मूलशका का आशय भी यह नही था। वहाँ उत्तरपक्ष के मुख से यह कहलाना चाहता था कि जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है, परन्तु जब उत्तरपक्ष ने सम्यक् उत्तर दिया, तब समीक्षा पृ २४६ मे वह यह लिखने लगा कि जीवदया पद से हमारा अभिप्राय व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म और निश्चयधर्म के कारण इन तीनो से था। सो इन

बातो का समाधान यह है कि जीवदया को व्यवहारधर्म मानना भी मिथ्यात्व नही है और स्वरूप मे स्वदयारूप जीवदया को धर्म मानना भी मिथ्यात्व नही है और न ही जीवदयारूप व्यवहारधर्म को उपचार से निश्चयधर्म की उत्पत्ति मे निमित्त मानना भी मिथ्यात्व है।

यहाँ जो समीक्षक ने हमारे प्रथम दौर के समाधान को विसगत और अनुचित आदि लिखा है, सो ऐसी बात द्वितीय दौर मे शका को उपस्थित करते हुए लिखी जानी थी, किन्तु वहाँ तो ठीक मानता गया। उसे शका तो मात्र जीवदया के सवर और निर्जरा का कारण न मानने मे रही, जिसका समाधान उत्तरपक्ष पहले कर ही आया है। अब जो वह उसका अर्थ (स पृ २५०) फलित कर रहा है ? वही उसकी विसगति है। अधिक क्या लिखें। अब लिपापोती करने से कोई लाभ नही। यह तो एक प्रकार का सम्यक् उत्तर का अपलाप करना है। हमने अपने विषय के समर्थन मे परमात्म प्रकाश गा २७१ और समयसार गा २६६ के जो दो प्रमाण उपस्थित किये थे, वे अर्थपूर्ण या सार्थक थे, उनसे उस द्वारा उपस्थित की गई शका के ऊपर किये गये समाधान के रूप मे जो विपद् प्रकाश पडता है, वही मूल शका का आगमानुसार समाधान है।

शका ३ के दूसरे दौर की समीक्षा का समाधान

द्वितीय दौर मे शकाकार ने जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब पर्यायान्तर से जीवदया को धर्म मानने के समर्थन मे ही दिये हैं। ऐसा एक जगह भी पूर्वपक्ष ने नही लिखा कि यहाँ पर हम जीवदया पद से स्वदया को भी ग्रहण कर रहे हैं और वह स्वदया निश्चयधर्म रूप है।

(१) आगे समीक्षक ने जो यह लिखा है (स पृ. २५१) कि "वह भी इस बात को स्वीकार करता है कि आगम मे पुण्यभावरूप जिनबिंबदर्शन, जिनपूजा और जीवदया आदि को कर्मक्षय या मोक्ष का कारण प्रतिपादित किया गया है।" सो आगम मे जो इसका प्रतिपादन है, वह निमित्त के रूप मे ही है। इनका साक्षात् मोक्ष के कारण के रूप मे नही। आगे उसने आगम मे इनके प्रतिपादित करने के जिन कारणो का निर्देश किया है, वह उसके मन की कल्पना मात्र है। अरे ! जिसके सकल्पी हिंसा का त्याग होता है, उसी के जीवदया होती है। व्यवहार से दोनो एक है। थोडा वहुत जो भेद है वह प्रवृत्तिमूलक है, अभिप्राय मूलक नही। अशुभ प्रवृत्तियो के प्रति घृणा करने से कहीं शुभ प्रवृत्ति नही हुआ करती। अशुभरूप प्रवृत्ति न होने का नाम ही शुभ प्रवृत्ति है। और शुभ और अशुभ दोनो प्रकार की प्रवृत्ति न होने का नाम ही शुद्ध परिणति है, जो स्वभावरूप उपयोग के होने पर ही होती है।

(२) जयधवल के शुद्धभाव के साथ शुभभाव को जो कर्मक्षय का कारण कहा है, वह इस अर्थ मे ही कहा है कि जिस आत्मा मे शुद्ध परिणति का सद्भाव पाया जाता है, उसी आत्मा मे व्यवहारधर्म रूप शुभ परिणति का सद्भाव होता है, अन्य के नही। और यह व्यवस्था चौथे गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक नियम से पायी जाती है। इतनी व्यवस्था है कि चौथे से लकर छठवें गुणस्थान तक शुभ परिणति की वहुलता रहती है, अर्थात् अधिक काल तक वनी रहती है और

शुद्ध परिणति का सद्भाव बना रहने पर भी स्वय की अनुभूति क्वचित् कदाचित् होती है, किन्तु ७ वें गुणस्थान से आगे १० वें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक ही सज्वलन कषाय का उदय रहने से उसकी विवक्षा मे पर्याय से शुभ परिणति कही जाती है, क्योकि वहा उपयोग मे आत्माश्रित परिणाम का ही सद्भाव पाया जाता है, जो शुद्धोपयोगरूप होता है। समीक्षक ने यहाँ पर जिस रूप मे शुद्ध परिणति का स्पष्टीकरण किया है, वह ठीक नही है, क्योकि ७ वें गुणस्थान से लेकर अबुद्धिपूर्वक सज्वलन कपाय का सद्भाव रहने के कारण एक मात्र वही वन्ध का कारण है, शुद्धोपयोग नही। समीक्षक सर्वत्र निश्चयधर्मरूप जो जीवदया का निर्देश करता है, सो परजीवो की दया पराश्रित भाव है, उसे वह निश्चयधर्म कैसे स्वीकार करता है, यह वही जाने। मालूम पडता है कि स्वाश्रित भाव से पराश्रितभाव मे क्या भेद है, इसकी ओर उसका ध्यान ही नही गया है।

आगे समीक्षक ने स. पृ २५२ मे जो यह लिखा है कि "पुण्यरूप जीवदया जीव की सकल्पी पापमय अदया से घृणा उत्पन्न होने मे सहायक होती है और घृणा के बलपर ही वह जीव उस सकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर देता है, इत्यादि।" सो इस कथन से ऐसा लगता है कि सकल्पी हिंसा का त्याग, उसमे घृणा होने से करता है, अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ससार का कारण है, ऐसा निर्णयकर उसका त्याग नही करता। आश्चर्य है कि समता परिणाम को जीवन मे उतारने के अभिप्राय वाले जीव के घृणाभाव कैसे कैसे बना रहता है। अहिंसा धर्म है ऐसा मानकर सकल्पी हिंसा का त्याग करना और वात है तथा घृणा के कारण हिंसा का त्याग करना और वात है। यदि वह इस भेद को ठीक तरह से ध्यान मे ले ले तो परजीव की सकल्पी हिंसा का त्याग करना व्यवहारधर्म है, क्योकि उसमे शुभरूप परिणति पायी जाती है। तो वह अपने द्वारा किये गये विश्लेपण को छोडकर जिनागम के अनुसार शुभभाव का जो अर्थ होता है उसे वह हृदय से स्वीकार करले। समीक्षक ने अपने कथन के आधार पर पुरुषार्थसिद्धयुपाय के पद्य १२१, ११६ और १२४ का जो निष्कर्ष निकाला है, उसका सुतराम् निरसन हो जाता है, क्योकि परजीव की दया पराश्रित भाव होने से उसमे प्रवृत्ति की मुख्यता पायी जाती है, इसलिये वह मात्र बन्ध का ही कारण है, या स्वय सवर-निर्जरा स्वरूप है। जयधवल मे जो शुभ परिणति को भी सवर-निर्जरा का कारण कहा है, वह उपचार से ही कहा है, क्योकि परकी जीवदया स्वय प्रवृत्तिरूप होने से बन्धस्वरूप ही सिद्ध होती है। केवल उसे शुद्ध परिणति की सगति होने से उपचार से वह लाभ मिल जाता है, जो शुद्ध परिणति को स्वीकार किया गया है।

समयसार गाथा १५० और आत्मख्याति टीका को जो वह अपने समर्थन मे समझता है सो उसका यह मानना ठीक नही है, क्योकि व्यवहार रत्नत्रय पराश्रित भाव होने से वह परमार्थ से सवर-निर्जरा का कारण सिद्ध नही होता, मात्र उससे वन्ध ही होता है। अन्यथा व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म मे कोई भेद ही नही रहेगा। व्यवहारधर्म पालन करते हुए ही मोक्ष का अधिकारी वन जायगा। निश्चयधर्म रूप प्रवृत्ति करने की कोई आवश्यकता ही नही रहेगी। उसके विना भी व्यवहार धर्म की प्राप्ति हो जायगी, किन्तु ऐसा आगम मे स्वीकार ही नहीं किया गया है।

आगे त. च पृ ६६ मे सम्यग्दष्टि को अवधक किस रूप में कहा है, इसका विषद रूप से स्पष्टीकरण हमने पहले किया ही है, परन्तु वह स्पष्टीकरण को पुण्यभाव रूप जीवदया को लक्ष्य मे रखकर स्वीकार करता है, सो उसका ऐसा समझना ठीक नही है, क्योकि पुण्यभाव रागरूप होता है और सम्यक्दृष्टि ज्ञानभावरूप। सम्यग्दृष्टि के शुभभाव होता है यह और वात है और आत्मा को सम्यक्त्व के कारण स्वभावरूप स्वीकार करना और वात है। इससे फलित हो जाता है कि पुण्यभाव आत्मा का स्वभाव नही है, परभाव है।

हमने त चर्चा पृ १०० पर जो मात्र दया को वीतराग परिणामस्वरूप लिखा है, वह ठीक ही लिखा है, क्योकि जिन सहस्रनाम मे वीतराग-जिन को जो दयाध्वज कहा गया है, वह इसी आधार पर जीवदया को जो वीतराग परिणामरूप सिद्ध करना चाहता है, वह ठीक नही है, क्योकि दया और जीवदया मे वहुत अन्तर है। दया सामान्य शब्द है और जीवदया विशेष। दया से स्वदया का भी ग्रहण हो जाता है परन्तु जीवदया से स्वदया का ग्रहण नही होता, परदया का ही ग्रहण होता है। समीक्षक को हमारे कथन पर सम्यक्प्रकार से दृष्टिपात करने के वाद ही अपने इष्टार्थ को फलित करना था। आगे जो उसका कहना है कि हमने पुण्यभूत जीवदया से पृथक् वीतराग परिणतिरूप जीवदया को मान्य कर लिया है, सो उसका ऐसा मानना ठीक नही है। इसका विशेष खुलासा इसी पृष्ठ मे किया ही है। इसी प्रसग मे समीक्षक ने जो भी कुछ लिखा है वह सव उसका अपना विश्लेपण है, आगम नही। उसमे हमे और विशेष कुछ कहना नही।

त. चर्चा पृष्ठ १०० पर हमारे कथन के उत्तर में उसने जो यह लिखा है कि – "परन्तु इसका यह स्वभावभूत ज्ञानस्वरूप परिणमन यथायोग्य कर्म की क्षपणापूर्वक ही होता है" आदि सो उसका ऐसा लिखना व्यवहार कथन है। परमार्थ यह है कि जव स्वय यह जीव अपने उपयोग मे स्वभाव का आलम्वन कर स्वभावरूप ज्ञानस्वरूप परिणमन करता है, तव कर्म की स्वय क्षपणा होती है। ऐसा इन दोनो का योग है। कोई किसी अन्य के आशय से नही होता, यह वस्तुस्वभाव है। अन्य सव कथन अपरमार्थभूत है।

शंका ३ तीसरे दौर की समीक्षा का समाधान

समीक्षक लिखता है कि "आगम पुण्यरूप जीवदया से पृथक् व्यवहारधर्मरूप जीवदया को भी मान लिया गया है" आदि। सो इसका समाधान यह है कि आगम मे वीतराग शब्द का पर्यायवाची दया शब्द भी आया है, जीवदया नही, क्योकि जीवदया से परजीवो की दया का वोध होता है, जो परसापेक्ष होने से जिसे आगम मे मात्र पुण्यभाव या शुभभाव मे ही गर्भित किया गया है। अतएव उसे वन्ध का ही कारण समझना चाहिये, सवर-निर्जरा का कारण नही।

हमने शुभभावो की जो प्रशस्त राग के साथ व्याप्ति वताई है वह आगम के अनुसार ही वताई है। यथा—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मं विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदे सो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।। १५० ।। समयसार

पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे जो आचार्य अमृतचन्द्र देव ने असयत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानो मे "येनाशन विशुद्धि" इत्यादि तीन श्लोक लिखे हैं, उनमे यह बात स्पष्ट कही गई है कि जितने अश मे राग की हानि है, उतने अश मे उसके बन्ध नही है । विशुद्धि आत्मस्वभाव को सूचित करती है और निज स्वरूप की प्राप्ति बन्ध का कारण नही होती । साथ ही वहा यह भी कहा गया है कि जितने अश मे राग है, उतना उसके बन्ध अवश्य है, क्योकि वह सयोगलक्षी परिणाम को सूचित करता है, इसलिए वह स्वय बन्धस्वरूप होने से बन्ध का कारण भी है ।

आगे इस प्रकरण मे उसने अन्य जितने प्रमाण दिए हैं, वे सब विविधरूप को लिए हुए है । परन्तु उनका आशय एक यह है कि उन सब प्रमाणो को जीवदया के समर्थन मे मानता है । अन्यथा उसे जीवदया के समर्थन मे उन प्रमाणो को नही उपस्थित करना चाहिये था, जिनसे वीतरागता का समर्थन होता है ।

अपने तृतीय दौर के प्रारम्भ मे हमने उपसहार त च. पृ ११०–१११ मे जिन पाच अनुच्छेदो का उल्लेख किया है और उन पर स पृ. २५६–२५७ मे जो पुन प्रतिशकायें उपस्थित की हैं उनका समाधान इसप्रकार है —

प्रतिशंकाओ का समाधान —

(१) हमने अनुच्छेद १ मे लिखा था कि "प्रकृत मे मूल प्रश्न परदया को ध्यान मे रखकर ही है ।" इसपर प्रतिशका करते हुए समीक्षक का कहना है कि वह प्रश्न "परदया अर्थात् पुण्यभाव-रूप जीवदया को ध्यान मे रखकर नही है, अपितु सामान्यरूप से जीवदया को ध्यान मे रखकर ही हैं ।" सो इसका समाधान यह है कि यदि वह जीवदया को सामान्य रूप से स्वीकार करके उसका अर्थ हमारे लिखे अनुसार परदया और स्वदया रूप स्वीकार कर लेता है तो एक प्रकार से उसकी हानि ही है, क्योकि वह पुण्यरूप शुभभाव को भी मोक्ष का साधकतम कारण मानता है और उससे सवर-निर्जरा भी मानता है । सो जीवदया का यह अर्थ करने से उसकी हानि ही है । हमने जो जीवदया का अर्थ परदया करके उत्तर दिया था, वह यथार्थ है । सामान्य व्यक्ति भी यह जानता है कि जीवदया का अर्थ जीवो पर दया करनी चाहिये, यही होता है । तीन दौर तक उसने स्वय यह सवाल नही उठाया कि जीवदया से हम परदया और स्वदया दोनो को ग्रहण करते हैं, किन्तु जब हमने उपसहार करते हुए जीवदया के ये दोनो अर्थ किये, तब वह अपनी समीक्षा मे हमारे अर्थ को स्वीकार करके यह लिखने लगा कि जीवदया पुण्यबन्ध का भी कारण है और सवर-निर्जरा का भी कारण है । धन्य है समीक्षक की यह चतुराई ।

(२) पूर्वपक्ष ने द्वितीय दौर मे जो २० प्रमाण दिये हैं, उनका अर्थ मात्र लिखने के बाद यह कही नही लिखा कि हम जीवदया से स्वभाव को भी ग्रहण करते हैं । इतना अवश्य लिखा

कि "एक अखण्ड पर्याय मे निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनो अश सम्मिलित हैं, अत उससे आस्रव-बन्ध भी हैं और सवर-निर्जरा भी है।" (त चर्चा पृ ११०) सो यह कथन इतना भ्रामक है कि उससे यही फलित होता है कि जिस प्रकार राग आस्रव और बन्ध का कारण है, उसीप्रकार वीतराग भाव भी आस्रव और बन्ध का कारण है। तथा जिसप्रकार वीतराग भाव सवर और निर्जरा का कारण है, उसीप्रकार रागभाव भी सवर-निर्जरा का कारण है, क्योकि उसने ऐसे सामान्य शब्द को रखकर एक अपेक्षा से उसी बात को स्वीकार किया है, जिसका हमने यहा इसी अनुच्छेद मे निर्देश किया है। अन्यथा उसको यह लिखना चाहिये था कि उस पर्याय में जितना प्रवृत्तिरूप अश है, वह परमार्थ से आस्रव-बन्ध का कारण है और जितना निवृत्तिरूप अ श है, उतना सवर और निर्जरा का कारण है। वह पुण्यभूत जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया को सवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण भले ही माने, परन्तु वह प्रवृत्तिरूप अ श होने के कारण सवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण परमार्थ से त्रिकाल मे नही हो सकता। दूसरे पुण्यरूप जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया कोई होती है — ऐसा आगम भी नही है। जीवो मे होनेवाली अदया का अभाव ही जीवदया है, ये दो नही, क्योकि अभाव भावान्तरस्वभाव होता है, ऐसा नियम है। यहा लौकिक जीवदया विवक्षित नही।

(३) समीक्षक क्या मानता है, इसका उसने इस समीक्षा मे जैसा स्पष्टीकरण किया है, वैसा स्पष्टीकरण पूर्वपक्ष द्वारा तीन दौरो मे कही नही किया गया। यदि पूर्वपक्ष ऐसा स्पष्टीकरण कर देता तो हमें कुछ पागल कुत्तो ने नही काटा है, जिससे कि हम पूर्वपक्ष से सहमत न होते। फिर भी समीक्षक जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया को सवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण मानता ही है, जो मात्र सवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण न होकर परमार्थ से आस्रव-बन्ध का ही कारण है, क्योकि उसे आस्रव और बन्ध रूप ही आगम स्वीकार करता है। इसलिए हमारा लिखना उसके द्वारा किसी प्रकार से भी बाधित नही होता।

(४) वह लिखता है कि वह "पुण्य (शुभराग) भावरूप दया को मोक्ष का कारण मानना ही नही है" स पृ २५८ (यदि यह बात सच है तो स पृ २५७) जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्म रूप जीवदया को सवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण नही लिखना चाहिये था, किन्तु वह झमेले में तो है ही इसलिए कभी कुछ लिखता है और कभी कुछ। और जब सामने कठिनाई उपस्थित हो जाती है तो अपने अभिप्राय को बदलकर ऐसा लिखने लगता है कि यह हमारा आशय नही था। इसके लिये हम क्या करें।

(५) इस अनुच्छेद मे वह लिखता है कि "पूर्वपक्ष तो पुण्यरूप जीवदया से पृथक् जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्म के रूप मे इसमे कारणभूत व्यवहारधर्म के रूप मे ही जीवदया को धर्मरूप स्वीकार करता है।" सो उसके इस वक्तव्य से ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह स्वभावभूत निश्चयधर्म और व्यवहारधर्मरूप जीवदया को एकसमान धर्मरूप स्वीकार करता है, किन्तु उसका ऐसा लिखना ही आपत्ति योग्य है। कहा निश्चयधर्म और कहा व्यवहारधर्म, दोनो को एक समान

धर्म मानना ठीक नही है। वह बहाने चाहे जितने करे, परन्तु वह व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म के समान ही धर्म मनवाना चाहता है। पूर्वपक्ष से हमारा मूल विवाद भी इसी विषय मे प्रारम्भ से चला आ रहा है। जहा निश्चय धर्म ससार मे उत्पन्न होकर भी मोक्ष मे भी पाया जाता है, वहाँ पराश्रित व्यवहारधर्म छठवें गुणस्थान तक ही सम्भव है। आगे ध्यान की भूमिका होने से विकल्परूप कषाय का सद्भाव छठवें गुणस्थान के आगे भले पाया जाय, परन्तु विकल्परूप व्यवहारधर्म का व्हा अभाव ही रहता है। समीक्षक का कहना है कि व्यवहारधर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है, सो यह आरोपित उपचरित कथन है। इससे साक्षात् सवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण कौन इसका समर्थन नहीं होता। उसने अपनी मति से अन्य कथन किया है, प्रयोजनीय न होने से उसकी हमने उपेक्षा कर दी है।

तीसरे दौर पर की गई शंकाओं का पुनः समाधान

(१) त चर्चा पृ १११ में हमने जो परमात्मप्रकाश गाथा ७१ के आधार पर धर्म पद का अर्थ शुभभाव किया है, उसमे केवल पुण्यरूप दया का ही अन्तर्भाव नही होता, अपितु व्यवहारधर्म रूप दयाभाव आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योकि पुण्यभाव रूप दया और व्यवहारधर्मरूप दया मे कोई फरक नही है, दोनो एक ही हैं। साथ ही पाचो व्रतो आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

(२) आगे हमारे त च पृ १११ के कथन पर टिप्पणी करते हुए समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "उसे समझना चाहिये था कि परजीवो की दया का विकल्प सम्यग्दृष्टियो और मुनियो का पहले किए गए विवेचन के अनुसार केवल पुण्यभावरूप जीवदया के रूप मे न होकर व्यवहारधर्म रूप जीवदया के रूप मे ही होता है।" सो उसका यह कथन केवल भ्रम उत्पन्न करने के लिए ही है, क्योकि सम्यग्दृष्टि के पुण्यभावरूप जीवदया से भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदया कोई दूसरा परिणाम नहीं है, क्योकि मिथ्यादृष्टि के आगमानुसार जब शुभभाव होता ही नही, कारण कि अध्यात्म आगम मे प्रारम्भ के तीन गुणस्थानो मे तारतम्यभाव से केवल अशुभ परिणाम का ही प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि के पुण्यभाव होता है, इसमे सदेह नही और सम्यग्दृष्टि के भी व्यवहारधर्मरूप पुण्यभाव होता है, इसमे भी सन्देह नही, परन्तु दोनो ही पुण्यभाव परमार्थ से आस्रव और बन्ध के ही कारण होते हैं, सवर-निर्जरा के कारण नही। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्गी के वह व्यवहार से परम्परागत मोक्ष का कारण कहा जाता है।

(३) हमने त च पृ ११२ पर जो समीक्षक के द्वारा उपस्थित किये गये विविध प्रमाणों को लक्ष्य मे रखकर टिप्पणी की है, वह उसके कथनानुसार मिथ्यादृष्टि के पुण्यभाव रूप जीवदया को ध्यान मे रखकर ही की है। यह निष्कर्ष उसने कैसे निकाल लिया ? जब कि उसने जितने भी प्रमाण दिये हैं, उनमे बहुत से प्रमाण ऐसे भी हैं, जो गृहस्थधर्म और मुनिधर्म को ध्यान मे रखकर सग्रहीत किये गये हैं। अत जितना भी व्यवहारधर्म है, वह स्वय पराश्रितभाव होने से परमार्थ से बन्धरूप तो है ही, आस्रव-बन्ध का भी कारण है।

(४) हमने जो कुछ भी पूर्वपक्ष या समीक्षक के कथन को ध्यान मे रखकर लिखा है, वह हमारी दूषित वृत्ति का परिणाम नही है, किन्तु जब वह सम्यग्दृष्टि और मुनि के जीवदया रूप व्यवहारधर्म को निश्चय की कोटि मे रखकर उससे (व्यवहारधर्म से) परमार्थ से सवर-निर्जरा का कथन करता है, तब हमे यही लिखने के लिए बाध्य होना पडता है कि पूर्वपक्ष या समीक्षक सभवत. व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म के समान ही मान रहा है। जहाँ कही सम्यग्दृष्टि के व्यवहारधर्म रूप पुण्यभाव को मोक्ष का कारण लिखा भी है, वह निमित्तपने से लिखा गया है अर्थात् उपचार से लिखा गया है।

(५) प्रवचनसार गाथा ६ और ११ के आधार पर हमने जो भी निवेदन किया है, वह हमने बुद्धिपूर्वक ही किया है। व्यवहारधर्म और व्यवहारधर्म का अश इन दोनो मे क्या अन्तर है, इसका वहा पूर्वपक्ष ने कोई खुलासा नही किया है। इतना अवश्य है कि उस पक्ष ने इतना मान लिया है कि "अशुभ से निवृत्तिपूर्वक होनेवाला शुभभावरूप व्यवहारधर्म एक अपेक्षा से वह सवर–निर्जरा का कारण है।" सो उसका यह कथन उपचार से ही जानना चाहिये, किन्तु इस पैरा मे समीक्षक ने जो कथन किया है, वह पुनरुक्त होने से, अलग से उसपर विचार करना इष्ट नहीं समझा गया। दूसरे उन बातो का उत्तर पहिले ही दिया गया है।

(६) त च पृ ११३ पर जयधवला के "सुह-शुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खया-णुवत्तीदो" इस वाक्य का जो हमने खुलासा किया है, वह यथार्थ है। शुभ परिणाम और शुद्ध परिणाम क्रियावती शक्ति का परिणमन नही है, किन्तु वे दोनो ही परिणाम यहा भावरूप लिये गये हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि स्वभाव के आलम्बन से जो शुद्ध परिणति होती है, वह तो निश्चय से कर्मक्षय का कारण है ही और उपचार से इस शुभ परिणति को भी कर्मक्षय का कारण कहा जाता है। यहा उपचार का प्रयोजन यह है कि शुभ परिणति रागपूर्वक होती है और राग पराश्रित-भाव है, वह ज्ञानी के विकल्प की भूमिका मे अवश्य होता है। यह प्ररूपित करना ही उसका प्रयोजन है। इसलिए परमार्थ से वह आस्रव और बन्धरूप होने से उन दोनो का ही कारण है। समयसारजी मे कहा भी है कि—

रत्तो बंधदि कम्म मुचदि कम्म विरागसपत्तो ॥ १५० ॥

(७) शुभ भाव को यदि वह निर्विवादरूप से परमार्थ से आस्रव-बन्ध का कारण मान लेता तो हमे पचास्तिकाय गाथा १४७ को उपस्थित कर स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नही पडती, किन्तु जब वह शुभभावरूप व्यवहारधर्म को परमार्थ से सवर-निर्जरा का कारण मानता है तो ऐसी अवस्था मे आगम प्रमाण देकर यह सिद्ध करना पड रहा है कि किसी प्रकार का और किसी का व्यवहारधर्म क्यो न हो, वह परमार्थ से एकमात्र आस्रव और बन्ध का ही कारण है, क्योकि वह आस्रव-बन्धस्वरूप है।

(८) समीक्षक ने इस कथन मे जितना कुछ लिखा है, वह मात्र पुनरुक्त होने से उसपर विचार नही किया जा रहा है। इतना अवश्य कहना है कि "अशुद्ध से निवृत्तिपूर्वक शुभ मे प्रवृत्ति

रूप और अन्त मे शुभ से भी निवृत्ति रूप व्यवहारधर्मरूप परिणाम" यह जो वाक्य समीक्षक ने लिखा है, वह वडा ही भ्रामक ज्ञात होता है, क्योकि अशुद्ध परिणाम मे अशुभ और शुभ दोनो परिणामों का अन्तर्भाव होता है, इसलिये अशुद्ध अर्थात् शुभ और अशुभ दोनो परिणामो से निवृत्तिपूर्वक तो शुद्ध परिणाम ही होगा। अशुद्ध से निवृत्तिपूर्वक शुभ परिणाम कैसे होगा, यह समझ के बाहर है, आगम भी ऐसा नही है। देखो प्रवचनसार गाथा १८१।

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसे।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

दूसरे उसमे जो शुभ से भी निवृत्तिरूप व्यवहारधर्म परिणाम लिखा है, वह भी कल्पना मात्र है, क्योकि शुभ से निवृत्तिरूप व्यवहारधर्म नही होता, किन्तु उससे निवृत्तिरूप निश्चयधर्म ही होता है। कदाचित् वह यह कहे कि शुभ से निवृत्ति होकर अशुभ मे भी जीव जा सकता है, सो यह कहने की बात नही है।

(९) समीक्षक का जो यह कहना है कि "शुभभाव और शुद्ध भाव के अतिरिक्त तीसरी जीवदया व्यवहारधर्मरूप भी होती है और उस व्यवहारधर्मरूप जीवदया का ही अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रकार आस्रव और बन्ध के साथ सवर और निर्जरा तत्व मे होता है, शुद्ध भाव रूप जीवदया का नही।" सो आगम तो ऐसा नही है, क्योकि शुभ भाव से भिन्न कोई तीसरा जीवदयारूप व्यवहारधर्म नही है, किन्तु शुभभाव ही व्यवहारधर्म है, चाहे वह जीवदयारूप हो या अन्य किसी प्रकार का क्यो न हो। उसने अन्त मे "शुद्धभावरूप जीवदया का नही।" यह जो वाक्य लिखा है, सो इससे वह क्या कहना चाहता है — यह समझ के बाहर है। शुद्धभावरूप जो स्वदया है, वह तो साक्षात सवर-निर्जरारूप होकर सवर निर्जरा का कारण भी होती है, इसमे अन्य कोई विकल्प भी सभव नही है।

धवल पुस्तक १३ मे करुणा को जो जीवरूप भाव कहा है, उसमे विवक्षा विशेष ही कारण है। उससे कोई जीवदयारूप व्यवहारधर्म जीव का स्वभाव नही सिद्ध हो जायगा। करुणा जीव-स्वभाव है, उसका विशेष खुलासा त. च पृ. ११५ मे किया ही है।

(१०) समीक्षक ने भावसग्रह की "सम्मादिट्ठीपुण्णं" इत्यादि ४०७ सख्याक गाथा उपस्थित कर उसके आधार पर जो पुण्य को सवर-निर्जरा का कारण लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना इसलिये असगत है, क्योकि पुण्य पराश्रित भाव या सयोगीभाव है और मोक्ष जीव का स्वाश्रित परिणाम है। ऐसी अवस्था मे पुण्यभाव मोक्ष का कारण माना जाय, उसका अर्थ है कि मिथ्यात्व सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। हमने जो त च पृ ११५ मे "नय विशेष से यह वचन लिखा है" यह योग्य ही लिखा है। यह दुर्भाग्य की बात है कि समीक्षक वस्तुस्थिति को समझे बिना कुछ भी लिखता रहता है। लगता है कि उसे तत्त्वहानि की चिन्ता नही, अपने पक्ष का पोषण कैसे हो, मात्र इतनी ही चिन्ता है।

(११) उपसहार रूप मे त. च पृ ११६ पर हमने जिन चार विकल्पों का निर्देश किया है उन सभी विकल्पो को समीक्षक ने स्वीकार करके भी उन चारों पर अलग-अलग अभिमत व्यक्त

किया है, वह केवल उसकी अपनी कल्पना मात्र है, क्योंकि इन बातों को वह बारबार लिखता आ रहा है। भाववती और क्रियावती शक्ति क्या है और जीव का वीतरागभाव क्या है? इनको समझने के लिये शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

(१२) त च पृ ११६ पर हमने जो यह लिखा है कि "हमें शुभभावों की अवान्तर परिणतियों का पूरा ज्ञान हो या न हो" इत्यादि। इसपर उसका कहना है कि "वह भी शुभभाव से अतिरिक्त उक्त शुभ-शुद्धभावरूप व्यवहारधर्म को न मानने का ही परिणाम है" इत्यादि। सो उसके ऐसे कथन से मालूम पड़ता है कि वह शुभभाव को दो जाति का मानता है। एक शुभभाव वह जो पुण्यरूप होता है और दूसरा शुभभाव वह जो व्यवहारधर्म होता है। इसके साथ ही वह ऐसे व्यवहारधर्म को भी मानता है जो शुभ-शुद्धभावरूप होता है। हमने आगम मे यह तो पढा है कि शुभभाव के असख्यात भेद होते हैं, परन्तु यह नहीं पढा कि शुभभाव दो जातियों मे भी विभक्त होता है। और साथ ही यह भी नही पढा कि शुद्धभाव स्वाश्रित होते हुए भी व्यवहारधर्म की जाति का होता है। उस पक्ष की उक्त बातो को पढकर ऐसा लगता है कि वह अपने मत की पुष्टि के लिये एक नये आगम की सृष्टि कर रहा है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि मिथ्यादृष्टियो के भी पुण्यभाव होता है, परन्तु जैसे वह आस्रव और बन्ध का कारण माना गया है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि का व्यवहार-धर्म रूप पुण्यभाव भी परमार्थ से आस्रव और बन्ध का कारण माना गया है। समीक्षक कहेगा कि भावसग्रह गा. ४०४ मे सम्यग्दृष्टि के पुण्य को जो ससार का कारण नही कहा है सो "वह इसलिये नही कहा है कि सम्यग्दृष्टि पुण्य करते-करते मोक्ष चला जायगा।" उसका आशय केवल इतना ही है कि सम्यग्दृष्टि के जो पुण्यभाव होता है, वह अल्प स्थिति अनुभाग का आस्रव-बन्ध करनेवाला होता है, तथा उस पुण्य भाव से पापकर्मों का आस्रव-बन्ध न होकर विशेष पुण्य-प्रकृतियो का ही आस्रव-बन्ध होता है, और अनुभाग बन्ध विशेष होता है। सो इसका इतना ही अर्थ है कि सम्यग्दृष्टि का जो व्यवहारधर्म होता है वह भले ही अल्प स्थिति वाला हो, पर है वह परमार्थ से ससार कारण ही।

(१३) समीक्षक अपने को लक्ष्य मे रखकर लिखता है कि "उसने कहीं पर भी यह नही कहा है कि रागभाव बन्ध का कारण नही है तथा यह भी नही कहा है कि रागभाव मोक्ष का कारण है।" सो उसका ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि जब वह सम्यग्दृष्टि के पुण्य को मोक्ष का कारण मान लेता है, तब उसके मत से रागभाव भी मोक्ष का कारण सिद्ध हो जाता है, क्योकि पुण्यभाव रागरूप ही होता है।

उसने दूसरी बात जो यह लिखी है कि "रागांश और रत्नत्रयांश मे मिश्रित अखडभाव को स्वीकार किया है, परन्तु अखण्ड एकत्व नही स्वीकार किया है" सो यह केवल उस पक्ष का कथन मात्र है, क्योंकि जब वह आस्रव-बन्ध तथा सवर-निर्जरा इन दोनो को मिश्रित भाव का कार्य मान लेता है तो मिश्रित भाव मे शुभभाव भी आ जाता है और वह आस्रव-बन्ध का कारण ठहर जाता है, जो युक्तियुक्त नही है तथा आगम भी इसे स्वीकार नही करता। देखो समयसार कलश।

समीक्षक ने त च पृ १०१ का उल्लेख करके जो लिखा है, सो उसका समाधान पहले ही कर आये हैं। पुन उस विषय मे लिखना पुनरुक्ति मात्र है।

समीक्षक ने त च पृ. १०३ पर जो यह लिखा है कि "वह पक्ष केवल पुण्यभावरूप जीवदया को ही नहीं, अपितु व्यवहारधर्मरूप जीवदया के अशभूत पुण्यमय दयामय प्रवृत्ति को भी बन्ध का ही कारण मानता है।" सो उसके इस कथन से ऐसा लगता है कि वह शुद्ध भाव को भी व्यवहारधर्मरूप मानता है। जबकि शुद्धभाव अभेद विवक्षा मे परनिरपेक्ष स्वय आत्मा ही है। पर्यायार्थिकनय की विवक्षा मे भी निश्चय पर्यायरूप ही होता है, व्यवहार धर्मरूप नहीं।

यहां इतना विशेष कहना है कि समीक्षक व्यवहारधर्म को आस्रव-बन्ध का कारण मान करके भी सवर-निर्जरा का भी कारण मानता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह नही है। जहा भी प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनो को आगम मे एक शब्द द्वारा कहा है, वहा उसका व्यवहारधर्म ऐसा विशेष नाम नही रखकर सामान्य शब्द द्वारा ही उसका बोध कराया गया है। इसके लिये तत्वार्थसूत्र अ –९ सू.–२ प्रमाणरूप मे उपस्थित किया जा सकता है। वह सूत्र इसप्रकार है –

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।

व्यवहारधर्म यह शब्द पराश्रित धर्म को ही सूचित करता है, जब कि उक्त सूत्र मे आया हुआ प्रत्येक शब्द न तो पराश्रित धर्म को सूचित करता है और न ही केवल स्वाश्रित धर्म को ही सूचित करता है। समिति आदि मे प्रवृत्तिरूप जितना अश है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है और निवृत्तिरूप जितना अश है, वह सवर-निर्जरा का कारण है। समिति आदिरूप शब्द प्रयोग ऐसा है, जो सामान्य अर्थ का बोधक है।

त च पृ ११७ से १२० तक हमने विविध प्रमाणो के आधार से जितना भी विवेचन किया है, उससे समीक्षक के कथन का समर्थन न होकर हमारे ही कथन का समर्थन होता है, क्योकि उक्त कथन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्यवहारधर्म अर्थात् पराश्रित धर्म एकमात्र आस्रव-बन्ध का ही कारण है और निश्चयधर्म एकमात्र सवर-निर्जरा का ही कारण है। अखण्ड मिश्रित भाव को व्यवहारधर्म कहना, यह मात्र समीक्षक द्वारा अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये मार्ग निकालना ही है।

(१४) हमने त च पृ १२० पर यह लिखा था कि चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक आत्मानुभूति होती ही नही, यह मानना आगम-विरुद्ध है। इसपर समीक्षक का कहना है कि "अशुभोपयोग अधर्म सापेक्ष है तथा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनो धर्मसापेक्ष हैं।" सो पूर्वपक्ष का ऐसा लिखना ठीक नही है, क्योकि आगम मे अशुद्धोपयोग अशुभोपयोग और शुभोपयोग के भेद से दो प्रकार का माना गया है। उनमे से शुभोपयोग या शुभप्रवृत्ति का नाम ही व्यवहारधर्म है। शुद्धोपयोग और धर्म इन दोनो मे व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, धर्म व्यापक है और शुद्धोपयोग

उसका व्याप्य है, क्योंकि स्वाभाविक परिणति का भी स्वभावभूत धर्म मे अन्तर्भाव हो जाता है। शुभोपयोग के विषय मे प्रवचनसार गा ६९ मे लिखा है – जो देव, गुरु और यति की पूजा मे, दान मे, सुशील मे और उपवादमादि मे लीन है, वह आत्मा शुभोपयोगी होता है। व्यवहारधर्म भी इसी का नाम है। यहा अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है, इसका खुलासा करते हुए प्रवचनसार गा १५६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका मे लिखा है –

उपयोगोहि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य सयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यद्यतु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गा. १५५ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखा है –

अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरूपरागः अशुद्ध सोपरागः स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च।

स पृ २६८ मे समीक्षक लिखता है कि "सप्तम गुणस्थान की सातिशयाप्रमत्त दशा से लेकर दशमगुणस्थानवर्ती जीव के उपयोग को शुद्धोपयोग न कहकर शुद्धोपयोग की भूमिका कहने मे हेतु यह है कि इन गुणस्थानो मे भी जीव प्रतिसमय यथायोग्य कर्मों का आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकार का बन्ध करता है, जो बन्ध शुभोपयाग से प्रभावित जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप मनोयोग, वचनयोग और काययोग के आधार पर ही सभव है। इस तरह दशम गुणस्थान तक के जीवो में शुभोपयोग की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। फलत अशुभोपयोग का सद्भाव रहते हुए वहा शुद्धोपयोग का सद्भाव होना असभव ही जानना चाहिये, क्योंकि जीव में दो उपयोग एक साथ कदापि नही होते हैं।"

यह समीक्षक का कहना है। इससे मालूम पडता है कि वह सविकल्प धर्मध्यानरूप शुभोपयोग को दसवें गुणस्थान तक स्वीकार करता है, जबकि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक से ज्ञात होता है कि श्रेणिपर आरोहण करने के पूर्वतक धर्मध्यान होता है और दोनो श्रेणियो मे शुक्लध्यान होता है। यथा –

श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्मध्यान श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यास्यामः।

इससे मालूम पडता है कि शुद्धोपयोग का सद्भाव आठवें गुणस्थान से नियम से पाया जाता है, इसके पूर्व बहुलता से शुभोपयोग होता है और कदाचित् चौथे गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक स्वानुभूति भी होती है (जो एकप्रकार से शुद्धोपयोगरूप ही मानी गई है।) इतनी विशेषता है कि सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही होता है। नयचक्र मे धर्मध्यान के दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं – एक सविकल्प धर्मध्यान और दूसरा निर्विकल्प धर्मध्यान। सविकल्प धर्मध्यान का नाम ही शुभोपयोग

है और निर्विकल्प धर्मध्यान का नाम शुद्धोपयोग भी है। जहाँ कही आगम मे स्वानुभूति या आत्मानुभूति शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे भी शुद्धोपयोग को भिन्न नहीं जानना चाहिये जहा, भी दसवें गुण-स्थान तक धर्मध्यान कहा गया है वहाँ वह कषायाश की अपेक्षा ही कहा गया है।

समीक्षक का स. पृ २३९ मे जो यह कहना है कि "धर्मध्यान मे तो शुभोपयोग ही होता है, साथ ही पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान मे शुभोपयोग ही होता है, उसमे भी शुद्धोपयोग नही होता। अन्यथा वहाँ अथ, व्यजन और योग की सक्रान्ति होना असभव होगा। पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान शुद्धोपयोग भी माना जाये और अर्थ, व्यजन और योग की सक्रान्ति भी मानी जाये, ये दोनो बाते अखण्ड और निर्विकल्प शुद्धोपयोग करते हुए सभव नही है।"

समीक्षक का ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि भावसवर को दृष्टि मे रखकर जो यह लिखा है कि शुद्ध निश्चयनय मे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव ध्येय होता है, अत शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्वन होने से और शुद्ध आत्मस्वरूप रूप होने से शुद्धोपयोग बन जाता है। यथा —

अत्र तु शुद्धनिश्चये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति, शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।

यह भाव सवर का स्वरूप है। इसकी प्राप्ति चौथे गुणस्थान आदि सभी गुणस्थानों मे होती है। अन्यथा स्वभाव का अवलम्वन लिये बिना कर्मों की क्षपणा नही हो सकती। आगम में यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के काल मे स्वानुभूति नियम से होती है। इसी बात को ध्यान मे रखकर प्रवचनसार गा २३७ की तत्वप्रदीपिका टीका मे लिखा है —

असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिस्वरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्वानुभूति रूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।

असयत के यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान और यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूति-रूप ज्ञान क्या करेगा? इसलिये सयमशून्य श्रद्धान-ज्ञान से सिद्धि नही होती।

यह एक ऐसा प्रमाण है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आत्मानुभूति चौथे गुणस्थान मे नियम से होती है और हम यह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं कि आत्मानुभूति यह नाम भेद होने पर भी शुद्धोपयोग ही है और भावसवर भी उसी का नाम है, क्योकि भावसवर के विषय में आचार्यों ने यह स्पष्ट लिखा है कि जिसमे शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के भाव नही होते, उसका नाम भावसंवर है। यथा —

शुभाशुभभावनिरोध संवरः अनगारधर्मामृत, अ २ श्लोक – १

पचास्तिकाय की टीका मे भी यही बात कही गई है।

इसलिये समीक्षक का जो यह कहना है कि दसवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है, सो उसका ऐसा लिखना एकान्त से आगमानुकूल नही है। उसका जो यह कहना है कि अर्थ, व्यजन

और योग सक्रान्ति शुभोपयोग मे ही घटित होती है, शुद्धोपयोग मे नही, सो उसका ऐसा लिखना भी ठीक नही है, क्योंकि आत्माश्रितपने से परवस्तु में इष्ट अनिष्ट बुद्धि के हुए बिना भी उपयोग व योग के बदलने से विषय और परिस्पद का बदलना सम्भव है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान का काल अन्तर्मुहूर्त होने से उपयोग नियम से बदलता है। जितना सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक का काल आगम मे बतलाया है, उतना ही एक उपयोग का काल हो, ऐसा एकान्त नियम नही है, उससे कम है।

दूसरी बात यह है कि पचास्तिकाय मे जो भावसवर का लक्षण किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परवस्तु में इष्टानिष्ट बुद्धि के नही होने पर चतुर्थ गुणस्थान मे भावसवर की प्राप्ति होने मे कोई बाधा नहीं आती। पचास्तिकाय का वह लक्षण इस प्रकार है —

मोह-राग-द्वेष परिणामनिरोधो भावसंवरः। गा. १४२

मोह, राग और द्वेषरूप परिणामो का निरोध होना भावसवर है।

इससे भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भावसवर अर्थात् स्वानुभूति या शुद्धोपयोग चौथे आदि गुणस्थानो मे भी होता है।

यदि वह कहे कि चौथे गुणस्थान मे स्वानुभूति नही होती, सो उसका ऐसा कहना आगमविरुद्ध है, क्योकि चौथे गुणस्थान में स्वानुभूति होती है, इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए प्रवचनसार गाथा २६७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका मे लिखा है —

असयतस्य च यथोदितात्मतत्त्व प्रतीतिरूप श्रद्धानं यथोदितात्म तत्वानुभूतिरूपं ज्ञानं किं कुर्यात्। ततः सयम शून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।

असयत के यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीति रूप श्रद्धान तथा यथोक्त आत्मतत्व की अनुभूतिरूप सयमशून्य ज्ञान, सयम के अभाव मे क्या कर सकता है? इसलिए केवल सयमशून्य श्रद्धान तथा ज्ञान इन दोनो से भी सिद्धि नही होती।

इससे स्पष्ट है कि आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग चतुर्थ आदि गुणस्थानो मे भी सभव है। सातवें गुणस्थान से तो वह नियम से ही होता है।

यद्यपि धवला पु १३ मे आचार्य वीरसेन ने दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान का उल्लेख अवश्य किया है, पर इस पर से कोई यह समझे कि दसवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोगरूप धर्मध्यान ही होता है, सो उक्त कथन का यह आशय नही है, क्योकि जैसा कि हम पहले सकेत कर आये हैं कि धर्मध्यान सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमे से छठवें गुणस्थान तक तो दोनो प्रकार का धर्मध्यान सभव है। पर सातवें गुणस्थान से मात्र निर्विकल्प धर्मध्यान ही होता है। और ऐसा स्वीकार करने पर सभी आगमो मे ध्यान के उत्तर दो भेद स्वीकार कर लेने पर भी एकरूपता बन जाती है। साथ ही निर्विवाद ध्यान के काल मे अर्थ, व्यजन और योग की सक्राति बन जाती है — ऐसा मानने मे भी कोई बाधा नही आती। इतना अवश्य है कि धवला पुस्तक १३ में राग की अपेक्षा दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा है और सर्वार्थसिद्धि आदि मे स्वाश्रितपने की

से होती है और जब स्वभाव के आलम्बन से उपयोग परिणाम होता है, तब उनका अनुभव होना अवश्यभावी है। इसमे हमे अपने विचारो मे सशोधन नहीं करना है, किन्तु अपरपक्ष को ही अपने विचारो मे सशोधन करना है।

हमने तो त. चर्चा पृ १२१ मे शुभोपयोग को परमार्थ से सवर और निर्जरा का विरोधी लिखा है, सो वह ठीक ही लिखा है, क्योकि शुभोपयोग पराश्रित भाव है अर्थात् परलक्षी परिणाम है, इसलिए वह परसयोगीभाव[1] होने के कारण परमार्थ से सवर और निर्जरा का साधक कैसे हो सकता है? अर्थात् त्रिकाल मे नहीं हो सकता। कदाचित् शुभराग को आगम में सवर और निर्जरा का साधक कहा भी है तो वह उपचार से ही कहा गया है, परमार्थ से नहीं। इस प्रसग मे समीक्षक ने अन्य जो कुछ भी लिखा है, वे आगम न होकर उसके मनके विकल्प मात्र हैं। विशेष स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

त च पृ १२२ में मेरे कथन को उद्धृत कर समीक्षक ने जो यह लिखा है कि "प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव के जो असख्यातगुणी निर्जरा आदि कार्य होते हैं, वे सब कार्य करणलब्धि के प्रभाव से ही होते हैं। इतना अवश्य है कि उस करणलब्धि का विकास उस जीव मे शुभोपयोगपूर्वक ही होता है, इसलिए परम्पर्या शुभोपयोग भी उसमे कारण होता है।" सो मालूम पडता है कि पूर्वपक्ष अभी तक यह भी निर्णय नही कर पाया कि शुभोपयोग कहते किसे हैं। शुभोपयोग पराश्रित या परसयोगी भाव है और आत्मस्वभाव के सन्मुख परिणाम उससे भिन्न जाति का है। उसे जैसे शुद्धोपयोग नहीं कह सकते, वैसे उसे शुभोपयोग भी नहीं कह सकते हैं। वह ऐसा उपयोग है, जिसके अनन्तर नियम से आत्मानुभूति होनेवाली है। यह वही परिणाम है, जो असख्यातगुणी निर्जरा का साधक है।

(१५) हमने त च पृ १२२ पर यह लिखा है कि "निश्चय दया वीतराग परिणाम है, वही आत्मा का यथार्थ धर्म है, सराग परिणाम आत्मा का यथार्थ धर्म नही है। इस पर समीक्षक का कहना है कि जीव की क्रियावती शक्ति के परिणामस्वरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी शुभ-शुद्धरूप व्यवहार धर्म के रूप मे यथार्थ ही है, कल्पनारोपित नहीं है। आदि।" सो उसके इस कथन से यह ज्ञात होता है कि वह पक्ष योगप्रवृत्ति को शुभ-शुद्धरूप स्वीकार करके उसे व्यवहारधर्म कहना चाहता है, किन्तु उसका ऐसा लिखना ठीक नही है, क्योकि योगप्रवृत्ति स्वय न शुभ होती है और न ही शुद्ध होती है। आगम मे जो व्यवहारधर्म कहा है, वह मोक्ष की इच्छा से देवादि के प्रति प्रशस्त रागपूर्वक प्रवृत्ति का नाम व्यवहारधर्म है और वह पराश्रितभाव होने से शुभ ही होता है शुद्ध नही, इसलिये वह परमार्थ से आस्रव और बन्ध का ही कारण है, सवर और निर्जरा का नही।

(१६) त. च पृ. १२४ में हमने सम्यग्दृष्टि के शुभभावो के सम्बन्ध मे जो भी लिखा है, उस पर समीक्षक का कहना है कि "यदि उत्तरपक्ष प्रकृत मे पूर्वपक्ष को स्वीकृत पुण्य, व्यवहारधर्म, और निश्चयधर्म को समझने की चेष्टा करता तो उसे यह समझ मे आ जाता कि पूर्वपक्ष का वह

---

१ अनात्मनीन आत्मभाव सयोग.। मूलाचार

` ।।

कथन व्यवहारधर्म से ही सवन्ध रखता है, मात्र पुण्य से उसका कोई सम्बन्ध नही है । ८. ्रा साध्य-
मे मात्र शुभभावो को भी वीतरागता और मोक्ष प्राप्ति का अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृ.
जो शुभ प्रवृत्ति होती है, वह यदि सम्यग्दृष्टि की परिणति है तो वह व्यवहारधर्मरूप कही जाती है
यत वह शुभ प्रवृत्ति होती है, अत वह आस्रव और बन्ध का ही हेतु मानी गई है, यह औदयिकभाव
है । यहाँ हमने क्रियावती और भाववती शक्ति का भेद नही करके विवेचन किया है, क्योकि भाव तो
क्रिया के होने मे लिमित्त मात्र है । यह क्रिया भी कही-कही भाव के होने मे निमित्तमात्र होती है ।
दया और अदया ये जीव के परिणाम हैं, क्रिया नही । इनके निमित्त से क्रिया अवश्य होती है, जिसमे
शुभअशुभ का व्यवहार कर लिया जाता है । वह व्यवहार उपचरित ही । देखो सवार्थसिद्धि
अ. ६, पृ ४ ।

यहाँ उस पक्ष ने जो दया को उपशम, क्षय और क्षयोपशमपूर्वक लिखा है, सो उसका ऐसा लिखना इसलिए सगत नही है, क्योकि एक ओर तो वह उसे व्यवहारधर्मरूप शुभभाव कहता है, जो चारित्रमोहनीय के उदय से होता है और दूसरी ओर वह उसे औपशमिक आदि रूप भी कहता है, यह परस्पर विरोधी कथन है, जिसे आगम के अनुसार स्वीकार नही किया जा सकता । आगम मे सर्वत्र शुभ और शुद्ध भावो मे यही भेद है कि शुभभाव चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को निमित्तकर सम्यग्दृष्टि के होता है और शुभभाव कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम को निमित्त कर चौथे गुणस्थान से होता है ।

चतुर्थ दौर की प्रतिशंका ४ का समाधान

शंका—व्यवहारधर्म निश्चयधर्म मे साधक है या नही ?

धर्म का लक्षण –

"वस्तुस्वभाव का नाम धर्म है, उस स्वभावरूप धर्म की प्राप्ति स्वय आत्माश्रित रत्नत्रय की प्राप्ति से ही होती है, इसलिए उसे अभेद विवक्षा मे निश्चयधर्म भी कहते हैं । द्रव्यानुयोग के एक भेद अध्यात्म मे इस विषय का गहराई से विचार किया गया है । करणानुयोग और चरणानुयोग शास्त्र की प्ररूपणा का आधार भिन्न है । करणानुयोग मे कर्म को निमित्तकर जीव की विविध अवस्थाओ का विवेचन परपरया हेतु वतलाया गया है तथा व्यवहारधर्मरूप शुभ भावो को निश्चयधर्मरूप वीतरागता का और मोक्षप्राप्ति का हेतु बतलाया है" आदि

यह उसका कहना है । आगम मे शुभभाव रूप व्यवहारधर्म को मोक्षप्राप्ति का परपर्या हेतु वतलाया है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि जो सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारधर्मरूप प्रवृत्ति करता है, उसके सम्यग्दर्शन रूप स्वभावभाव को निमित्त कर सवर-निर्जरा होती है और उसके साथ रहनेवाला व्यवहारधर्म यद्यपि आस्रव और बन्ध का ही कारण है, फिर भी सहचर सवधवश या स्वभावभाव का निमित्त होने से वह परम्पर्या मोक्ष का हेतु है, उसमे यह उपचार कर लिया जाता है । रहा मिथ्यादृष्टि का पुण्यभाव, सो वह तो मात्र आस्रव और बन्ध का ही कारण है, इसमे सदेह नही ।

से होती है अन्हीं मानता हो तो उसे यही लिखना चाहिए था। इस प्रसग से एक बात हमे अवश्य अवश्यरु और वह यह कि वह पक्ष स्वय ही व्यवहारधर्म को जब मात्र शुभभाव ही लिख रहा है, ऐसी विनस्था मे उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि शुभभाव तो औदयिक भाव है – ऐसी अवस्था मे वह सवर-निर्जरा का हेतु कैसे माना जा सकता है, क्योकि मोहनीयकर्म जनित जितने भी औदयिक भाव हैं, वे सब स्वय ससाररूप होने से आस्रव-बन्ध के ही कारण हैं।

हमने कही भी शुभभावो को व्यवहार हेतु लिखकर उन्हे कथनमात्र नही कहा है। यह उस पक्ष का हमारे ऊपर केवल आक्षेप मात्र है। जीव के राग भाव यथार्थ हैं, वे कथन मात्र नहीं हैं, परसापेक्ष होने से उन्हें व्यवहारहेतु कहा जाता है, इतना अवश्य है। उसका खुलासा यह है कि जीव ही स्वय पर मे इष्ट या अनिष्ट बुद्धि करके उन्हें उत्पन्न करता है। कर्म के उदयादि परपदार्थ हैं, वे उन्हे उत्पन्न नही करते, फिर भी उनमे से पर के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा व्यवहार घटित हो जाता है, मात्र इसीलिए वे परसापेक्ष कहे जाते हैं।

हमने त च पृ. १२४ से लेकर १२८ तक के पृष्ठों पर जो कुछ लिखा है, वह सब आगम प्रमाणो के साथ ही लिखा है। हमे खेद है कि वह पक्ष वस्तुस्थिति को नही समझ रहा है और अपने कल्पित मतो के आधार पर आगम का विपर्यास करके अपने मत की पुष्टि करता दृष्टिगोचर होता है और चरणाणुयोग शास्त्र मे व्यवहारधर्म की अपेक्षा मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की गई है – ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

रत्नकरण्डश्रावकाचार –

इस शास्त्र मे मुख्यतया से श्रावकाचार का विवेचन किया गया है, क्योंकि श्रावकधर्म आत्मा की प्राप्ति मे निमित्त मात्र है, इसलिये आगम में इसे व्यवहारधर्म के रूप मे स्वीकार किया गया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार के समान मुनिआचार का विवेचन करनेवाला मूलाचार है। उसमे मुख्यता से मुनि-आचार का विवेचन किया गया है। अध्यात्म की पूर्ण प्राप्ति में यह भी निमित्त मात्र है, इसलिये इसकी भी परिगणना व्यवहारधर्म मे की जाती है। यद्यपि अध्यात्मशास्त्र अनुपचरित और अभेद रत्नत्रय का विवेचक आगम शास्त्र है, इसलिये इसकी तो केवल अध्यात्मशास्त्र मे परिगणना होती है और मूलाचार तथा श्रावकाचारो के अनुसार प्रवृत्ति की मोक्षमार्ग मे व्यवहारहेतुता होने से इनकी व्यवहारनय से अध्यात्मशास्त्रो मे परिगणना की जाती है। इसी दृष्टि से इन शास्त्रो को भी अध्यात्मशास्त्रो में परिगणित किया जाता है।

साध्य-साधक भाव —

आगम मे साध्य-साधक भाव का दो दृष्टियों से विचार किया गया है – एक शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से और दूसरा सद्भूत या असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से। शुद्ध निश्चयनय मे स्वभावभूत ज्ञायकस्वभाव एक आत्मा ही साध्य है और वही साधक है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए समयसार कलश में कहा भी है —

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभिप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।। १५ ।।

पूर्ण ज्ञान स्वरूप नित्य जो वह आत्मा है, उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषो के द्वारा साध्य-साधक भाव के भेद से दो तरह का होने पर भी एकरूप ही वह उपासना करने योग्य है ।

इसी वात को स्पष्ट करते हुए समयसार मे भी कहा है —

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणाणिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।। १६ ।।

साधु पुरुष के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य है । सद्भूत व्यवहारनय से ये तीन हैं, तो भी निश्चयनय से इन तीनो को एक आत्मा ही जानो । इसका आशय यह है कि साधु को इन तीन स्वरूप एक आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये ।

यह वस्तुस्थिति है । इसके होते हुए ज्ञानी के जो व्यवहाररत्नत्रय होता है, उसकी प्ररूपणा करते हुए पचास्तिकाय गा. १६० की टीका मे लिखा है कि यद्यपि उत्तम स्वर्ण की भांति शुद्ध जीव कथचित् भिन्न साध्य-साधक भाव के अभाव के कारण स्वय अपने आप भी शुद्ध स्वभाव रूप से परिणमित होता है, तथापि व्यवहाररत्नत्रय निश्चयमोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है ।

आशय यह है कि आत्मा स्वय ही निश्चय रत्नत्रयरूप परिणमति होता है, तथापि असद्भूत व्यवहारनय से व्यवहाररत्नत्रय को उसका सावन (निमित्त) कहा जाता है, क्योंकि इन दोनो मे कालप्रत्यासत्ति देखी जाती है । टीका का वह अश इस प्रकार है —

जात्यकार्तस्वरस्येव शुद्धजीवस्य कथचद्भिन्नसाध्यसाधनभावाभावात्स्वय शुद्ध-स्वभावेन विपरिणममानस्यापि निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनाभावमापद्यत इति ।।१६० ।।

पचास्तिकाय गाथा १५९ और १६१ का भी यही आशय है, क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग के काल मे उस जीव के ऐसे ही प्रशस्त रागभाव का सद्भाव पाया जाता है, जिसमें व्यवहार मोक्षमार्ग का व्यवहार हो जाता है । अत व्यवहार मोक्षमार्ग को निमित्त कहा जाता है और निश्चय मोक्षमार्ग को नैमित्तिक कहा जाता है । इन दोनो में साध्य-साधक भाव का ही आशय है ।

१ निश्चयधर्म –

स्वभावभूत आत्मा की प्राप्ति का नाम ही निश्चयधर्म है । सर्वप्रथम उसकी प्राप्ति स्वभावभूत आत्मा के अवलम्बन से चौथे गुणस्थान में होती है । उसकी प्राप्ति का उपाय यह है कि आत्मा बुद्धिपूर्वक स्वय आलम्बन द्वारा जब स्वभावभूत आत्मा को प्राप्त करने के सन्मुख होता है, तब सर्वप्रथम अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी ४, इन पाँच प्रत्ययो के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और जिस समय जीव के इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसी समय

ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और उसी समय यह आत्मा आत्मानुभूतिपूर्वक स्वरूप मे रमण करने से अशत चारित्रभाव को भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक आत्मा ही रत्नत्रयरूप परिणमित हुआ है, इसलिये निश्चय से एक वही आत्मा साध्य और साधक उभयरूप होने से उपासना करने योग्य आगम मे कहा गया है। यह निश्चयधर्म की प्राप्ति का मार्ग है।

१ व्यवहारधर्म –

अब इस निश्चयधर्म की प्राप्ति के समय व्यवहारधर्म किस रूप मे वर्तता है, इसे स्पष्ट करते हैं। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जिनधर्म की परम्परा को अगीकार करके मोक्ष की इच्छा से वीत-राग देव, द्वादशाग वाणी और वीतराग गुरु की उपासना करने लगता है। साथ ही जिनधर्म के जो प्रारंभिक नियम हैं, उनका भी अनुसरण करने लगता है वही जीव निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्ति करने का अधिकारी आगम मे माना गया है। ऐसे जीव के यद्यपि निश्चयमार्ग की प्राप्ति के काल मे प्रवृत्तिरूप उक्त व्यवहार तो नही होता, फिर भी उस जाति का सस्कार और राग वना रहने से उसमे निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति मे साधनपने का व्यवहार हो जाता है। एक तो इसीलिए व्यवहार मोक्षमार्ग को साधन और निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य कहा है, दूसरे सम्यग्दृष्टि के विकल्प दशा मे उक्त जाति का सस्कार और देव, शास्त्र, गुरु की आराधना आदिरूप परिणाम बना रहने से उस सम्यग्दृष्टि का चित्त विषय कषाय की ओर विशेषरूप से नही झुकता, इसलिये भी उसको निश्चय मोक्षमार्ग का साधन कहा गया है। आगे भी प्रमत्त अवस्था तक इसीप्रकार साध्य-साधन भाव को घटित कर लेना चाहिए। इसके आगे सप्तम आदि गुणस्थानो मे एक निश्चयधर्म की ही प्रवृत्ति रहती है। इतना अवश्य है कि १० वें गुणस्थान तक तत्जातीय राग का सद्भाव होने से उपचार से व्यवहारधर्म कहा गया है। प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म का वहाँ अभाव है।

यह पूर्वपक्ष के कथन को ध्यान मे रखकर सामान्य कथन है। वैसे यहाँ इसका विशेष प्रसग न होने से हमने उसकी विशेष विवेचना नही की है और न ही पूर्वपक्ष के कथन को ध्यान मे लेकर उसका सक्षिप्त उत्तर भी हमने यहाँ दिया है। आगम क्या है, केवल इतना बताना हमारा प्रयोजन रहा है।

शंका ४ के पहले दौर की समीक्षा का समाधान

उत्तरपक्ष के कथन का सार –

पूर्वपक्ष के मूल प्रश्न को ध्यान मे रखकर हमने पूर्व मे जो यह समाधान किया था कि निश्चयधर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि निश्चयधर्म की उत्पत्ति परनिरपेक्ष होने से उसमें अर्थात् उत्पत्ति मे व्यवहारधर्म की सहायता अपेक्षित नही होती। अन्यथा निश्चयधर्म परनिरपेक्ष होता है, यह कथन नही बनता। आगम में जहाँ भी व्यवहारधर्म को साधक कहा गया है, वह निमित्तपने की अपेक्षा ही कहा गया है, जो निश्चयधर्म की प्राप्ति मे गौण

रहता है। यदि कोई भव्य जीव निश्चयधर्मरूप परिणमन करते समय व्यवहारधर्म की अपेक्षा करे तो वह परसापेक्ष होने से निश्चयधर्म ही नहीकहलायेगा।

यहाँ इसकी पुष्टि मे हमने नियमसार की जिन दो गाथाओ को उद्धृत किया था, उनमे से १४ वी गाथा के उत्तरार्द्ध मे पर्यायो को दो प्रकार की बतला करके, उनका स्वरूप निर्देश करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि एक स्व-पर सापेक्ष पर्याय होती है और दूसरी परनिरपेक्ष पर्याय होती है। इनका विशेष स्पष्टीकरण १५ वी गाथा से भी हो जाता है। नर, नारक, तिर्यंच और देव पर्यायो को स्वपरसापेक्ष होने से जहा विभाव पर्याय कहा गया है, वही कर्मउपाधि से रहित स्वभाव के आलम्बन से उत्पन्न हुई पर्यायो को स्वभावपर्याय कहा गया है।

पूर्वपक्ष ने ११ वी गाथा का अर्थ करते हुए भी यही लिखा है कि – "इन्द्रिय रहित और असहाय केवलज्ञानोपयोग तो स्वभाव ज्ञानोपयोग है तथा प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से व्यवहार ज्ञानोपयोग दो प्रकार है।" सो पूर्वपक्ष के द्वारा किये गये इस अर्थ से भी हमारे कथन का ही समर्थन होता है, क्योकि हमारा यही तो कहना है कि स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष होने से दूसरे को निमित्त किए विना ही उत्पन्न होती है। परमार्थ से देखा जाय तो व्यवहारधर्म उसका साधक नही माना जा सकता।

आगम मे जहाँ भी व्यवहारधर्म को साधक और निश्चयधर्म को साध्य कहा गया है, वह केवल असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा गया है। पूर्वपक्ष को चाहिए कि वह नयविभाग को समझकर परमार्थ से दिये गये हमारे उत्तर के खण्डन की चेष्टाएँ न पकडकर जो यथार्थ है, उसे स्वीकार करे। आगे उस पक्ष ने हमारे १३ वी और १४ वी गाथा के अर्थ के प्रसग से जो आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, उनमे कोई सार नही है। यथा –

(१) हमने अपने अर्थ में "केवल" शब्द का अर्थ "मात्र" नही किया है। उसका केवल-दर्शनोपयोग करने मे हमे कोई आपत्ति नही है। उक्त गाथा का हमने जो अर्थ किया है, उससे भी यही अर्थ फलित होता है। उसमे कोई वाधा नही आती।

(२) जब कि १३ वी गाथा मे दर्शनोपयोग के स्वभावपर्याय और विभावपर्याय – ये दो भेद करके यह वतलाया गया है कि जो पर्याय इन्द्रियरहित और असहाय अर्थात् पर की सहायता से रहित होती है, वह स्वभावपर्याय है। इस प्रकार इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा १३ के उत्तरार्द्ध का गाथा १४ के उत्तरार्द्ध से निश्चित सम्बन्ध है। हमारा यही कहना है कि जितनी भी स्वार्थपर्यायें होती हैं, वे सव अन्य निरपेक्ष ही होती हैं। गाथा १३ के उत्तरार्द्ध मे स्वभावपर्याय के लिए इन्द्रियरहित और असहाय दो पद आये हैं, सो इन पदो से भी वही अर्थ फलित होता है। गाथा १४ के उत्तरार्द्ध मे जो निरपेक्ष पद आया है, सो वह भी परनिरपेक्ष के ही अर्थ मे आया है।

मालूम पडता है कि वह पूर्वपक्ष स्वभावपर्याय को भी स्वपर सापेक्ष मानता है और वह एक ऐसी तीसरी प्रकार की पर्याय मानता है, जिसके होने मे निमित्त होता ही नहीं। उसे वह षड्गुण हानि-वृद्धिरूप कहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पक्ष अपनी मान्यता की धुन मे ही इन दोनो गाथाओ के उत्तरार्द्ध मे सम्बन्ध का निषेध कर रहा है। इसे कहते हैं देखते-देखते आँखो मे धूल झोकना।

स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष होती है, इसके समर्थन मे हम उसी नियमसार का एक दूसरा प्रमाण भी उपस्थित कर देना चाहते हैं। यथा —

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विवाहपज्जायो॥ २८॥

तात्पर्य यह है कि अन्य निरपेक्ष जो पर्याय होती है, वह स्वभाव पर्याय कहलाती है। तथा स्कधरूप जो पर्याय होती है, वह विभाव पर्याय कहलाती है।

यहा जो हमने गाथा २८ का उक्त प्रमाण उपस्थित किया है, उसमे स्पष्टरूप से स्वभाव-पर्याय को परनिरपेक्ष कहा गया है। यह पुद्गलपरमाणु की शुद्धपर्याय है। इसमे कालद्रव्य निमित्त तो अवश्य है पर इस पर्याय के होने मे उसको इष्ट-अनिष्ट की दृष्टि से उसे स्वीकार नही किया गया। पुद्गलपरमाणु की यह अर्थपर्याय है, जो अति सूक्ष्म है और षड्गुण हानि-वृद्धिरूप है। जीव की भी जो स्वभावपर्याय होती है, वह भी परनिरपेक्ष ही होती है। इतना अवश्य है कि वह परनिरपेक्ष इसलिए कहलाती है, क्योकि एक तो वह स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होती है, दूसरे उसमें भी निमित्त अविवक्षित रहता है। अविवक्षित कहो या गौण कहो दोनो का अर्थ एक ही है।

आगे पूर्वपक्ष ने उक्त गाथाओ मे पठित ज्ञान को लक्ष्य मे लेकर जो कुछ कथन किया है, वह पूरी तरह से आगमानुकूल न होने पर भी, प्रकृत मे अनुपयोगी होने से उसके विषय मे हम यहा कुछ नही लिख रहे हैं।

शंका ४, के दूसरे दौर की समीक्षा का समाधान

समीक्षक ने व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक है या नही, यह शका उपस्थित करके दूसरे दौर में व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक है, इसके समर्थन मे जितने भी प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे सव असद्भूत व्यवहारनय से ही उपस्थित किये हैं। उससे निश्चयधर्म की उत्पत्ति हो इसे परमार्थ से नही कहा जा सकता। इसी वात को स्पष्ट करते हुए हमने कई प्रमाण दिये हैं। उनमे एक प्रमाण नयचक्र का भी है। वह प्रमाण इसप्रकार है —

ववहारदो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु त गउण सहावमाराहणाकाले॥ ७७॥

उसका अर्थ हमने यह किया था कि व्यवहार से बन्ध होता है और स्वभाव का आश्रय लेने से मोक्ष होता है। इसलिए स्वभाव की आराधना के काल मे अर्थात् मोक्षमार्ग मे व्यवहार को गौण करो।

दशा मे स्वभाव के अवलम्बन से शुद्धोपयोग होना स्वभाव है और इसलिए पडितजी ने यह उपदेश किया है कि "शुभोपयोग भए निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय। ऐसा मुख्यता करि कही शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है" इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि शुभोपयोग पराश्रित भाव होने से मात्र आस्रव और बध का ही कारण है और शुद्धोपयोग परनिरपेक्ष होने से मात्र सवर और निर्जरा का ही कारण है।

मैने त च पृ १३२ पर यह लिखा है कि वस्तुत मोक्षमार्ग एक ही है और उसके समर्थन मे मोक्षमार्गप्रकाशक पृ ३६५-३६६ (दिल्ली सस्करण) का कथन उद्घृत किया है, इस पर उस पक्ष का कहना है कि "दो मोक्षमार्गों का निषेध करना इस रूप मे विवाद की वस्तु नहीं है। यदि कोई ऐसा माने कि एक व्यक्ति तो व्यवहार मोक्षमार्ग निरपेक्ष निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है और दूसरा व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्ग निरपेक्ष व्यवहार मोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है, सो उसका ऐसा मानना मिथ्या है" आदि। सो इस सबध में हमारा कहना यह है कि जब दो मोक्षमार्ग ही नही हैं जिसे पूर्वपक्ष भी स्वीकार करता है, ऐसी अवस्था मे तत्वज्ञ कोई ऐसा क्यो मानेगा कि व्यवहार मोक्षमार्ग निरपेक्ष निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, या निश्चय मोक्षमार्ग निरपेक्ष व्यवहारमोक्षमार्ग से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि मोक्षमार्ग तो एक ही है जो निश्चयरूप होता है, व्रतादिरूप जो अन्य क्रियाकाण्ड होता है या वह प्रशस्त देवादि की उपासना-रूप परिणाम होता है, वह आत्मस्वरूप न होने से, वास्तव मे मोक्षमार्ग तो नहीं ही हो सकता। केवल सहचर सबधवश निमित्तपने की विवक्षा मे उसमे मोक्षमार्गपने का उपचार अवश्य कर लिया जाता है। इसलिये जो निश्चयमोक्षमार्ग आगम मे स्वीकार किया गया है, वह परनिरपेक्ष ही होता है, क्योकि वह जीव का सहज स्वरूप है। जिसे वह पक्ष व्यवहार मोक्षमार्ग कहता है, वह जीव का सहज स्वरूप नही है, इसलिये उसमें निश्चय मोक्षमार्गपना घटित नही होता — ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

त च पृ १३३ पर प्रवचनसार के जिस वचन को हमने उद्घृत किया है, उसके सबध मे उस पक्ष का कहना है कि उस वचन मे जो कुछ भी कथन किया गया है, उसे हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके बाद उस पक्ष ने जो यह लिखा है कि "वह मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चय-मोक्षमार्ग का ही साक्षात् कारण होता है" सो उस पक्ष का यही कहना भूल भरा है। उत्तरपक्ष द्वारा दिये गये उक्त उद्धरण के अनुसार वस्तु को समझने मे उसकी कोई भूल नही है। जहाँ वह पक्ष यह मानता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साक्षात् कारण है, वहाँ उत्तरपक्ष का आगम के अनुसार कहना यह है कि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साक्षात् कारण तो नही ही है, मात्र उसमे निश्चयमोक्षमार्ग के कारणपने को व्यवहार अवश्य कर लिया जाता है, क्योंकि जब व्यवहार मोक्षमार्ग नाम की कोई वस्तु ही नही है, केवल उपचार मात्र है, ऐसी अवस्था मे उसे निश्चयमोक्षमार्ग का साक्षात् कारण कैसे कहा जा सकता है अर्थात् नही ही कहा जा सकता।

शंका ४ के तीसरे दौर की समीक्षा का समाधान

वह पक्ष और समीक्षा के लेखक ये दोनो एक ही हैं, ऐसी अवस्था मे द्वितीय और तृतीय दौर तो समीक्षा मे आते ही नही, उन्हे प्रतिशका ही मानी जा सकती है। उस पक्ष ने इसे स्वीकार भी किया है, अतएव यह चौथा दौर भी समीक्षा न होकर प्रतिशका ही हो सकती है। हमने इसीरूप मे उसे स्वीकार करके उसका समाधान किया है।

१ व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म :—

हमने तृतीय दौर मे व्यवहारधर्म निश्चयधर्म मे साधक नही है, जो यह कथन किया है, वह परमार्थ का ध्यान मे रखकर ही किया है। व्यवहार से आगम मे व्यवहारधम को निश्चयधर्म का साधक अवश्य कहा गया है, पर वह मात्र उपचार कथन है।

हमारे त. च पृ १४४ पर उपसहार शीर्षक के अन्तर्गत हमने जो यह लिखा है कि "व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का असद्भूत व्यवहारनय से साधक होता है, वह ठीक ही लिखा है, क्योकि व्यवहारधर्म पराश्रित भाव है, जो स्वभाव की प्राप्ति मे निश्चयधर्म का परमार्थ से साधक नही हो सकता। दूसरे व्यवहारधर्म स्वभावभूत आत्मा मे सद्भूत नही है, इसलिए भी व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का सद्भूतव्यवहारनय से साधक है, ऐसा जो उस पक्ष का कहना है, वह यथार्थ नही है।

जबकि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की प्राप्ति के काल मे ही होता है, ऐसी अवस्था मे उसे निश्चयधर्म की उत्पत्ति मे सहायक कहना उपचारमात्र है। निश्चयधर्म की प्राप्ति स्वभावभूत आत्मा के अवलम्बन से ही होती है, व्यवहारधर्म के अवलम्बन से नही, ऐसा आगम का नियम है। वह पक्ष अपनी हठ को छोडकर जितने जल्दी इस तथ्य को समझेगा, उतना ही धर्म और समाज के हित मे होगा।

स पृ २८९ मे विवेचन शीर्षक के अन्तर्गत् हमने नियमसार की गाथाओ का जो स्पष्टीकरण किया था, वह यथार्थ है। आगम मे कही भी तीन प्रकार की पर्यायें नही कही गई हैं। सभी पर्यायें दो ही प्रकार की होती हैं – स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष होती है और विभावपर्याय स्व-पर सापेक्ष होती है। यहाँ परसापेक्ष का अर्थ पर मे इष्टानिष्ट बुद्धि है और परनिरपेक्ष का अर्थ परमे उपेक्षाबुद्धि है। कार्य-कारण भाव मे यह अर्थ सर्वत्र जानना। नियमसार की उक्त तीन गाथाओ (१३, १४, २८) मे इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। गाथा २८ मे कहा गया है – स्वभावपर्याय अन्य निरपेक्ष होती है और पुद्गल स्कध जो कि स्व पर सापेक्ष होता है, उसे विभावपर्याय कहा गया है। वहाँ इतना स्पष्ट होने हुए भी पूर्वपक्ष अपनी हठ को नही छोडना चाहता, इसका हमे खेद है। असद्भूत व्यवहारनय का विषय जितना भी व्यवहारधर्म होता है, उसका आत्मस्वभाव की अपेक्षा पर होने के कारण स्वभावभूत आत्मा में असद्भूत होने से उसे आत्मा का कहना उपचरित ही होगा। जो विकल्परूप होने से उपचरित ही होता है।

आगे स्वय उस पक्ष ने यह स्वीकार किया है "व्यवहारधर्म का मोक्ष के साथ जो साध्य-साधक भाव है, वह अयथार्थ अर्थात् उपचरित सत् है।" सो उसके इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पक्ष व्यवहारधर्म को स्वभावभूत आत्मा का कहना इसे मात्र कल्पना का विषय मानता है, अन्यथा वह ऐसे सम्बन्ध को अयथाथ अर्थात् उपचरित सत् कभी भी नही लिखता। शेष सब कथन उसका अपना विकल्प मात्र है।

हमने जो व्यवहारधर्म को जीव का परिणाम नही माना है, वह स्वभावभूत जीव की अपेक्षा से ही नही माना है, क्योंकि शुद्धनय की विवक्षा मे स्वभावभूत जीव को ही स्वानुभूति को उसका विषय माना गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

निश्चयधर्म की उत्पत्ति स्वभाव के आलम्बन से ही होती है, इसलिए व्यवहारधर्म निश्चय-धर्म की उत्पत्ति मे अकिंचित्कर है, ऐसा यदि माना जाय तो इसमें क्या आपत्ति है?

(२) त च पृ. १४३ के आधार पर जो चर्चा चली है, उसमे उस पक्ष का यह कहना कि "व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप व्यवहारधर्म निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्म की उत्पत्ति में निमित्त (सहायक) रूप से साधक है।" सो यह कथन असद्भूत व्यवहारनय से ही आगम मे स्वीकार किया गया है। फिर भी वह पक्ष निश्चय और व्यवहार दोनो धर्मों के साध्य-साधक भाव को सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानता है, यह उसकी भूल है, क्योकि निमित्त-नैमित्तिक सबध दो मे होता है। इस अपेक्षा से उसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानना सगत नहीं माना जा सकता।

स पृ २९२ पर उस पक्ष ने समयसार के अनेक प्रमाण उपस्थित कर जिन बातों का निर्देश किया है, उनमे से मुख्यरूप से विचारणीय गाथा ८७ है। गाथा ८७ में जो मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति को जीवभाव कहा गया है, वह जीव की अज्ञानदशा की अपेक्षा ही कहा गया है, स्वभाव-भूत जीव की अपेक्षा से नही। जैसे ज्ञानादिगुण जीव मे सदा काल पाये जाते हैं, अत वे भेद विवक्षा मे जीव के सद्भूत व्यवहारनय से कहे गये हैं, उसी प्रकार पराश्रित व्यवहारधर्म भी जीव मे भेद विवक्षा मे जीव के यदि सदाकाल पाया जाता तो उसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानने मे कोई बाधा नही आती। पर जिस प्रकार पापभाव को छोडकर जीव क्रम से स्वभावधर्म को प्राप्त होता है, उसी प्रकार व्यवहारधर्म के छूटने पर जीव को स्वभावधर्म की प्राप्ति होती है। फिर भी यदि पूर्वपक्ष राग-द्वेष और मोह को जीव के सद्भूत व्यवहारनय से मानना इष्ट समझता है तो उसे पापभाव को भी सद्भूत व्यवहारनय से जीव का मान लेना चाहिए, क्योकि दोनो भी राग-द्वेष और मोह के परिणाम हैं।

यद्यपि यह हम मानते हैं कि अज्ञानभाव के कारण जीव भी स्वय राग-द्वेष-मोह रूप परिणमता है, कम के उदय से वह राग-द्वेष मोह रूप नही परिणमता, क्योकि कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है। फिर भी मोक्षमार्ग मे जो उनको परभाव कहा गया है, वह स्वभावभूत आत्मा की प्राप्ति की विवक्षा मे ही कहा गया है। इसलिए मोक्षमार्ग मे व्यवहारधर्म को जीव का कहना यह असद्भूत व्यवहारनय से ही सगत प्रतीत होता है, सद्भूत व्यवहारनय से नहीं। ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसके लिए विशेषरूप से देखो जैनतत्त्व मीमासा पृ २५०-२५१ आदि।

उस पक्ष ने त च. पृ १३४ पर जो प्रमाण दिये हैं, उनमे एक प्रमाण आलापपद्धति का भी दिया गया है। उसमे यह स्पष्ट कहा गया है कि "व्यवहारनय भेद को विषय करता है। भेद विवक्षा में एक ही वस्तु जिसका विषय है, वह असद्भूत व्यवहार हैं। प्रमाण इस प्रकार है —

"व्यवहारो भेदविषयः, एक वस्तु विषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूत व्यवहारः।"

यहा वह यह कह सकता है कि व्यवहारधर्म प्रशस्त रागरूप आत्मा की परिणति है, इसलिए उसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय मानने में क्या आपत्ति है? समाधान यह है कि व्यवहारधर्म पराश्रितभाव है और निश्चयधर्म आत्माश्रित भाव है। इस अपेक्षा आत्माश्रित निश्चयधर्म से पराश्रित व्यवहारधर्म भिन्न वस्तु सिद्ध हो जाने के कारण उसे आत्मा का कहना असद्भूत व्यवहार-नय से ही सिद्ध होता है, सद्भूत व्यवहारनय से नही।

उस पक्ष ने त. च पृ १३४ में जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे सब हमें स्वीकार हैं। उन्हे अस्वीकार कौन करता है? मात्र नय विभाग से उनकी स्थिति पर विचार किया जाना है तो उस पक्ष को उसमे आपत्ति नही होनी चाहिए। दु ख है कि आगम के आशय को ग्रहण करता नही और मनमानी टीका करने लगता है। इसे उसका दुस्साहस ही कहा जायगा।

यह तो उस पक्ष को ही देखना चाहिए कि जब खानिया में तत्वचर्चा चली थी, तब उसके प्रथम दो दौरो तक ही उसके सहयोगी अन्य विद्वानो का सहयोग क्यो बना रहा और आगे तीसरे आदि दौरो मे उन्होंने क्यो अपने को अलग करके मौन धारण कर लिया और क्यो अकेले प. वशीधरजी पर छोड दिया, फिर भी अपने व्यक्तिगत वडप्पन को बनाये रखने के लिए अपने मनो-कल्पित विचारो को आगम का रूप देकर कुछ भी लिखते रहना यह उसके हठ का ही परिणाम है। दु ख है कि फिर भी वह चेतता नही और वस्तुस्थिति को समझकर अपने विचारो को वदलता नही। यह मूलसघ के प्रतिस्थापक श्रद्धेय कुन्दकुन्दाचार्य की जिनवाणी का अपलाप करने के सिवाय उसे और क्या कहा जायगा? इसका उस पक्ष को ही विचार करना है।

हमने इसी प्रसग को लेकर व्यवहारधर्म को स्वभावभूत आत्मा के धर्म होने का निषेध किया है, वह केवल इसीलिए ही किया है कि वह पराश्रित भाव है और स्वाश्रित भाव का प्रतिपक्षी होने से वह आत्मा का निजधर्म नही हो सकता। जैसा कि आ अमृतचद्रदेव ने पुण्यपाप अधिकार मे गाथा १४३ की टीका करते हुए लिखा है।

शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ, तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।

शुभ मोक्षमार्ग और अशुभ बन्धमार्ग प्रत्येक केवल जीवमय और पुद्गलमय होने मे अनेक है। अनेक होने पर भी केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग के आश्रितपने मे आश्रय के अभेद से कर्म एक है।

श्री जयसेनाचार्य ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है —

यद्यपि व्यवहारेन भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति ।

यद्यपि व्यवहार से भेद हैं, तथापि निश्चय से शुभ और अशुभ कर्म मे भेद नही है ।

यहा कर्म शब्द से द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनो को ग्रहण किया गया है । जिसे हम व्यवहारधर्म कहते हैं, वह भी बन्धमार्ग के आश्रित होने से जीव का निजभाव सिद्ध न होकर परभाव ही सिद्ध होता है । और इसलिए निश्चयनय की विवक्षा मे स्वभावभूत जीव का निश्चयधर्म सिद्ध न होने से उसे असद्भूतव्यवहारनय से ही आगम मे स्वीकार किया गया है । यहा उस पक्ष ने घट का उदाहरण देकर जो अपने अभिप्राय को पुष्ट करना चाहा है, उससे उक्त अभिप्राय इसलिये पुष्ट नही होता है; क्योकि उस उदारहण से जीव की व्यवहारपर्याय और स्वभावपर्याय के होने मे कारणभेद आश्रयभेद आदि से अन्तर पडता है, वह स्पष्ट नही होता । यहा उस पक्ष ने अन्य जितना कुछ भी लिखा है, वह पिष्टपेषण मात्र होने से उस पर हम अलग से विचार नही कर रहे हैं ।

यहा स पृ २९७ पर पूर्वपक्ष ने आगम के लौकिक और आध्यात्मिक ये दो भेद किये हैं, वह प्रकृत मे समझ के बाहर है । आगम एक ही प्रकार का होता है और वह जिनवाणी के रूप मे माना गया है । जितनी भी जिनवाणी है, प्रयोजन के अनुसार आध्यात्मिक ही होती है । जो वचक पुरुषो द्वारा लिखा गया है, उसे जिनागम नही कहा जा सकता, चाहे कल्पना मे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक । प्रवचनसार मे इसी बात को स्पष्ट करते हुए आ कुन्दकुन्द देव कहते हैं ।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा णमो ते तेसिं ।। ८२ ।।

जितने भी अरहत हैं उन्होंने जिस विधि से कर्मों का क्षय किया, उसी विधि से उपदेश देकर वे निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो ।

इस उपदेश मे चारो अनुयोग गर्भित हैं । इसलिए उन्हे लौकिक वाणी न समझकर आध्यात्मिक वाणी ही समझनी चाहिए, क्योकि सभी आगमो के अध्ययन का फल वीतरागता है ।

उस पक्ष के उक्त कथन को पढकर ऐसा लगता है कि उसने आगम के अन्तर्गत जैन ऋषियो को छोडकर अन्य द्वारा रचित ग्रन्थो को भी आगम में गर्भित कर लिया है, पर उसे आगम कहना ठीक नहीं ।

यहा उस पक्ष ने स. पृ २९८ मे चारो अनुयोगो के विषय मे जो लिखा है, उसके लिये हम इतना ही कहेगे कि रत्नकरण्डश्रावकाचार मे उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, वहा से उसे जान लेना चाहिये ।

यहा पर स पृ २९९ पर उस पक्ष मे रत्नकरण्डश्रावकाचार के आधार पर जो कुछ लिखा है, वह उसकी बुद्धि की कल्पना मात्र है । वस्तुत करणानुयोग का स्वरूप द्रव्यानुयोग से भिन्न ही है, क्योकि षट्खडागम आदि ग्रन्थो का विवेचन चार गति आदि मार्गणस्थानो और गुणस्थानो के आधार

से ही हुआ है, जबकि द्रव्यानुयोग में गुणस्थान और मार्गणास्थानो के भेदों को गौण किया गया है, इसलिये धवलादि ग्रन्थो का अन्तर्भाव करणानुयोग मे ही होता है, द्रव्यानुयोग मे नही। द्रव्यानुयोग का विषय छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय और जीवादि नौ पदार्थ आदि के स्वरूप का निरूपण करना है तथा करणानुयोग गुणस्थान मार्गणास्थान आदि के आश्रय से प्रतिपादन करता है।

कहना चाहिये कि उसकी समझ अनूठी है। वह ही केवल वस्तुविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान को समझा है। लगता है इसी आधार पर वह वस्तुविज्ञान के अनुसार समर्थ उपादान के कथन को स्वीकार न करके अपनी मति के अनुसार उपादान का लक्षण स्वीकार करके प्रेरक निमित्तो के आधार पर जीवादि पदार्थों को पराधीन बनाने में अपनी इति-कर्तव्यता समझता है। यह है उसकी वस्तुविज्ञान सम्बन्धी रहस्यपूर्ण जानकारी का उद्घाटन और उसकी यह समझ कि पराश्रित धर्म ही अध्यात्म मे जीव का सद्भूत व्यवहार होता है, यह है उसकी अध्यात्मविज्ञान सम्बन्धी रहस्यपूर्ण जानकारी का उद्घाटन।

(१) आगे उस पक्ष ने साध्य-साधक भाव के सम्बन्ध मे अपनी मति के अनुसार उत्तरपक्ष की जिन मान्यताओ का उल्लेख किया है, वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि व्यवहारधर्म के विषय मे आगम के अनुसार उत्तरपक्ष यह मानता है कि अशुभ भाव से निवृत्ति और शुभभाव में प्रवृत्ति रूप जीव को मन-वचन-काय-प्रवृत्तिपूर्वक जो भी परिणाम होता है, उसे व्यवहारधर्म कहते हैं। जैसा कि द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥ ४५॥

संक्षेप में अर्थ पूर्व में दिया ही है।

(२) जिस समय निश्चयधर्म की प्राप्ति होती है, उस समय से लेकर जितनी बाह्य अहिंसादि व्रतरूप परिणाम मन, वचन, काय की प्रवृत्तिपूर्वक होता है, उसका नाम ही व्यवहारधर्म है। इसके द्वारा निश्चयधर्म की प्रसिद्धि होती है, इसलिए उपचार से इसे निश्चयधर्म का साधक भी कहा जाता है। यह आगमानुसार उत्तरपक्ष की मान्यता है, अत उस पक्ष ने जो यह लिखा है कि "उत्तरपक्ष की दूसरी मान्यता यह है कि व्यवहारधर्म जीव के लिए निश्चयधर्म की प्राप्ति होने में किंचित्कर न होकर अकिंचित्कर ही बना रहता है।" यह उसका कहना कल्पना मात्र है। उत्तरपक्ष जिस रूप मे व्यवहारधर्म को साधक मानता है, उसके स्थान मे अपने मन गढन्त कथन द्वारा उसका अपलाप नही करना चाहिये, क्योकि उत्तरपक्ष मानता है कि व्यवहारधर्म वह है जो पराश्रित होकर भी शुभ परिणतिरूप होता है। इस अपेक्षा वह अकिंचित्कर है, सर्वथा अकिंचित्कर नही होता है, पर वह स्वभावधर्म को स्वय उत्पन्न करने मे असमर्थ है।

(३) उत्तरपक्ष निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार करता है। उसकी पुष्टि आगम से भी होती है, इसलिए यदि वह पक्ष निश्चयधर्म की प्रसिद्धि मे व्यवहारधर्म को असद्भूत व्यवहारनय से प्रयोजनीय मानता है तो यह मानना आगमानुसार ही है।

दलील का समर्थन करता है, अत आगम यही मिलता है कि जब मिट्टी स्वय भीतर से घटरूप परिणमन के सन्मुख होती हैं, तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न निमित्त मात्र होते हैं ।-यथा—

यतः मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्डचक्रपौरुषप्रयत्नादि निमित्त-मात्रं भवति ।

वह पक्ष कहता है कि "निश्चयकारणरूप मिट्टी मे घटपर्याय से अव्यवहित पूर्वपर्यायरूप कुशूलपर्याय का विकास हो जाने पर भी यदि-असद्भूत व्यवहारकारणरूप कुम्भकार उस अवसर पर अपना तदनुकूल क्रियाव्यापार रोक देता है तो उस मिट्टी मे तब उस घटरूप कार्य की उत्पत्ति भी रुक जाती है, आदि ।" सो समीक्षक का यह कहना वालको का खेल जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि तब यह कहना चाहिये कि उस समय वह मिट्टी भीतर से घट होनेरूप परिणाम के सन्मुख न होने से उसके व्यवहार से अनुकूल कालप्रत्यात्तिवश व्यवहार से कुम्भकार का योग और विकल्परूप योग नहीं मिलता है । आगम भी इसी बात को स्वीकार करता है, क्योंकि समर्थ उपादान के कार्य और उसके निमित्त मे समव्याप्ति होती है । अविनाभाव सम्बन्ध दो प्रकार का होता है – क्रम अविनाभाव सम्बन्ध और दूसरा समव्याप्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध । उपादान-उपादेयभाव मे क्रम अविनाभाव सम्बन्ध होता है । देखो परीक्षामुख सूत्र अ २ । निमित्त नैमित्तिक भाव मे सम व्याप्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध होता है । देखो समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका या कर्म शास्त्र का उदय प्रकरण ।

यहाँ अपने अन्तिम पेज में जो निश्चय उपादान की बात कही है, वही भेदविवक्षा मे सद्भूत व्यवहार कारण माना गया है । यही इस समीक्षा का समाधान है । आशा है इस समाधान पर व्याकरणाचार्यश्री अवश्य ध्यान देने की कृपा करेंगे । समर्थ व्यवहारनय का यह अर्थ नही है कि उसके आधार पर आगम मे स्वीकृत किसी भी समर्थ उपादान के खण्डन के लिए कल्पित निमित्त को किसी भी कार्य का मुख्य कर्ता मानकर उसका (समर्थ उपादान का) निरसन नहीं किया जाय । घी के निमित्त से यदि घडे को घी का घडा कहा जाता है तो जैसे घडा घी का नहीं हो जाता उसी प्रकार यदि विवक्षित कर्म के उदय आदि से जीव की विवक्षित पर्याय को औदयिक आदि कहा जाता है तो वह पर्याय कर्मकृत नहीं हो जाता । अन्यथा द्रव्य का जो यह लक्षण उपलब्ध होता है—"उत्पाद व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् । सद्द्रव्यलक्षणम्" वह नहीं बन सकता । लौकिक व्यवहार को चलाने के लिये आगम मे बाह्य निमित्त को स्वीकार करके ज्ञानमार्ग पर आरुढ होने के लिए उसका निषेध ही किया गया है । पर कोई बाह्य निमित्त को स्वीकार करके उसके आधार पर प्रमाणदृष्टि से स्वीकृत समर्थ उपादान का निषेध कर असमर्थ उपादान के आधार पर कार्य सिद्धि करके इसे ही अनेकान्त मानकर सामान्य जनता को पथभ्रष्ट करके रखना चाहता है तो उसे हमारी बात तो छोडिये, तीर्थंकर सर्वज्ञ भी रोकने मे असमर्थ हैं । इससे अधिक हम और क्या लिखें । इति शम् ।